अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष

(EXISTENTIALISM—FOR AND AGAINST)

पॉल रुबिचेक

अनुवादक

डॉ० प्रभाकर माचवे

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष

Existentialism—For & Against by Paul Roubiczek

प्रकाशक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

९७, मालवीय नगर, भोपाल

संस्करण १९७३

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य १०-०० रु०

Published by Madhya Pradesh Hindi Granth Academy under the centrally sponsored scheme of production of books and literature in regional languages at the university level, of the Government of India in the Ministry of education and social welfare (Department of Culture) New Delhi

मुद्रक साधना प्रेस, लोहिया बाजार, ग्वालियर

3000 P-73

प्रस्तावना

विगत कुछ वर्षों मे दर्शन या चिन्तन अपने पूर्व-निश्चित दायरो से निकलकर यथार्थ और व्यवहार की ठोस भूमि पर आ खडा हुआ है। ऐसा दर्शन जो जीवन की वास्तविक समस्याओ का समाधान नही करता, चाहे कितना ही सूक्ष्म तथा गम्भीर क्यो न हो ग्राह्य नही माना जाता। बुद्धिवाद के युग मे कल्पना की ऊँची उडानो का जो महत्त्व था वह अब धीरे-धीरे समाप्त हो चला है। भारत मे शकराचार्य का दर्शन बुद्धिवादी चिन्तन की पराकाष्ठा है। इस प्रकार के यूरोपीय चिन्तन को पहला धक्का डार्विन और दूसरा नीट्त्से ने दिया। डार्विन ने मनुष्य को उसका असली रूप पहचानने को विवश किया। नीट्त्शे ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कोई वस्तु सत्य नही है और कोई भी चीज नियत या निरपेक्ष नही है। नीट्त्शे ने सभी परिपाटियो और पूर्वाग्रहो से हटकर बिना किसी पूर्वधारणा के जीवन का प्रत्यक्ष सामना करने का प्रयत्न किया। नीट्त्शे उन लोगो मे है जो यह मानते हैं कि मनुष्य महामानव या अतिमानव बनने के बदले पतन की ओर भी चला जाता है और वह फिर बन्दर या कोई अमानुषिक प्राणी बन सकता है। इस दिशा मे हक्सले का भी स्वतन्त्र योगदान है जिसने कहा कि मैं मनुष्य को देवता के स्थान पर ले जाना पसन्द नही करता। यद्यपि पहले भी ऐसा होता रहा है और अब भी हो रहा है।

इस धारा मे कीर्केगार्ड का नाम उल्लेखनीय है क्योकि उसी के साथ वर्त्तमान अस्तित्ववाद-सम्बन्धी मान्यता पूर्ण रूप ग्रहण करती दिखायी देती है। उसका

चिन्तन विभीषिका के सम्प्रत्यय से जनित है। उसका चिन्तन एक ऐसे व्यक्ति की अनुभूति है जिसके नीचे की जमीन खिसक गयी हो और जिसका ईश्वर पर से भी विश्वास उठ गया हो अर्थात् जो तर्कबुद्धि को एक ओर रखकर यह सोचे कि अब सब कुछ समाप्त हो जायगा। इस काल के चिन्तको ने निरपेक्ष नैतिकता पर भी कसकर प्रहार किये। यह सब कुछ सामयिक मन स्थिति का चिन्तन है, जहाँ क्षण का मूल्य है। द्वितीय महायुद्ध ने इस विभीषिका को और गहरा किया और बहुत से जर्मन और फ्रेन्च चिन्तक एक नया दर्शन लेकर सामने आये। इसे हम अस्तित्ववाद कहते है। यह जिजीविषा का सघर्ष है। शिक्षा, दर्शन, मनोविज्ञान और साहित्य मे इसे अस्तित्ववाद की सज्ञा मिली। प्रारम्भ मे इसके पक्ष और विपक्ष मे बहुत कुछ कहा गया, लिखा गया। पॉल रुबिचेक की पुस्तक एक्जिस्टेंशियलिज्म समस्या के उभय पक्षो पर प्रकाश डालती है। यह विषय की प्रामाणिक पुस्तको मे है इसीलिए जब डॉ० प्रभाकर माचवे कृत इसका हिन्दी अनुवाद सामने आया तो मुझे प्रसन्नता हुई। किन्तु अनुवाद को गहराई से देखने पर पता लगा कि यह काम लगभग दुबारा किया जाना आवश्यक है। अकादमी के प्रकाशन विभाग और ग्रन्थ के मुद्रक दोनो ने बडे परिश्रम और लगाव से इस ऊब देनेवाले कार्य को सम्पन्न किया है। निश्चय ही इस अनुवाद का रूप अपेक्षाकृत काफी निखर गया है।

मुझे हिन्दी भाषी पाठको के समक्ष यह पुस्तक प्रस्तुत करते हुए सन्तोष हो रहा है क्योकि हिन्दी मे इस विषय पर बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। यद्यपि बहुत से विश्वविद्यालयो मे यह विषय पाठ्यक्रम मे स्थान पा चुका है। इस पुस्तक से साहित्य, शिक्षा और दर्शन तीनो सकायो को लाभ होगा।

सचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भूमिका

यह पुस्तक दो पाठ्यक्रमो के लिए दिये गये व्याख्यानो पर आधारित है। एक का नाम था "आधुनिक दर्शन के कुछ पहलू" और दूसरे का "अस्तित्ववाद की ओर और उससे परे।" ये व्याख्यान कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पाठ्येत्तर अध्ययन मण्डल के तत्त्वावधान मे कैम्ब्रिज मे विश्वविद्यालय विस्तार भाषणमाला के अन्तर्गत दिये गये थे। ये व्याख्यान, पूरी तरह पुनर्लिखित किये गये हैं। उसमे लिखने और बोलने की शैली का अन्तर ध्यान मे रखा गया है। सामान्यत दार्शनिक व्याख्यानो के लिए आनेवाले श्रोताओ से अधिक व्यापक श्रोतामण्डली के लिए ये व्याख्यान उपयोगी और सहायक जान पडे, इसलिए मैंने इस नये रूप मे, बोले हुए शब्द का सीधा सादा रूप कही-कही रखा है। श्रोताओ मे सभी तरह के लोग थे नागरिक और अध्यापक, स्नातक-पूर्व कक्षावाले विद्यार्थी और स्नातक, वैज्ञानिक और अन्य।

इन व्याख्यानो के आयोजन के लिए मैं पाठ्येत्तर-अध्ययन मण्डल का आभारी हूँ, विशेषत मि० जॉन एण्ड्रयू का, जिनकी प्रेरणा से यह किया गया, और मि० आर० जे० एल० किंग्सफोर्ड का, जोकि विश्वविद्यालय प्रेस के सचिव थे। उन्होने ही इसे पुस्तक रूप देने को प्रोत्साहित किया।

मेरी अन्य पुस्तको मे से छोटे अशो का उपयोग करने की अनुमति देने की कृपा करने के लिए मेरे दो पूर्व प्रकाशको का मैं आभारी हूँ—डार्विन फिन्लेसन, लण्दन का "धर्म की ओर चिंतन" (थिंकिंग टुवर्ड्स रिलीजन) के लिए, और चार्ल्स स्क्रिवनेर्स सन्स, न्यूयार्क का "मनुष्य की गलत व्याख्या" (दि मिस—इन्टरप्रिटिशन ऑफ मैन)।

अन्त मे अपने मित्र रेनी पेन और डगलस हेविट को अपनी कृतज्ञता और धन्यवाद व्यक्त करना चाहता हूँ। उन्होने मेरी पाण्डुलिपि को बडी सावधानी से पढा और उसमे प्रस्तुतीकरण के रूप के बारे मे मूल्यवान सुझाव दिये।

पॉल रुबिचेक

क्लेर कॉलेज,
कैम्ब्रिज
एप्रिल, १९६४,

चिन्तन विभीषिका के सम्प्रत्यय से जनित है। उसका चिन्तन एक ऐसे व्यक्ति की अनुभूति है जिसके नीचे की जमीन खिसक गयी हो और जिसका ईश्वर पर से भी विश्वास उठ गया हो अर्थात् जो तर्कबुद्धि को एक ओर रखकर यह सोचे कि अब सब कुछ समाप्त हो जायगा। इस काल के चिन्तको ने निरपेक्ष नैतिकता पर भी कसकर प्रहार किये। यह सब कुछ सासयिक मन स्थिति का चिन्तन है, जहाँ क्षण का मूल्य है। द्वितीय महायुद्ध ने इस विभीषिका को और गहरा किया और बहुत से जर्मन और फ्रेन्च चिन्तक एक नया दर्शन लेकर सामने आये। इसे हम अस्तित्ववाद कहते हैं। यह जिजीविषा का सघर्ष है। शिक्षा, दर्शन, मनोविज्ञान और साहित्य मे इसे अस्तित्ववाद की सज्ञा मिली। प्रारम्भ मे इसके पक्ष और विपक्ष मे बहुत कुछ कहा गया, लिखा गया। पॉल रुबिचेक की पुस्तक एक्जिस्टेंशियलिज्म समस्या के उभय पक्षो पर प्रकाश डालती है। यह विषय की प्रामाणिक पुस्तको मे है इसीलिए जब डॉ० प्रभाकर माचवे कृत इसका हिन्दी अनुवाद सामने आया तो मुझे प्रसन्नता हुई। किन्तु अनुवाद को गहराई से देखने पर पता लगा कि यह काम लगभग दुवारा किया जाना आवश्यक है। अकादमी के प्रकाशन विभाग और ग्रन्थ के मुद्रक दोनो ने बडे परिश्रम और लगाव से इस ऊब देनेवाले कार्य को सम्पन्न किया है। निश्चय ही इस अनुवाद का रूप अपेक्षाकृत काफी निखर गया है।

मुझे हिन्दी भाषी पाठको के समक्ष यह पुस्तक प्रस्तुत करते हुए सन्तोष हो रहा है क्योकि हिन्दी मे इस विषय पर बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। यद्यपि बहुत से विश्वविद्यालयो मे यह विषय पाठ्यक्रम मे स्थान पा चुका है। इस पुस्तक से साहित्य, शिक्षा और दर्शन तीनो सकायो को लाभ होगा।

सचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भूमिका

यह पुस्तक दो पाठ्यक्रमो के लिए दिये गये व्याख्यानो पर आधारित है। एक का नाम था "आधुनिक दर्शन के कुछ पहलू" और दूसरे का "अस्तित्ववाद की ओर और उससे परे।" ये व्याख्यान कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पाठ्येत्तर अध्ययन मण्डल के तत्त्वावधान मे कैम्ब्रिज मे विश्वविद्यालय विस्तार भाषणमाला के अन्तर्गत दिये गये थे। ये व्याख्यान, पूरी तरह पुनर्लिखित किये गये हैं। उसमे लिखने और बोलने की शैली का अन्तर ध्यान मे रखा गया है। सामान्यत दार्शनिक व्याख्यानो के लिए आनेवाले श्रोताओ से अधिक व्यापक श्रोतामण्डली के लिए ये व्याख्यान उपयोगी और सहायक जान पडे, इसलिए मैंने इस नये रूप मे, बोले हुए शब्द का सीधा-सादा रूप कही-कही रखा है। श्रोताओ मे सभी तरह के लोग थे नागरिक और अध्यापक, स्नातक-पूर्व कक्षावाले विद्यार्थी और स्नातक, वैज्ञानिक और अन्य।

इन व्याख्यानो के आयोजन के लिए मैं पाठ्येत्तर-अध्ययन मण्डल का आभारी हूँ, विशेषत मि० जॉन एण्ड्रयू का, जिनकी प्रेरणा से यह किया गया, और मि० आर० जे० एल० किग्सफोर्ड का, जोकि विश्वविद्यालय प्रेस के सचिव थे। उन्होने ही इसे पुस्तक रूप देने को प्रोत्साहित किया।

मेरी अन्य पुस्तको मे से छोटे अशो का उपयोग करने की अनुमति देने की कृपा करने के लिए मेरे दो पूर्व प्रकाशको का मैं आभारी हूँ—डार्विन फिन्लेसन, लण्दन का "धर्म की ओर चितन" (थिंकिग टुवर्ड्स रिलीजन) के लिए, और चार्ल्स स्क्रिवनेर्स सन्स, न्यूयार्क का "मनुष्य की गलत व्याख्या" (दि मिस—इन्टरप्रिटिशन ऑफ मैन)।

अन्त मे अपने मित्र रेनी पेन और डगलस हेविट को अपनी कृतज्ञता और धन्यवाद व्यक्त करना चाहता हूँ। उन्होने मेरी पाण्डुलिपि को बडी सावधानी से पढा और उसमे प्रस्तुतीकरण के रूप के बारे मे मूल्यवान सुझाव दिये।

पॉल रुबिचेक

क्लेर कॉलेज,
कैम्ब्रिज
एप्रिल, १९६४,

सूची

अस्तित्ववाद की ओर

बुद्धिवाद के युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे ही अस्तित्ववाद के रूपो मे जन्म लेने वाले दर्शन की आवश्यकता को, कुछ हद तक, समझा जा सकता है, क्योकि उस बुद्धिवादी युग के दार्शनिको ने, जो अपने आपको बुद्धिवादी और विवेकवान मानने पर गर्व करते थे, एक विशेप रूप मे अपनी बात को कुछ वढा चटाकर व्यक्त किया। बुद्धि को मनुष्य की ऐसी सर्वोच्च शक्ति ही नही माना गया जो सव समस्याओ का समाधान करने मे समर्थ थी जो अन्त मे सम्पूर्ण सर्वमग्राहक ज्ञान प्राप्त करा देती है। परन्तु उमे ऐसा भी माना गया मानो वह पूर्णत निर्दोप और विध्यात्मक हो और इसलिए सृष्टि का सर्वोत्तम फल हो। दूमरे शब्दो मे तर्कवुद्धि या विवेक को ही निरपेक्ष माना गया।

यहाँ "निरपेक्ष" शब्द के सन्दर्भ के दो अर्थ होते हैं। पहले बुद्धि ही वास्तविकता का अन्तिम छोर है, वह अव्युत्पन्न और अन्य किसी भी प्रकार से नियत नही है और दूसरे बुद्धि की मामर्थ्य असीम है। इस प्रकार से, यद्यपि बुद्धि मे विश्वास ही अबुद्धिवादी हो जाता है, क्योकि सारे अनुभव से यह पता चलता है कि बुद्धि मानव स्वभाव का एक अश है, वह मानव स्वभाव से प्रभावित है, बुद्धि की शक्ति सीमित है और इमीलिए बुद्धि को अन्तिम नही माना जा सकता, न माना

जाना चाहिए। बुद्धि का यह हिमक, अविवेकपूर्ण मूलत अबुद्धिवादी दावा ही ऐसा था कि अब उसके बदले मे हिमक और अब खुले तौर पर अबुद्धिवादी प्रतिक्रिया अस्तित्ववाद के रूप मे सामने आयी है।

निरपेक्ष बुद्धिवाद मे विश्वास अबुद्धिवादी इसलिए है कि, जैसे मैंने कहा, सारा अनुभव यही दर्शाता है कि बुद्धि की शक्तियाँ बहुत सीमित हैं, और एक विशुद्ध तर्कयुक्त, विवेकवान, वैज्ञानिक विचार-पद्धति वास्तविकता के बहुत सीमित अश को ही प्रकाशित कर पाती है। मैं अर्थ को स्पष्ट करूँ तो मुझे पदार्थ-विज्ञान के कुछ पक्षो से उदाहरण लेने होगे। बुद्धिवाद के युग का सबसे प्रत्यक्ष और परिणामकारी फल वही है। इसीलिए बुद्धिवाद के युग को न्यूटन का युग कहा गया। उस अत्यन्त आशावादी युग की सबसे आशावादी आकाक्षाओ से भी परे आज विज्ञान की सफलता अवश्य पहुँच चुकी है। परन्तु क्या विज्ञान ने बुद्धि की शक्ति को सीमाहीन और सब समस्याओ का समाधान करने को समर्थ मिद्ध किया है ?

सारे प्राकृतिक विज्ञानो मे पदार्थ विज्ञान शायद सबसे आगे बढा हुआ माना जाता है। आधुनिक पदार्थ वैज्ञानिको ने वास्तविकता के पीछे या परे और एक वास्तविकता खोज ली है, जिसका साक्षात्कार हमे करना पड रहा है। यह वास्तविकता कई लोग जिसे अन्तिम मानते है भिन्न प्रकार की है। इस "निरपेक्ष वास्तविकता," से वे कुछ दत्त सामग्री निष्कर्ष रूप मे निकाल सकते है, उदाहरणार्थ क्वातुम्–सिद्धान्त जिस पर आधारित है उस प्रक्रिया का मूलभूत क्वातुम यानी, उदाहरण के लिए उन्होने यह खोजा कि किसी परमाणु से ऊर्जा, चाहे वैसी मात्रा मे बाहर नही फेकी जाती, उसका एक न्यूनतम क्वातुम होता है, और जो भी शक्ति का परिमाण विकीरित हो वह उस न्यूनतम क्वातुम का ही गुणनयोग्य अश होता है। यह तथ्य, स्पष्टत तर्क-बुद्धि से परे है। ऐसी सीमाएँ क्यो होनी चाहिए ? पदार्थ वैज्ञानिक को यह मानना होगा कि एक ऐसी वास्तविकता है कि जिसका पता तो लगता है पर जो समझी नही जा सकती, या जैसे कि हाइजेनवर्ग ने कहा था कि ऐसा सब ज्ञान "एक अगाध गहराई के ऊपर पुल की तरह झूल रहा है।"[1]

न तो जीव विज्ञान ही इस मामले मे सहायक होगा। विकासवाद और जीन की खोज से आगिक जगत् को समझने मे काफी सहायता मिली है। किन्तु डार्विन को लमार्क के विकासवाद को अस्वीकार करना पडा और इसका अर्थ

यह हुआ कि बुद्धिवाद को अबुद्धिवाद के समक्ष एक बार फिर घुटने टेकना पडा। लमार्क का दावा था कि जीव नवीन प्रतिवशो और नवीन जीवन-निर्वाह परिस्थितियो मे धीरे-धीरे अपने को उनके अनकूल बनाते है, और जिन प्राप्त विशेषताओ के कारण प्राणी सुन्दरतर जीवन व्यतीत करने मे समर्थ होता है, वे वशागत होती हैं और इनसे नवीन जातियो (स्पीशीज) का उद्भव होता है। ऐसी प्रक्रिया बोधगम्य तो होती है किन्तु डार्विन ने बाध्य होकर इसे अस्वीकार किया, क्योकि उसे इस बात का कोई प्रमाण नही मिल सका कि प्राप्त विशेषताएँ वास्तविक रूप से वशागत होती हैं। इसके स्थान पर अब तो विकासवाद का आधार उत्परिवर्तन माना जाता है, जिसका अर्थ होता है जीवो मे अव्याख्येय रूप से आकस्मिक परिवर्त्तन होना। और इस प्रकार जो कुछ नवीन विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं, वे अविरत जीवन मे लाभदायक सिद्ध होती है, और जीवित रहने के लिए साघातिक सघर्ष होता है, अत जिन व्यक्तियो मे वे विशेषताएँ होती हैं, वे जीने के योग्य हो जाते हैं और चूँकि वे जीवित रहते है, अत नवीन विशेषताएँ उत्तराधिकार मे प्राप्त करते हैं, और नवीन जातियाँ उत्पन्न होती है। परन्तु यह धारणा सम्पूर्णत अबुद्धिवादी है, क्योकि किसी भी विवेकपूर्ण या बुद्धिवादी उपागम से हम यह समझने मे समर्थ नही हो सकते कि विवेक शून्य शक्तियो और आकस्मिक गुणो से ही क्यो उत्परिवर्तन होते है, जिनसे प्राकृतिक वरण सम्भव होता है, और जीव-जन्तुओ-पौधो, पशुओ और मनुष्यो के अपूर्व भण्डार का निर्माण होता है, सिर्फ यह दावा करना कि अव्यवस्था किसी प्रकार से व्यवस्था का रूप ले लेती है, हमारी बुद्धि मे आने वाली बात नही है। क्या हम इस बात की कल्पना कर सकते है कि अगर हमने बहुत दिन पहले, करोडो वर्ष पहले, वर्णमाला के अक्षरो को ताश की तरह फेंट दिया होता तो भी क्या हम कभी "हैमलेट" निर्माण कर सकते ? अगर हम कर भी सकते—ऐसी गणनाएँ है जो इसे सिद्ध करती हुई प्रतीत होती हैं -तो यह तो निश्चित है कि हम यह सिद्ध नही कर सकते कि ऐसा नाटक कभी कैसे लिखा गया। फिर भी, मानव-निर्माण का श्रेय जीन परिवर्तन को दिया जाता है। सच तो यह है कि व्यवस्था की उत्पत्ति किसी ऐसी शक्ति से ही हो सकती है, जिसका उद्देश्य व्यवस्था हो, किसी ऐसे तत्त्व से हो सकती है जो किसी व्यवस्थित प्रक्रिया के सगठन की ओर अग्रसर करता हो। किन्तु अधिकाश जीव-विज्ञानवेत्ता हमे इस

बात से सचेत करते है कि विकास का वर्णन करते समय हम "उद्देश्य" शब्द का प्रयोग न करें।*

आधुनिक मनोविज्ञान मे, अवचेतन या अचेतन की महान खोज से हमे इस सही बात की जानकारी हो गयी है कि मानवीय कार्यो का निर्धारण न केवल उन उद्देश्यो और आवेगो से होता है जिनसे हम अवगत रहते है, प्रत्युत् अधिक शक्तिशाली ढग से उन अन्त प्रेरणाओ, मूल प्रवृत्तियो, सस्कारो, जैविक तत्त्वो तथा बचपन की अनुभूतियो से होता है, जिनसे हम अवगत नही रहते है। ये हमारे अवचेतन मे अन्तःस्थापित रहते हैं और इनकी पूर्ण रूप से जानकारी तब तक नही हो सकती है जब तक कठिन प्रक्रियाओ द्वारा उन्हे सतह पर न लाया जाये, और तब भी अवचेतन के बारे मे हमारी जानकारी थोडी ही होती है। परन्तु, स्पष्ट रूप से, चेतना तर्कबुद्धि का आधार है, इसके बिना तर्कबुद्धि असम्भव है। अत अगर हम अचेतन की सत्ता को स्वीकार करते है तो हम साथ ही साथ इस बात को भी स्वीकार कर लेते है कि तर्कबुद्धि की सीमाएँ है। तर्कबुद्धि की यह सीमा सम्भवत सबसे अधिक निर्णायक है, क्योकि तर्कबुद्धि-युग और इसका प्रभाव चेतना के साथ मानव के तादात्म्य पर आधारित है, अगर अचेतन की यथार्थ शक्ति है—जैसा कि अब इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही—तो तर्कबुद्धि निरपेक्ष नही हो सकती।

इन बातो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो सम्भवत यह है कि चूँकि विज्ञान अवैयक्तिक है, अत वैयक्तिक अनुभूति को जानने मे हमे इससे सहायता नही मिल सकती। यहाँ हम उन समस्याओ के निकट पहुँचते है, जिनके साथ अस्तित्ववाद का सम्बन्ध है और उन कारणो को हम देख सकते हैं, जिनसे इस प्रकार के दर्शन का विकास हुआ।

प्राकृतिक विज्ञान मे, गुण को घटाकर परिमाण कर दिया गया है, इससे उस मानव प्रेक्षक पर निर्भरता कम हो गयी है, जो कभी भी पूर्ण रूप से विश्वसनीय नही

---

* "उद्देश्य एक मनोवैज्ञानिक शब्द है, और उद्देश्य को किसी प्रक्रिया पर आरोपित करना, क्योकि इसके परिणाम किसी वास्तविक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया के परिणामो से कुछ मिलते-जुलते है, न्यायोचित नही है, और यह केवल प्रकृति के विधान पर अपने विचारो का प्रक्षेपण करना है।" जूलियन हक्सले, "एसेज आफ ए बायोलोजिस्ट", लदन १९२३, पृ० १७३।

है, और उसके स्थान पर प्रयोगो, उपकरणो और फोटो-प्लेटो द्वारा तोलने और मापने की अधिक विश्वसनीय विधि प्रतिस्थापित करना सम्भव हुआ है। दूसरे शब्दो मे वैज्ञानिक विधि को उतना ही वस्तुनिष्ठ बना दिया गया है, जितना मनुष्य की शक्ति से सम्भव है। हो सकता है कि स्वय वैज्ञानिक, वह जो कुछ कर रहा है, उसमे भावपूर्ण रूप से रुचि रखता हो, किन्तु उसके सिद्धान्तो को तभी स्वीकार किया जाता है, जब वे अवैयक्तिक प्रेक्षण और प्रयोग की कसौटी पर खरे उतरे, इनमे उसकी भावनाओ का कोई स्थान नही होना चाहिए। साथ ही, यह विधि नियतत्त्ववाद पर आधारित है, अर्थात् कारण-कार्य के नियत सम्बन्ध की स्थापना पर आधारित है, यह एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसमे व्यावहारिक कार्यो पर विचार करते समय भी हम विश्वास करते हैं, हम उन पर कुशलता से विचार कर सकते है, क्योकि हम यह मानने मे समर्थ होते हैं कि अमुक कारणो से अमुक कार्य अवश्य उत्पन्न होगे। यह सत्य है कि आधुनिक भौतिक विज्ञान मे कारणता के स्थान पर प्रसम्भाव्यता रखा गया है, किन्तु व्यावहारिक उद्देश्यो की पक्ति मे इससे थोडा ही अन्तर पडता है। परमाणु रिएक्टर को जिसका निर्माण प्रसम्भाव्यता कलन पर आधारित है, उसी यथातथ्य रूप से काम करना चाहिए, जिस रूप मे किसी इजन का निर्माण प्रतिष्ठित भौतिक विज्ञान के आधार पर होता है। यद्यपि कुछ भौतिक विज्ञानी (और सम्भवत कुछ जीव विज्ञानी भी) इसे अब स्वीकार नही करते, फिर भी वैज्ञानिक विधि मौलिक रूप से निश्चित रह ही जाती है, यह एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ कारणता क्रियाशील अब प्रतीत नही होती, फिर भी इसकी सहायता से यह क्षेत्र अभिगम्य तो बना ही दिया जाता है।*

किन्तु इसी आधार पर हम अपनी अनुभूतियो के साथ सम्भवत न्याय नही कर सकते, अपने वैयक्तिक जीवन मे नियतत्त्ववाद को इस रूप मे हमारे लिए स्वीकार करना असम्भव है कि यह कारण कार्य की व्याख्या करने वाला एक-मात्र सिद्धान्त है। क्या हम वास्तविक रूप से सकल्प-स्वातन्त्र्य अपनी वरण, निर्णय, कार्य की स्वतन्त्रता-को अस्वीकार कर सकते है? क्या इसके लिए हम अपने को उत्तरदायी नही समझते? उत्तरदायित्व समझना हमारी आधारभूत अनुभूतियो

---

* "हम मापो के परिणामो से प्रेक्षित वस्तु के गुणधर्मों का अनुमान नही लगा सकते, अगर कारण-नियम से इस बात का आश्वासन न मिला होता कि इन दोनो में स्पष्ट सम्बन्ध है।" डब्ल्यू० हाइजेनबर्ग, ''फिलासोफिक प्राब्लम्स आफ न्यूक्लियर साइस," पृ० २०

मे एक है और अस्तित्ववाद हमे यह सिखलायेगा कि अनुभूति को प्रमाण के रूप मे हमे स्वीकार करना होगा, क्योकि अगर हम इस बात को स्वीकार नही करते कि हम शुभ और अशुभ, सत् और असत् का स्वतन्त्र रूप से वरण करने मे समर्थ हैं, हम अपने कार्यो के लिए उत्तरदायी नही होते, और इस प्रकार हम जो अनुभव करते है, उसे समझने मे असमर्थ रह जाते है। केवल वस्तुनिष्ठ रूप से सोचने से अनुभूतियो के सम्बन्ध मे विचार करने मे हमे सहायता नही मिल सकती, अवैयक्तिक रूप से वर्णित अनुभूतियाँ समझी नही जा सकती। अगर, उदाहरण के लिए, हमारे सामने शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक रूप से पीडा की यथातथ्य वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत कर भी दी जाये जिसमे हमारे शरीर मे घटने वाली समस्त प्रक्रियाएँ और तन्त्रिका प्रतिक्रियाएँ शामिल हो, तो भी हमे वास्तविक रूप से पीडा की जानकारी नही होगी जब तक कि हमे इसकी अनुभूति प्राप्त न हो। और न हमे बाह्य-विचारण (विचार करने की एक रीति अर्थात् जो वस्तुनिष्ठ रूप मे बाहर से प्रत्येक वस्तु के निकट पहुँचता है) विश्वसनीय मूल्य ज्ञान प्रस्तुत करने में समर्थ होगा, या इससे मूल्यो को समझने मे ही सहायता मिलेगी, यह न तो उस चरम सत्य पर विचार कर सकता है जो हमारे दृढ विश्वासो का आधार है, न कि शुभत्व या सौन्दर्य पर। क्योकि वैज्ञानिक ज्ञान को एकमात्र ज्ञान के रूप मे स्वीकार करने से ही वैयक्तिक निर्णय की आवश्यकता पड जाती है। नैतिकता बाहर ही रह जाती है, क्योकि जैसा मैंने अभी कहा है, वरण और निर्णय की स्वतन्त्रता के बिना हम अपने कार्यो के प्रति उत्तरदायी नही होते और शुभत्व और नैतिकता का सम्पूर्ण सप्रत्ययन ध्वस्त हो जाता है। अगर मैं उत्तरदायी नही हूँ तो हत्या एक तथ्य मात्र रह जाती है जिसे उस समय तो रोकना चाहिए जब यह समाज के लिए हानिकर हो किन्तु जब यह समाज के लिए लाभदायक हो तो इसका प्रयोग करना चाहिए, किन्तु इसे अपराध या पाप नही मानना चाहिए। यह कोई सैद्धान्तिक कथन नही है, सभी सर्वसत्तात्मक राज्य इस सिद्धान्त का पालन करते है, यह हमारे युग मे वास्तविक, भयानक कार्यों का आधार हो गया है।

जब तक बाह्य-विचारण को ही काम मे लाया जाता है, अनुभवातीत सत्ता भी अगम्य रह जाती है, क्योकि किसी भी मौलिक सन्दर्भ मे "क्यो" प्रश्न का कभी उत्तर नही दिया जा सकता। हत्या क्यो होती है क्रान्तियाँ क्यो होती है या रोप के स्थिर आधार क्यो है, मनुष्य का अस्तित्व क्यो है ? हम नही जानते है, और न हम यही जानते है कि भौतिक

द्रव्य, तारे, पृथ्वी क्यों हैं, और न हम यह जानते है, जो सम्भवत अधिक महत्त्वपूर्ण है कि हम जन्म क्यो लेते हैं और फिर मरते क्यो हैं, क्यो हम किसी क्षण मर सकते है और क्यो हम आज या कल मर जायेगे। या जैसाकि अल्बर्ट कामू ने कहा है हम सब यहाँ क्यो है, केवल मरने के लिए ? फिर भी ये सारे प्रश्न, जब हमारी वैयक्तिक अनुभूतियो मे आते है तो किसी व्यापक आध्यात्मिक सत्ता की ओर सकेत करते हैं। हो सकता है कि इन प्रश्नो का उत्तर देने मे हम कभी समर्थ नही हो सकें किन्तु, हम कम से कम, अर्थ देने की इच्छा से उत्तर ढूंढ निकालना चाहते है। हम विश्वास कर सकते है कि सब कुछ निरर्थक है—फिर भी अर्थ की खोज करना, हमारे प्रतीयमान निरर्थक जीवन का अनिवार्य अग रहता ही है। क्योकि हमारी अनेक अनुभूतियो मे, प्रकृति का, मानव प्रकृति का, कलाकृतियो मे, साहित्यो मे, या ज्ञान या धर्म की पुस्तको मे अर्थ है और इस प्रकार अर्थ पाने का अन्त प्रेरण इतना शक्तिशाली है कि यह हमारे स्वभाव का एक अग है. यह एक सुस्पष्ट अनुभूति है। एक बार फिर हमे इस निष्कर्ष पर आना पड रहा है कि तर्कबुद्धि निरपेक्ष नही है, यह सीमित है, निरपेक्ष तर्कबुद्धि मे विश्वास रखना अबुद्धिवादी है—और हमे एक ऐसी विचारण-पद्धति खोज निकालनी है जो इन वास्तविक अनुभूतियो के सम्बन्ध मे विचार करने मे सहायता प्रदान कर सके।

निस्सन्देह हम यह भी पूछ सकते थे क्या इन अनुभूतियो मूल्य, स्वतन्त्रता, देवत्व—के सम्बन्ध मे तर्कनापरक या विवेकशील रूप से विचार किया जा सकता है ? इनके सम्बन्ध मे विचार तो किया जा सकता है, किन्तु तब तर्कबुद्धि न तो निरपेक्ष है न सर्वग्राही। इन सब अनुभूतियो मे एक ऐसी वस्तु के स्वीकरण की अपेक्षा होती है, जो तर्कबुद्धि के परे हो—इनमे उन सीमाओ को स्वीकार किया जाता है, जिन्हे हमारी मानवीय प्रकृति निश्चित करती है, उन निरपेक्ष मूल्यो को स्वीकार किया जाता है जो न तो तर्कबुद्धि से प्राप्त किए जा सकते है न वैज्ञानिक विधि से सिद्ध किए जा सकते हैं, एक ऐसी अनुभवातीत सत्ता को स्वीकार किया जाता है जिसकी परिभाषा यह है कि वह अनन्त रूप मे तर्कबुद्धि के परे हो। सक्षेप मे, तर्कबुद्धि का प्रभुत्व नही होना चाहिए, उसे सहायक होना चाहिए।

यह एक विशिष्टता है, जो अस्तित्ववाद के लिए दूसरा औचित्य प्रस्तुत करती है। अब तक हमने जिस मत के सम्बन्ध मे विचार किया वह यह है कि

मे एक है और अस्तित्ववाद हमे यह सिखलायेगा कि अनुभूति को प्रमाण के रूप मे हमे स्वीकार करना होगा, क्योकि अगर हम इस बात को स्वीकार नही करते कि हम शुभ और अशुभ, सत् और असत् का स्वतन्त्र रूप से वरण करने मे समर्थ हैं, हम अपने कार्यो के लिए उत्तरदायी नही होते, और इस प्रकार हम जो अनुभव करते है, उसे समझने मे असमर्थ रह जाते हैं। केवल वस्तुनिष्ठ रूप से सोचने से अनुभूतियो के सम्बन्ध मे विचार करने मे हमे सहायता नही मिल सकती, अवैयक्तिक रूप से वर्णित अनुभूतियाँ समझी नही जा सकती। अगर, उदाहरण के लिए, हमारे सामने शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक रूप से पीडा की यथातथ्य वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत कर भी दी जाये जिसमे हमारे शरीर मे घटने वाली समस्त प्रक्रियाएँ और तन्त्रिका प्रतिक्रियाएं शामिल हो, तो भी हमे वास्तविक रूप से पीडा की जानकारी नही होगी जब तक कि हमे इसकी अनुभूति प्राप्त न हो। और न हमे बाह्य-विचारण (विचार करने की एक रीति अर्थात् जो वस्तुनिष्ठ रूप मे बाहर से प्रत्येक वस्तु के निकट पहुँचता है) विश्वसनीय मूल्य ज्ञान प्रस्तुत करने मे समर्थ होगा, या इससे मूल्यो को समझने मे ही सहायता मिलेगी, यह न तो उस चरम सत्य पर विचार कर सकता है जो हमारे दृढ विश्वासो का आधार है, न कि शुभत्व या सौन्दर्य पर। क्योकि वैज्ञानिक ज्ञान को एकमात्र ज्ञान के रूप मे स्वीकार करने से ही वैयक्तिक निर्णय की आवश्यकता पड जाती है। नैतिकता बाहर ही रह जाती है, क्योकि जैसा मैंने अभी कहा है, वरण और निर्णय की स्वतन्त्रता के बिना हम अपने कार्यो के प्रति उत्तरदायी नही होते और शुभत्व और नैतिकता का सम्पूर्ण सप्रत्ययन ध्वस्त हो जाता है। अगर मैं उत्तरदायी नही हूँ तो हत्या एक तथ्य मात्र रह जाती है जिसे उस समय तो रोकना चाहिए जब यह समाज के लिए हानिकर हो किन्तु जब यह समाज के लिए लाभदायक हो तो इसका प्रयोग करना चाहिए, किन्तु इसे अपराध या पाप नही मानना चाहिए। यह कोई सैद्धान्तिक कथन नहीं है, सभी सर्वसत्तात्मक राज्य इस सिद्धान्त का पालन करते है, यह हमारे युग मे वास्तविक, भयानक कार्यो का आधार हो गया है।

जब तक बाह्य-विचारण को ही काम मे लाया जाता है, अनुभवातीत सत्ता भी अगम्य रह जाती है, क्योकि किसी भी मौलिक सन्दर्भ मे "क्यो" प्रश्न का कभी उत्तर नही दिया जा सकता। हत्या क्यो होती है क्रान्तियाँ क्यो होती है या रोप के स्थिर आधार क्यो हैं, मनुष्य का अस्तित्व क्यो है ? हम नही जानते हैं, और न हम यही जानते है कि भौतिक

द्रव्य, तारे, पृथ्वी क्यो हैं, और न हम यह जानते है, जो सम्भवत अधिक महत्त्वपूर्ण है कि हम जन्म क्यो लेते हैं और फिर मरते क्यो हैं, क्यो हम किसी क्षण मर सकते है और क्यो हम आज या कल मर जायेंगे। या जैसाकि अल्बर्ट कामू ने कहा है हम सब यहाँ क्यो हैं, केवल मरने के लिए ? फिर भी ये सारे प्रश्न, जब हमारी वैयक्तिक अनुभूतियो मे आते है तो किसी व्यापक आध्यात्मिक सत्ता की ओर सकेत करते हैं। हो सकता है कि इन प्रश्नो का उत्तर देने मे हम कभी समर्थ नही हो सकें किन्तु, हम कम से कम, अर्थ देने की इच्छा से उत्तर ढूंढ निकालना चाहते है। हम विश्वास कर सकते है कि सब कुछ निरर्थक है—फिर भी अर्थ की खोज करना, हमारे प्रतीयमान निरर्थक जीवन का अनिवार्य अग रहता ही है। क्योकि हमारी अनेक अनुभूतियो मे, प्रकृति का, मानव प्रकृति का, कलाकृतियो मे, साहित्यो मे, या ज्ञान या धर्म की पुस्तको मे अर्थ है और इस प्रकार अर्थ पाने का अन्त प्रेरण इतना शक्तिशाली है कि यह हमारे स्वभाव का एक अग है, यह एक सुस्पष्ट अनुभूति है। एक बार फिर हमे इस निष्कर्ष पर आना पड रहा है कि तर्कबुद्धि निरपेक्ष नही है, यह सीमित है, निरपेक्ष तर्कबुद्धि मे विश्वास रखना अबुद्धिवादी है—और हमे एक ऐसी विचारण-पद्धति खोज निकालनी है जो इन वास्तविक अनुभूतियो के सम्बन्ध मे विचार करने मे सहायता प्रदान कर सके।

निस्सन्देह हम यह भी पूछ सकते थे क्या इन अनुभूतियो मूल्य, स्वतन्त्रता, देवत्व—के सम्बन्ध मे तर्कनापरक या विवेकशील रूप से विचार किया जा सकता है ? इनके सम्बन्ध मे विचार तो किया जा सकता है, किन्तु तब तर्कबुद्धि न तो निरपेक्ष है न सर्वग्राही। इन सब अनुभूतियो मे एक ऐसी वस्तु के स्वीकरण की अपेक्षा होती है, जो तर्कबुद्धि के परे हो—इनमे उन सीमाओ को स्वीकार किया जाता है, जिन्हें हमारी मानवीय प्रकृति निश्चित करती है, उन निरपेक्ष मूल्यो को स्वीकार किया जाता है जो न तो तर्कबुद्धि से प्राप्त किए जा सकते है न वैज्ञानिक विधि से सिद्ध किए जा सकते हैं, एक ऐसी अनुभवातीत सत्ता को स्वीकार किया जाता है जिसकी परिभाषा यह है कि वह अनन्त रूप मे तर्कबुद्धि के परे हो। सक्षेप में, तर्कबुद्धि का प्रभुत्व नही होना चाहिए, उसे सहायक होना चाहिए।

यह एक विशिष्टता है, जो अस्तित्ववाद के लिए दूसरा औचित्य प्रस्तुत करती है। अब तक हमने जिस मत के सम्बन्ध मे विचार किया वह यह है कि

तर्कबुद्धि निरपेक्ष है और इस प्रकार प्रत्येक वस्तु पर इसका प्रभुत्व होता है और यह हमारे समस्त ज्ञान का स्रोत है। किन्तु इसके विपरीत मत भी है, जिसे अस्वीकार करना कठिन होगा कि तर्कबुद्धि किसी ऐसी अन्य वस्तु के स्पष्टीकरण मे भी सहायक हो सकती है, जिसे पहले स्वीकार करना है और उसके बाद तर्कबुद्धि को प्रयोग मे लाना है। सम्भवत धर्मशास्त्र और दर्शन के अन्तर को समझ लेने से इस अन्तर की सबसे अच्छी व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है, क्योकि तर्क-बुद्धि का युग मुख्य रूप मे, धर्मशास्त्र की विशिष्ट मध्युगीन प्रधानता के विरुद्ध विद्रोह का था। धर्मशास्त्र का यह अर्थ होता है कि हम प्रदत्त सत्य से आरम्भ करते है, ईश्वरपरक विचारण से एक ऐसे सत्य का अर्थ लगाने, उसकी व्याख्या करने और बोधगम्य बनाने मे सहायता मिलती है, जिसे सबसे पहले स्वीकार किया जाता है। दर्शन शास्त्र का आरम्भ कम से कम परिकल्पनाओ से होना चाहिए और उसे हमे इस बात का पता लगाने मे सहायता देनी चाहिए कि सत्य क्या है, इसलिए कि सत्य लक्ष्य है, आरम्भ-बिन्दु नही। चूंकि तर्कबुद्धि-युग धर्मशास्त्र के विरुद्ध प्रतिक्रिया का युग था, इसके दार्शनिको ने सभी पूर्वमान्यताओ का बहिष्कार किया अत बाह्य, व्यावहारिक, वैज्ञानिक विचारण, तर्कबुद्धि का प्रयोग करने के लिए उचित मार्ग प्रतीत हुआ। इसी रूप मे तर्कबुद्धि पूर्णरूप से स्वतन्त्र समझी जा सकी, विज्ञान मे जो अपरिमित प्रगति हुई है, उसका एकमात्र आधार बुद्धि, अर्थात् तर्कनापरक एव गणितीय विचारण है, और इसकी आत्मनिर्भरता की पुष्टि इसकी विशाल तकनीकी उपलब्धियो से हो जाती है। किन्तु इससे एक स्पष्ट प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी पूर्वमान्यता के बिना आरम्भ करना सम्भव है ?

वैज्ञानिको के लिए भी पूर्वमान्यताएँ है। विचार करने वाला ही विचार करता है, जानने वाला ही जानता है, और वह विचार करने और जानने मे इसलिए समर्थ होता है कि वह विज्ञान मे भौतिक सत्ता से आरम्भ करता है, वह इस बात को अस्वीकार नही करता कि इस प्रकार की सत्ता है, वह इसे स्वीकार करता है और इसका अन्वेषण करता है। फिर भी, विज्ञान मे इन पूर्वमान्यताओ को आसानी से भूल सकते है, क्योकि इसके विशुद्ध वस्तुनिष्ठ परिणामो मे सम्पूर्ण बाह्य-जगत् समाविष्ट है तथा शिल्पविज्ञान के चमत्कार निहित हैं। फिर भी जिसे वास्तविक रूप से स्वीकार किया जाता है, उसे भूलना खतरनाक है, अस्तित्ववाद मे यह खतरा, दूसरे रूप मे फिर सामने आता

क्योंकि इस प्रकार मनुष्य का क्षेत्र विलीन हो जाता है। हमे धर्मशास्त्र के विरुद्ध प्रतिक्रिया नही चाहिए, हमे तो एक ऐसा दर्शन चाहिए जो अपनी सही पूर्व-मान्यता से आरम्भ हो। चूंकि मानव प्राणी के रूप मे हमारा अस्तित्व एक भौतिक जगत् मे है, अत हम इस जगत् और अपने को तभी समझ सकते हैं, जब प्रदत्त तथ्यो से हम आरम्भ करें।

किन्तु तर्कबुद्धि का युग, जैसाकि मैंने कहा है, ऐसी किसी चीज पर ध्यान नही देता जो तर्कबुद्धि के क्षेत्र को सीमित करे, मनुष्य का लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना होता है, अत ज्ञाता पर कम से कम ध्यान देता है। इस युग का एकमात्र विरोधी पास्कल व्यर्थ मे अपना उद्गार प्रकट करते हुए कहता है कि "तर्कबुद्धि का अन्तिम कार्य यह है कि वह इस बात को मान्यता दे कि इसके परे असीम मात्रा मे वस्तुएँ हैं। किन्तु अगर प्राकृतिक वस्तुएँ इसके परे हैं, तो अतिप्राकृतिक वस्तुओ के सम्बन्ध मे क्या कहा जायेगा?"[1] दकार्त की अभ्युक्ति-"कोजिटो अर्गो सम" अर्थात् "मैं विचार करता हूँ अत मैं हूँ"—हमारे अस्तित्व के प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत की जाती है, किन्तु इस प्रमाण से केवल अमूर्त चिन्तन की प्रधानता का पता चलता है। आजकल हम देखते हैं कि पास्कल ठीक था, अस्तित्ववाद के पूर्ववर्त्तियो मे एक हेमेन के स्वर के साथ स्वर मिलाते हुए, निश्चय रूप से हमे इस कथन को अधिमान देना चाहिए—एस्ट, अर्गो कोजिटो या दकार्त की अभ्युक्ति का प्रतिलोम, "मैं हूँ, अत मे विचार करता हूँ", परन्तु इस प्रकार के कथन का यह अर्थ निकलता है मानव प्रकृति और इसकी सीमाओ को स्वीकार करना। अगर मैं अपने भाव से आरम्भ करता हूँ तो मैं देखता हूँ कि तर्कबुद्धि इसका अग है, अगर मैं मानव प्रकृति को स्वीकार करता हूँ तो मैं इस बात की आशा नही कर सकता हूँ कि तर्कबुद्धि सभी समस्याओ का हल निकाल सकती है, और यही बात है जिसे वह युग नही मानना चाहता। एक ओर पास्कल हमे इस बात से अवगत कराता है कि उस समय किसी भी अभ्यतर ज्ञान की स्थिति कितना सन्दिग्ध हो गयी है, जब तर्कबुद्धि की इन सीमाओ के बावजूद अपनी आस्था का समर्थन करने के लिए, वह बाजी लगाने का प्रस्ताव रखता है। वह तुममे इस बात के लिए बाजी लगाने के लिए कहता है कि ईश्वर नही है और वह इस बात के लिए भी तुमसे बाजी लगाने के लिए कहता है कि कोई ईश्वर है, उसका दावा है कि ऐसा करने से तुम्हे कुछ नही खोना पडेगा चाहे तो तुम जीत जाते हो या अगर हार जाते हो तो तुम ईश्वर की खोज कर लेते हो, जिसकी अद्भुत अनुभूति से तुम्हारा जीवन समृद्ध बनेगा।

आस्था का समर्थन करने का एक सन्दिग्ध तरीका ! किन्तु दूसरी ओर इस बाजी का कुछ दूसरा भी अर्थ होता है, और इसके साथ ही हम अनजाने अस्तित्ववाद के मध्य मे पहुँच जाते हैं, पास्कल ही प्रथम दार्शनिक है, जिसे वास्तव मे अस्तित्ववादियो का पूर्ववर्त्ती कहा जा सकता है । वह बाजी के रूप का प्रयोग यह दिखलाने के लिए करता है कि हमे इस बात के लिए वचनबद्ध हो जाना चाहिए कि हम इस प्रश्न पर केवल वस्तुनिष्ठ रूप से विचार नही कर सकते, क्योंकि आभ्यन्तर अनुभूति के साथ इसका अन्त सम्बन्ध है । हम आस्था के सम्बन्ध मे सार्थक रूप से तभी विचार विमर्श कर सकते है अगर हम सम्मिलित हो, अगर आभ्यन्तर सहयोग हो, अगर हमारी भावना सक्रिय हो ।

उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे कीर्केगार्ड को और भी आगे जाना पडा, क्योंकि परम तर्कबुद्धि मे विश्वास रखना, यूरोपीय विचारधारा का मुख्य तत्त्व रहा है । अपनी आस्था और एक "नैतिक आत्मा" मे अपने विश्वास का समर्थन करने के लिए, "परम विरोधाभास" का प्रस्ताव रखने के सिवा और उसके सामने कोई चारा भी नही था । इसका अर्थ यह होता है अगर हम मूल्यो, नैतिकता और धर्म के क्षेत्र की अनुभूति प्राप्त करना और उन्हे समझना चाहते है तो तर्कबुद्धि का पूर्ण रूप से परित्याग करना होगा । उदाहरण के लिए, परम विरोधाभास का अर्थ यह होता है कि उसके लिए ईसाई धर्म असगत धर्म है क्योकि कोई भी व्यक्ति, जो केवल तर्कबुद्धि मे विश्वास करता है, इस बात को समझ सकेगा कि ईश्वर मनुष्य हो गया और सबसे निर्धन मनुष्य के रूप मे उसे प्राणदण्ड दिया गया, लेकिन चूँकि यह असगत बात है अत उसका विश्वास है कि ईसाई धर्म सबसे अच्छा धर्म है, क्योकि इस आस्था को ग्रहण करने मे समर्थ होने के लिए, दृढ विश्वास और भावना की समस्त शक्तियो का हमे प्रयोग करना चाहिए । हमे इसे ग्रहण करना है, जिसे वह अज्ञात मे छलाँग मारने, अगाध मे कूद लगाने की सज्ञा देता है । चूँकि हम तर्कबुद्धि पर भरोसा नही रख सकते, अत हम किसी को, अपने को भी विश्वास करने के लिए बाध्य नही कर सकते, किन्तु एक काम तो हम कर सकते है और हमे करना भी चाहिए कि हम एक जोखिम उठाएँ अर्थात् हम तर्कनापरक विचारण के, वैज्ञानिक तर्कना के समस्त परिणामो का परित्याग करें, और उस आभ्यन्तर वाणी के प्रति हम अपने को अभ्यर्पित कर दे जो हमे यह बतलाती है कि एक भिन्न सत्ता है, भिन्न प्रकार का, अनुभवातीत तर्कबुद्धि का क्षेत्र है । अगर हम ऐसा करते हैं तो कीर्केगार्ड का विश्वास है कि हम ईश्वर की खुली बाँहो मे चले जाएँगे । और उन्होने ही "अस्तित्ववाद" शब्द का निर्माण किया ।

इन सारी बातो से निस्सन्देह इस बात का पता चलता है कि बुद्धिवाद पर अत्यधिक बल देने के स्थान पर अबुद्धिवाद पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है, अर्थात प्रतिक्रिया काफी बढ रही है। फिर भी इस बात को शायद ही अस्वीकार किया जा सकता है कि प्रतिक्रिया होना आवश्यक हो गया था और इसमे अस्ति-वाचक तत्त्व है।

"अस्तित्ववाद" शब्द का क्या अर्थ होता है ? अनेक दार्शनिक इस नवीन दर्शन का अनुसरण करते हैं, जिनसे विभिन्न मतो की उत्पत्ति हुई है, जिससे इस शब्द का अर्थ भ्रामक हो गया है। कीर्केगार्ड द्वारा इस शब्द के प्रयोग के अर्थ मे, इसका प्रारम्भिक एव मौलिक अर्थ सरल और सीधा है। अस्तित्ववाद, समस्त विशुद्ध अमूर्त चिन्तन, विशुद्ध तार्किक या वैज्ञानिक दर्शन का अस्वीकरण है, सक्षेप मे यह तर्कबुद्धि की निरपेक्षता का अस्वीकरण है। इसके स्थान पर यह इस बात पर बल देता है कि दशन का सम्बन्ध व्यक्ति के अपने जीवन और अनुभूति के साथ, उस ऐतिहासिक स्थिति के साथ होना चाहिए, जिसमे वह अपने को पाता है। और इसे अमूर्त चिन्तन मे रुचि नही रखनी चाहिए, इसे तो जीवन पद्धति मे रुचि रखनी चाहिए। यह एक ऐसा दर्शन होना चाहिए, जिसमे जीवित रहने की क्षमता हो। 'अस्तित्व" शब्द मे इन सारी बातो का सार है। अस्तित्ववादी दार्शनिक इस बात पर बल देते है कि जिसे मैं वास्तविक रूप से जानता हूँ वह अपने उसी रूप मे वाह्य जगत् मे नहीं है, वह मेरी अपनी अनुभूति है, उसके लिए व्यक्ति यथार्थ है। अत दर्शन का आरम्भ किसी की अपनी अनुभूति, अपने आभ्य-न्तर ज्ञान से होना चाहिए और इसी आभ्यन्तर ज्ञान को विशेषित करना चाहिए, उसका विस्तार करना चाहिए और इस प्रकार इसे समृद्ध करना चाहिए। किसी की अपनी अनुभूति को प्रमाण के रूप मे स्वीकार करना चाहिए। तर्कबुद्धि जैसाकि कुछ कम अतिवादी अस्तित्ववादी बतलाते हैं, इस अभिगम की आवश्यकता पूरी कर सकती है, किन्तु इसे कभी आदेश नही देना चाहिए।

जब हम सार और अस्तित्व के बीच भेद प्रस्तुत करते हैं, जैसा कि अक्सर किया जाता है, तब सम्भवत अस्तित्ववाद का अर्थ समझना आसान हो जाता है। सार वस्तुओ के यथार्थस्वरूप, मानव मे मानवपन, घोडे के घोडेपन की ओर सकेत करता है। इस पर अमूर्त रूप से विचार किया जा सकता है। अस्ति-त्व मानव की मानवता नही है, प्रत्युत् यह व्यक्ति जान है, जिसे मैं जानता हूँ, या यह विशेष घोडा है, जिसका मैं स्वामी हूँ, और जिसे मैं प्यार करता हूँ। अब अस्तित्ववादियो का दावा है कि समस्त पूर्ववर्त्ती दर्शन का अत्यधिक सम्बन्ध

तत्वो, प्रत्ययो और सप्रत्ययो के साथ था, अत यह अत्यधिक अमूर्त बन गया। वे इसलिए अस्तित्व से आरम्भ करना और उसे बनाये रखना चाहते हैं कि यथार्थ वस्तुएँ अक्षुण्ण रहे, उसी रूप मे अक्षुण्ण रहे जिस रूप मे वे हमारी वैयक्तिक अनुभूति मे आती हैं। इस बात मे सन्देह नही कि अस्तित्व पर एकान्तिक रूप से बल देने मे अस्तित्ववादी अक्सर बहुत आगे चले जाते हैं, अत स्पष्ट है कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए, हमे सार और अस्तित्व दोनो की आवश्यकता पडती है। हम मानव की मानवता समझे बिना उसे नही समझ सकेंगे, किन्तु मानव और अपनी आन्तरिक अनुभूति पर ध्यान दिये बिना मानवता को भी नही समझ सकेगे। इस प्रकार का दावा करना कि कोई व्यक्ति अस्तित्व के सम्बन्ध मे विचार कर सकता है, उसी प्रकार का तर्कदोष है जिस प्रकार यह दावा करना कि सार ही सत्ता के साथ न्याय कर सकता है। किन्तु इन कुछ विचारको की प्रतिक्रिया अगर जोरदार भी थी तो हम देख सकते है कि यह आवश्यक और हितकर थी।

अपेक्षाकृत व्याघाती रूप मे, तर्कबुद्धि युग अभी भी हमारे साथ है। अब हम निश्चय ही इस बात मे विश्वास नही करते कि तर्कबुद्धि सभी समस्याओ का समाधान कर सकती है, सम्भवत हम इसकी परिभाषा भी हास्यास्पद पाते है। अवचेतन की खोज से आघात पहुँचा था, जिससे फिर दुबारा तर्कबुद्धि मे कभी पूर्णरूप से विश्वास नही जमा। तिस पर भी हमारे युग पर अभी भी अमूर्त चिन्तन, निर्वैयक्तिक, वैज्ञानिक, नियतत्ववादी विचारण, सार पर केन्द्री-करण, तर्कबुद्धिवाद का काफी प्रभुत्व बना ही है। हम शायद ही कभी अपनी वैयक्तिक अनुभूति और भावनाओ के गूढ अर्थ पर पर्याप्त ध्यान देते हैं, हम आन्तरिक ज्ञान की उपेक्षा करते है, किन्तु, मेरा विश्वास है, हम यह महसूस करने लगे है कि अमूर्त चिन्तन पर इस प्रकार का बल देने से हम अशक्त हो रहे है और मानव जगत भी खतरे मे पड रहा है। सम्पूर्ण जगत अपना अर्थ खोता प्रतीत होता है और मनुष्य अपने से विमुख होता जाता है। प्रकृति पर हमारा प्रभुत्व अधिकाधिक सम्पूर्ण हो रहा है, मनुष्य सबसे सूक्ष्म कणो और सम्भवत शीघ्र ही, बाह्य अन्तरिक्ष का प्रयोग कर सकता है, वह विश्व-सरचना का, और नवीन औषधो से, मानव स्वभाव का अतिक्रमण कर रहा है, इस समय जब कि प्रकृति के रहस्यो का एक-एक कर उद्घाटन होता जा रहा है, प्रत्येक मनुष्य अपने लिये ही एक बडा रहस्य बन गया है, और अपने आन्तरिक जीवन और मानवीय कार्यों मे अधिक अव्यवस्था आ गयी है। क्या अभी भी हम नैतिक समस्याओ को सुलझाने मे समर्थ हो सकते है ? नैतिकता का विकास करना

पहले की अपेक्षा सम्भवत और भी महत्त्वपूर्ण होगा, क्योकि हमे सम्पूर्णत एक नयी स्थिति का सामना करना पड रहा है। नाभिक-सग्राम, मानव के अस्तित्व, जीवन-मरण के रहस्य के सम्बन्ध मे इस हद तक हस्तक्षेप कर सकता है, कि पहले इसकी कल्पना करना कभी सम्भव भी नही था। मनुष्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे हस्तक्षेप करने से एक नया और महान उत्तरदायित्व सामने आता है। परन्तु ऐसी सभी समस्याएँ विज्ञान के क्षेत्र के बाहर है, जब तक हम अमूर्त चिन्तन मे ही विश्वास करते रहेगे, हम उनके यथार्थ अर्थ को नही समझने लगेगे।

जब एक बार मनुष्य मूल्यो मे विश्वास खो बैठता है, जब वह मनुष्य के ऊपर किसी वस्तु मे विश्वास नही कर सकता, जब उसकी आध्यात्मिक अनुभूतियो का अनुभवातीत आधार नही होता तो स्पष्ट रूप से सत्ता पर भी उसका विश्वास जाता रहता है। इसके अतिरिक्त चूँकि निर्वैयक्तिक उपागम उन भावनाओ को उपगम्य नही बना सकते, जो अगर निजी न हो तो कुछ भी नही हैं, अत हमारी समस्त अनुभूतियो के एक अनिवार्य अग को नगण्य सा बना दिया जाता है। परन्तु जिस वस्तु की हमे पूर्ण अनुभूति होती है, उसके साथ भावनाएँ होती है, हम उन भावनाओ के बिना जीवित नही रह सकते और अगर उनका निरादर होता है तो उनकी क्षति होती है।

कोई विज्ञान हमारी यहाँ सहायता नही कर सकता, मनोविज्ञान भी नही। यह सत्य है कि इसमे सभी ऐसी समस्याएँ शामिल है, किन्तु उनका एक विशेष पक्ष ही—और इससे हमे आधार ढूंढने मे मदद नही मिलती, क्योकि प्रत्येक वस्तु को सापेक्ष बना दिया जाता है। सामाजिक दबावो और वैयक्तिक अनुरागो के परिणामस्वरूप मूल्य-निर्णय देखे जाते हैं, विश्वास हीन भावना का परिणाम है। कई विशेष मामलो मे यह सत्य हो सकता है, किन्तु क्या यह सम्पूर्ण सत्य है? नीट्त्शे ने, जो निश्चय ही एक महान मनोवैज्ञानिक था, एक बार कहा था कि सद्गुण हमारे दुर्गुणो के लिए निभृतस्थान है और उन्होने दिखलाया कि किस प्रकार हमारे सद्गुणो का प्रयोग केवल परोक्ष अभिप्रेरको को छिपाने के लिए किया जाता है। फिर, यह प्राय सत्य होता है, किन्तु नीट्त्शे को "सद्गुण" और "दुर्गुण" के सम्प्रत्यय कहां से मिले? इस सन्दर्भ मे वे पूर्वकल्पित है। मनोविज्ञान मे विचार और भावनाओ की प्रक्रियाएँ ही शामिल है, हमे यह बतलाया जाता है कि हम कैसे विचार और अनुभव करते है, किन्तु वास्तविक विचार-तत्त्व इसकी पहुँच से परे हैं, "सद्गुण" और "दुर्गुण" के सम्प्रत्यय उस गहनतर स्तर पर पाये जाते है, जो मनोविज्ञान के क्षेत्र से बाहर है। सद्गुण का दुरुपयोग

तत्वो, प्रत्ययो और सप्रत्ययो के साथ था, अत यह अत्यधिक अमूर्त बन गया। वे इसलिए अस्तित्व से आरम्भ करना और उसे बनाये रखना चाहते हैं कि यथार्थ वस्तुएँ अक्षुण्ण रहे, उसी रूप मे अक्षुण्ण रहे जिस रूप मे वे हमारी वैयक्तिक अनुभूति मे आती हैं। इस बात मे सन्देह नही कि अस्तित्व पर एकान्तिक रूप से बल देने मे अस्तित्ववादी अक्सर बहुत आगे चले जाते है, अत स्पष्ट है कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए, हमे सार और अस्तित्व दोनो की आवश्यकता पडती है। हम मानव की मानवता समझे बिना उसे नही समझ सकेंगे, किन्तु मानव और अपनी आन्तरिक अनुभूति पर ध्यान दिये बिना मानवता को भी नही समझ सकेगे। इस प्रकार का दावा करना कि कोई व्यक्ति अस्तित्व के सम्बन्ध मे विचार कर सकता है, उसी प्रकार का तर्कदोष है जिस प्रकार यह दावा करना कि सार ही सत्ता के साथ न्याय कर सकता है। किन्तु इन कुछ विचारको की प्रतिक्रिया अगर जोरदार भी थी तो हम देख सकते है कि यह आवश्यक और हितकर थी।

अपेक्षाकृत व्याघाती रूप मे, तर्कबुद्धि युग अभी भी हमारे साथ है। अब हम निश्चय ही इस बात मे विश्वास नही करते कि तर्कबुद्धि सभी समस्याओ का समाधान कर सकती है, सम्भवत हम इसकी परिभाषा भी हास्यास्पद पाते है। अवचेतन की खोज से आघात पहुँचा था, जिससे फिर दुबारा तर्कबुद्धि मे कभी पूर्णरूप से विश्वास नही जमा। तिस पर भी हमारे युग पर अभी भी अमूर्त चिन्तन, निर्वैयक्तिक, वैज्ञानिक, नियतत्त्ववादी विचारण, सार पर केन्द्रीकरण, तर्कबुद्धिवाद का काफी प्रभुत्व बना ही है। हम शायद ही कभी अपनी वैयक्तिक अनुभूति और भावनाओ के गूढ अर्थ पर पर्याप्त ध्यान देते हैं, हम आन्तरिक ज्ञान की उपेक्षा करते है, किन्तु, मेरा विश्वास है, हम यह महसूस करने लगे है कि अमूर्त चिन्तन पर इस प्रकार का बल देने से हम अशक्त हो रहे है और मानव जगत भी खतरे मे पड रहा है। सम्पूर्ण जगत अपना अर्थ खोता प्रतीत होता है और मनुष्य अपने से विमुख होता जाता है। प्रकृति पर हमारा प्रभुत्व अधिकाधिक सम्पूर्ण हो रहा है, मनुष्य सबसे सूक्ष्म कणो और सम्भवत शीघ्र ही, बाह्य अन्तरिक्ष का प्रयोग कर सकता है, वह विश्व-सरचना का, और नवीन औषधो से, मानव स्वभाव का अतिक्रमण कर रहा है, इस समय जब कि प्रकृति के रहस्यो का एक-एक कर उद्घाटन होता जा रहा है, प्रत्येक मनुष्य अपने लिये ही एक बडा रहस्य बन गया है, और अपने आन्तरिक जीवन और मानवीय कार्यों मे अधिक अव्यवस्था आ गयी है। क्या अभी भी हम नैतिक समस्याओ को सुलझाने मे समर्थ हो सकते है ? नैतिकता का विकास करना

पहले की अपेक्षा सम्भवत और भी महत्त्वपूर्ण होगा, क्योकि हमे सम्पूर्णत एक नयी स्थिति का सामना करना पड रहा है । नाभिक-सग्राम, मानव के अस्तित्व, जीवन-मरण के रहस्य के सम्बन्ध मे इस हद तक हस्तक्षेप कर सकता है, कि पहले इसकी कल्पना करना कभी सम्भव भी नही था । मनुष्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे हस्तक्षेप करने से एक नया और महान उत्तरदायित्व सामने आता है। परन्तु ऐसी सभी समस्याएँ विज्ञान के क्षेत्र के बाहर है, जब तक हम अमूर्त चिन्तन मे ही विश्वास करते रहेगे, हम उनके यथार्थ अर्थ को नही समझने लगेंगे।

जब एक बार मनुष्य मूल्यो मे विश्वास खो बैठता है, जब वह मनुष्य के ऊपर किसी वस्तु मे विश्वास नही कर सकता, जब उसकी आध्यात्मिक अनुभूतियो का अनुभवातीत आधार नही होता तो स्पष्ट रूप से सत्ता पर भी उसका विश्वास जाता रहता है । इसके अतिरिक्त चूंकि निर्वैयक्तिक उपागम उन भावनाओ को उपगम्य नहीं बना सकते, जो अगर निजी न हो तो कुछ भी नही हैं, अत हमारी समस्त अनुभूतियो के एक अनिवार्य अग को नगण्य-सा बना दिया जाता है । परन्तु जिस वस्तु की हमे पूर्ण अनुभूति होती है, उसके साथ भावनाएँ होती है, हम उन भावनाओ के बिना जीवित नहीं रह सकते और अगर उनका निरादर होता है तो उनकी क्षति होती है ।

कोई विज्ञान हमारी यहाँ सहायता नही कर सकता, मनोविज्ञान भी नही । यह सत्य है कि इसमे सभी ऐसी समस्याएँ शामिल है, किन्तु उनका एक विशेष पक्ष ही—और इससे हमे आधार ढूंढने मे मदद नही मिलती, क्योकि प्रत्येक वस्तु को सापेक्ष बना दिया जाता है । सामाजिक दबावो और वैयक्तिक अनुरागो के परिणामस्वरूप मूल्य-निर्णय देखे जाते है, विश्वास हीन भावना का परिणाम है । कई विशेष मामलो मे यह सत्य हो सकता है, किन्तु क्या यह सम्पूर्ण सत्य है ? नीट्शे ने, जो निश्चय ही एक महान मनोवैज्ञानिक था, एक बार कहा था कि सद्गुण हमारे दुर्गुणो के लिए निभृतस्थान है और उन्होने दिखलाया कि किस प्रकार हमारे सद्गुणो का प्रयोग केवल परोक्ष अभिप्रेरको को छिपाने के लिए किया जाता है । फिर, यह प्राय सत्य होता है, किन्तु नीट्शे को "सद्गुण" और "दुर्गुण" के सम्प्रत्यय कहाँ से मिले ? इस सन्दर्भ मे वे पूर्वकल्पित है । मनोविज्ञान मे विचार और भावनाओ की प्रक्रियाएँ ही शामिल है, हमे यह बतलाया जाता है कि हम कैसे विचार और अनुभव करते हैं, किन्तु वास्तविक विचार-तत्त्व इसकी पहुँच से परे है, "सद्गुण" और "दुर्गुण" के सम्प्रत्यय उस गहनतर स्तर पर पाये जाते है, जो मनोविज्ञान के क्षेत्र से बाहर है । सद्गुण का दुरुपयोग

हो सकता है, ईश्वर मे आस्था रखने का आधार गलत प्रतिक्रिया हो सकता है, फिर भी यथार्थ सद्‌गुण हो सकता है और ईश्वर का अस्तित्व हो सकता है। सच और झूठ के प्रश्नो के सम्बन्ध मे निर्णय करने के लिए हमे दूसरी कसौटी की आवश्यकता पडती है। मैं किसी मित्र की सहायता केवल स्वार्थवश कर सकता हूँ, क्योंकि मुझे इससे आनन्द मिलता है या यह मेरे लिए लाभदायक है, फिर भी दूसरे व्यक्ति की सहायता करना, एक अच्छा सिद्धान्त हो भी सकता है, नही भी हो सकता है।

मनोविश्लेषण असाधारण ढग से मनोविज्ञान की एक पक्षता मे वृद्धि करता है। इसका मूल आवेग इसलिये था कि उन अवचेतन कारको के कारण उत्पन्न सभी अवरोधन दूर हो जाएँ, जिनसे यथोचित रूप से जीवन का सामना करने मे रोगी असमर्थ रहता है, जिससे उसके निर्णय करने और कार्य करने की स्वतन्त्रता लौट आये। अच्छे डॉक्टर अभी भी इसका इस प्रकार प्रयोग करते हैं। किन्तु अगर आप सैद्धान्तिक मनोविश्लेषणवादी लेखो को देखे तो आप देखेंगे कि इन मौलिक अभिप्रायो के बावजूद, वे नियतत्त्ववाद का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। वे मुख्य रूप से यह बतलाते हैं कि हम ऐसे कारको पर जैसे बचपन की अनुभूतियो पर कितने आश्रित है, जिनपर हमारा कोई प्रभाव नही था, और अवचेतन मे ये कारक किस प्रकार कार्य करते है, स्वतन्त्र कार्यो को करने से रोकते हैं। सच तो यह है कि मनोविश्लेषण का विकास अपने ही आधारभूत सिद्धान्त की चुनौती के रूप मे हुआ है और इसने सकल्प-स्वातन्त्र्य मे किसी भी आस्था के विरुद्ध कुछ सबसे दृढ युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यह वैज्ञानिक विधि का स्वाभाविक परिणाम है, कारणता स्थापित करने की दिशा मे यह कार्य करेगा ही, जितना अधिक पूर्ण रूप से हम कार्य-कारण मे अनिवार्य सम्बन्ध प्रकट करेंगे, उतना ही अच्छे ढग से हम इस विधि का प्रयोग करेंगे और उतने ही अच्छे ढग से व्यावहारिक समस्याओ का समाधान करने मे हम समर्थ होगे। चूंकि इस विधि का उद्देश्य अनिवार्यता प्रकट करना है, अत इस रूप मे स्वतन्त्रता सिद्ध नही की जा सकती, इसकी खोज करने के लिए हमे अनुभूति से आरम्भ करना होगा।

अत हमे सच्चे रूप से अनुभूति से आरम्भ करना चाहिए। कोई भी वस्तु, इन सिद्धान्तो मे दृढ विश्वास भी, कभी किसी मनुष्य को उसके दैनिक जीवन के छोटे-मोटे कार्यो मे इस बात के लिए कायल नही करेगा कि वह जो करना चाहता है उसे करने मे वह असमर्थ है, अगर वह छोटे, व्यावहारिक कार्यो मे अवरोध अनुभव

करता है तो वह किसी डॉक्टर या मनश्चिकित्सक के पास जाएगा क्योंकि उसे इस बात की जानकारी होगी कि उसमे कुछ खराबी है । और जो छोटे कार्यों के सम्बन्ध मे सत्य है वही अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यो के सम्बन्ध मे नैतिक निर्णयो के सम्बन्ध मे भी, सत्य होगा । उन सभी शक्तिशाली बाह्य और आभ्यन्तर बाध्यताओ के बावजूद, जो हमे अक्सर पराजित करती है, हम तब तक मनुष्य को नही समझेंगे जब तक हम उसकी स्वतन्त्रता को भी अपने ध्यान मे न रखे। जो सिद्धान्त नियतत्त्ववाद का समर्थन करते है, वे वास्तविक रूप से उत्तरदायित्व की उस अनुभूति की सत्ता के लिए सबसे अनूठा प्रमाण प्रस्तुत करते है, जो स्वतन्त्रता की पूर्वकल्पना करती है । यह अनुभूति कुछ भी नही तो कम से कम अक्सर अप्रिय नही होती, और अब कई सम्मानित सिद्धान्त है, जिनका हम उत्तरदायित्व से बचने के लिए बहाने के रूप मे प्रयोग कर सकते थे, जो यह दिखलाते हैं कि हमारा गठन अगणित प्रभावो से होता है, अत हमे वही होना है, जो हम है और कोई चारा भी नही । फिर भी, व्यवहार मे ये सिद्धान्त बहाने सिद्ध नही हो सकते, उनके बावजूद उत्तरदायित्व रहता ही है, हम फिर भी उत्तरदायित्व का अनुभव करते है और इस बात पर बल देते हैं कि मनुष्य को उत्तरदायित्व का अनुभव करना चाहिए । अत मनुष्य को समझने के लिए, हम इस अनुभूति के साथ न्याय करने के प्रयास से बच नही सकते ।

वैयक्तिक दर्शन प्रस्तुत करने के सिवा हमारे पास और कोई चारा भी नही रह जाता, हमारा "ऐतिहासिक सम्वेदन" भी, जो हमारी उपलब्धियो मे एक दूसरी उपलब्धि है, एक प्रकार के अस्तित्ववादी उपागम से बच निकलने मे हमारी सहायता करेगा । तर्कबुद्धि युग से, इतिहास के ज्ञान का भी काफी विकास हुआ है । इस युग ने ऐतिहासिक रूप से विचार नही किया, प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध मे समकालीन प्रमाणो के आधार पर निर्णय किया गया, इतिहास ने केवल उन अवस्थाओ को दिखलाया, जिनसे यह सर्वोच्च हुआ अर्थात् जिनसे स्वय उस युग का निर्माण हुआ । अब हम प्रत्येक वस्तु को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे देखते हैं, उनकी ऐतिहासिक अवस्थाओ के ढाँचे मे उपलब्धियो का मूल्याकन करते हैं और इस प्रकार अधिक पूर्ण रूप से उनकी समालोचना करते है । इसमे सन्देह नही कि यह एक बहुत बडी प्रगति है, किन्तु खडा होने का एक सुदृढ आधार ढूंढने के लिए क्या इससे हमे सहायता मिलती है ? जब हम केवल इतिहास पर ही भरोसा रखते है तो प्रत्येक वस्तु फिर सापेक्ष हो जाती है । हम प्रत्येक युग मे केवल कुछ मूलभूत आस्थाओ का पता लगा सकते है, जो मनुष्यो

को इतनी स्वत सिद्ध लगी कि आगे सोचने की जरूरत ही नही समझी गयी और फिर दूसरे युग मे उन्हे अपर्याप्त कहकर अमान्य ठहरा दिया गया। हम आधारभूत सत्य की कभी खोज नही करते। समस्त मूल्य और आस्थाएँ, सत् और असत्, धर्म, ईसाईधर्म, केवल ऐतिहासिक घटनाएँ हो जाती है, इतिहास उसी रूप मे, हमे किसी वस्तु की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे नही वतला सकता। नैतिकता सामाजिक, राष्ट्रिक, ऐतिहासिक अवस्थाओ की उपज मात्र प्रतीत होती है, परिवर्त्तनशील लोकाचार की तरह है और जैसा कि मार्क्स ने कहा, "औचित्य और न्याय, भ्रातृत्व और स्वतन्त्रता", "आधुनिक पौराणिक, देवताओ के प्रति दिखावटी प्रेम-प्रदशन है" हम इस वडे तमाशे मे कठपुतली-मात्र रह जाते हैं, जिस तमाशे का प्रवन्ध किसी ऐसी अज्ञात, निरर्थक शक्तियो द्वारा होता है, जिनके आगे हमे झुकना ही है। हम किसी वस्तु मे विश्वास नही कर सकते और अल्वर्ट कामू के शब्दो मे "अगर हम अवस्तु मे विश्वास करते हैं, अगर अवस्तु का अर्थ है और अगर हम किन्ही मूल्यो की पुष्टि नही कर सकते, तव प्रत्येक वस्तु सम्भव है और अवस्तु का कोई महत्त्व है। हत्यारा न तो उचित होता है न अनुचित। अशुभ और सद्गुण केवल यदृच्छा या स्वेच्छा है।"[1] परन्तु यह गतिरोध तभी उत्पन्न होता है जव वैज्ञानिक या ऐतिहासिक विचारण को हम स्वीकार करते है और समस्त वैयक्तिक अनुभूति की उपेक्षा करते हैं। तब जैसा मौका रहता है वैसा करना पडता है और तव हमे कामू से यह सवाल पूछना ही होता है। "अगर अवसरवादी के सम्बन्ध मे नही तो कम से कम अवसर के सम्बन्ध मे कौन निर्णय करेगा ?"[2]

सक्षेप मे, जव तक निरपेक्ष प्रमाण न हो, जो प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रामाणिक हो, जो मनुष्य की अपेक्षा उच्चतर हो और जो घटनाक्रम और उन प्रभाव से ऊपर उसे उठा सकें, जिस पर स्वय उसका प्रभाव नही है, तब तक मनुष्य इस जगत् मे विलीन रहता है और वह अपने अधिकार पर दृढ नही रह सकता। वह ऐसा जीवन व्यतीत नही कर सकता, जो व्यक्तिगत कहलाये।

परन्तु यह तथ्य कि मूल, प्रमाण, नैतिकता आस्था की आवश्यकता है इस वात का प्रमाण नही है कि वे यथार्थ हैं, और हम उन्हे मानने के अधिकारी हैं। इस प्रकार की स्वीकृति का कोई आधार है, या वे अभिलाषानुकल्पन हैं ? यह एक ऐसा प्रश्न है जो वार-वार उठेगा। हम अपनी अनुभूति मे वास्तविक तत्त्वो और उनके स्वरूप का, उनकी विश्वसनीयता, हमारी आस्थाओ के औचित्य, वैयक्तिक और अवैक्तिक उपागम के महत्त्व का परीक्षण करने का, जितना वस्तुनिष्ठ रूप

से हो सकता है, उतना प्रयास करेंगे, और वस्तुनिष्ठ रूप से ऐसा करने के लिए हम निरन्तर वैज्ञानिक उपलब्धियो पर भी ध्यान देंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि इनसे हमे कहाँ तक सहायता मिल सकती है।

हम अस्तित्ववादियो पर ही भरोसा नही रखेंगे, क्योकि वे अक्सर बहुत आगे चले जाते हैं, वे अक्सर हमे निराश करते हैं। तर्कबुद्धि के निरपेक्ष दावे के विरुद्ध प्रतिक्रिया करते हुए, वे अबुद्धिवाद का निरपेक्ष दावा करते हैं, वैज्ञानिक या तर्कनापरक विचारण के स्थान पर वे प्रत्येक अबुद्धिवादी वस्तु को भावावेश मे आकर ग्रहण करते हैं और इस प्रकार निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा करते हैं। इस निरपेक्षता से भी हम शून्य की ओर अग्रसर होते है और यही शून्यता अर्थात् अवस्तुता, विरोधाभासी रूप से तब निःश्रेयस के रूप मे घोषित की जाती है। इस पुस्तक का उद्देश्य यह है कि सन्तुलन का आधार क्रिया और प्रतिक्रिया के उस तीव्र पारस्परिक प्रभाव का मार्ग ढूंढा जाए, जिसने योरोपीय विचार-धारा को हमेशा एकपक्षता की ओर प्रेरित किया है, अर्थात् जिस रूप मे तर्कबुद्धिवाद के विरूद्ध अस्तित्ववाद की प्रतिक्रिया के रूप मे, मध्य युग के विरुद्ध तर्कबुद्धि युग की प्रतिक्रिया हुई है। हम इस बात को ध्यान मे रखेंगे कि अन्त मे हम सन्तुलन की स्थापना करना चाहते हैं, और चूंकि यह हमारा उद्देश्य है, अत हम अस्तित्ववाद के खतरो और अतियुक्तियो की अपेक्षा अस्तित्ववाद के भावात्मक पक्षो पर ध्यान देंगे, हालाँकि इनका भी उल्लेख किया जायगा। कुछ हद तक इस प्रकार की प्रतिक्रिया निस्सन्देह आवश्यक थी और अस्तित्ववाद का यही पक्ष है जिसमे हमारी सबसे अधिक अभिरुचि है। हम भावात्मक परिणाम प्राप्त करना चाहते हैं, जिन्हे स्वीकार करना हमारा अधिकार है—यह एक ऐसा कार्य है जो अस्तित्ववाद की ओर और उससे परे हमे निर्दिष्ट करता है।

* * *

दो

प्रगति या संकट :
डार्विन और नीट्शे

आधुनिक रूप मे प्रगति के प्रति आस्था रखना, उन्नीसवी शताब्दी का मुख्य पथ था—यह केवल इस प्रकार की आस्था नही थी कि अगर हम अपनी देनो का उचित प्रयोग करेंगे और उचित उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए प्रयास करेंगे तभी प्रगति होगी, प्रत्युत् एक प्रकार की दृढ धारणा बन गयी थी कि प्रगति स्वचल और अनिवार्य रूप से होती है। उस आस्था के अनुसार, मानवता का विकास हुआ है और उचित दिशा मे, समाजिक एव वैयक्तिक जीवन का और अच्छी तरह विकास होता रहेगा और प्रकृति मे भी निम्नतर से उच्चतर रूपो मे नियमित विकास होना है। प्रगति पहले ऐतिहासिक, और बाद मे प्राकृतिक नियम के रूप मे देखी जाती है। कभी कभी व्यतिक्रम या अवनति हो सकती है, किन्तु इनसे प्रगति कभी न तो रुकेगी न गम्भीर रूप से इसमे विलम्ब ही होगा।

सम्भवत इस बात का स्मरण रखना लाभदायक है कि प्रगति का विचार हाल ही मे उत्पन्न हुआ है और यह न तो पुराना है न स्वत सिद्ध, जैसाकि हमे ऐसा प्रतीत हो सकता है। सम्पूर्ण समस्याएँ इसके बिना रही है। प्राचीन सम-स्याओ ने पीछे मुडकर स्वर्णयुग अर्थात खोये स्वर्ग की ओर देखा अर्थात पूर्णका-लिक प्रारम्भ की ओर दृष्टिपात किया, उन्होने भविष्य की ओर नही देखा।

भविष्य पर इस प्रकार की एकाग्रता ईसाई धर्म के लिए उत्तरदायी थी, परन्तु वर्धमान मानवीय पूर्णता के तार्किक परिणाम के रूप मे, मसीह के दूसरी बार आगमन का वचन नही दिया गया, प्रारम्भ मे भविष्यवाणी ने इस बात पर बल दिया था कि मनुष्य पर जब सबसे भारी सकट आयेगा तब वह लौटकर आएगा—यह एक ऐसी भविष्यवाणी थी जिसमे इस बात का विश्वास दिलाया गया था कि बहुत बुरे से ही सर्वोत्तम परिणाम निकल सकता है, और इस भविष्यवाणी से मानवीय उपलब्धियाँ की अपरिमित प्रगति में विश्वास रखने की अपेक्षा, एक बार फिर सात्वना मिल सकती है। तर्कबुद्धि के युग मे प्रगति के प्रति एक प्रकार की सुस्पष्ट आस्था का विकास होना शुरू हुआ, हालाँकि इस युग मे तर्कबुद्धि के सही प्रयोग के परिणाम के रूप मे यह देखा गया, स्वाभाविक बात के रूप मे नही। उन्नीसवी शताब्दी मे ही यह आशा नियम के रूप मे परिणत हुई, हालाँकि कुछ कठिनाई हुई।

उस शताब्दी मे, प्राकृतिक विज्ञानो की आकस्मिक एव द्रुत प्रगति से यूरोप उन्मत्त होता गया, अत यह शायद आश्चर्य की बात हो कि प्रगति सामान्य नियम के रूप मे प्रतीत होती। यह स्मरण रखने योग्य है कि उन्नीसवी शताब्दी मे ऐसी खोजें हुई जो हमे बहुत पहले की प्रतीत हो। उदाहरण के रूप मे कुछ ऐसी खोजे उल्लेखनीय है, ऊर्जा सरक्षण नियम, स्पेक्ट्रम विश्लेषण, जिससे इस बात का पता चलता है कि सभी तारो मे एक ही पदार्थ है, विद्युत तरग, जिसे इम पृथ्वी पर जीवन को रुपान्तरित करना था, आवर्त नियम, जो रसायन शास्त्र को विज्ञान बनाता है, डिम्ब कोशिकाओ से मानवप्राणी की उत्पत्ति। इनके अतिरिक्त औद्योगिक क्रान्ति, रेल जगत और बाद मे टेलीग्राफ, औषध विकास और इस प्रकार कोई व्यक्ति यह समझ सकता है कि उस समय के यूरोपवासियो ने क्यो इस बात मे दृढता से विश्वास किया कि प्रगति अनिवार्य है।

हेगेल ने पहले प्रगति नियम का प्रतिपादन किया, जिन्होंने आदर्शवादी आधार पर इसकी स्थापना की। योरोपीय विचार धारा के आगे के विकास पर हेगेल का काफी प्रभाव पडा, किन्तु हालाँकि उन्होने वैज्ञानिक चिन्तन का मार्ग भी प्रशस्त किया, फिर भी उसके आदर्शवाद ने प्राकृतिक विज्ञानो को प्रत्यक्ष रूप से आकर्षित नही किया। उनके लिए, अभी भी एक महत्त्वपूर्ण खाई थी, जिसके कारण प्रगति मे आस्था रखना कठिन हो गया—जीव-वैभव, अगणित पौधो और पशुओ का आस्तित्व और मनुष्य का अविर्भाव अव्याख्येय रहे। किसी प्रकार की व्याख्या करने के लिए, अभी भी बाइबिल, सृष्टि कथा की शरण लेना आवश्यक

प्रतीत हुआ। परन्तु १८५९ मे डार्विन की पुस्तक "दि ओरिजन ऑफ स्पीसीज" के प्रकाशन से यह खाई भर दी गयी और इस प्रकार यह बात समझ मे आयी कि इस पुस्तक को इतनी जल्दी सफलता क्यो मिली। काफी दिनो के बाद सामान्य वैज्ञानिक, यान्त्रिक रूप से प्रत्येक वस्तु की व्याख्या करना सम्भव हुआ, अन्त मे विज्ञान के क्षेत्र मे बाइबिल अनावश्यक हो गया और अब प्रकृति मे यह बात देखने को मिल सकी कि प्रगति का अस्तित्व अन्तिम रूप से सिद्ध हुआ प्रतीत होता है।

यह मेरा कार्य नही है कि मूल रूप मे विकास सिद्धान्त, इसकी प्रामाणिकता, इसकी गौण बातो, डार्विन के समय से इसमे हुए परिवर्तन के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श किया जाये, इसके दार्शनिक निहितार्थों के सम्बन्ध मे ही विचार विमर्श करना मेरा कार्य है। भौतिकवाद मे परिवर्तन हो गया, उस समय से सभी भौतिकवादी उपदेशो को, जिनमे मार्क्स के उपदेश भी शामिल हैं, विकास सिद्धान्त पर आधारित किया जाता है। हर्बर्ट स्पेन्सर जैसे दार्शनिको ने इस सिद्धान्त को समस्त दर्शन, तत्त्वमीमासा, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र का आधार बनाया। नीट्शे इससे काफी प्रभावित हुआ, हालाँकि उसने इस बात को इस रूप मे स्वीकार नही किया, हेनरी बर्गशा ने इसे माना, हालाँकि मौलिक रूप मे वह आदर्शवादी था, उन ईश्वर मीमासको ने भी इसे स्वीकार किया, जिन्होने इसके दुरुपयोग के विरुद्ध सघर्ष किया। अस्तित्ववाद के प्रादुर्भाव से दर्शन पर डार्विन का यह प्रभाव कम हो गया है, किन्तु बहुत कम नही हुआ है।

दर्शन के लिए इस सिद्धान्त का महत्त्व मुख्य रूप से इस बात मे निहित है कि यह ऐसी सुसगत और सर्वग्राही तत्त्वमीमासीय प्रणाली प्रस्तुत करना चाहता है जो पूर्ववर्त्ती प्रणालियो की अपेक्षा इस विश्व और मनुष्य के अस्तित्व को और भी अच्छी तरह से व्याख्या कर सके। यह सत्य है कि भौतिक द्रव्य की उत्पत्ति की व्याख्या नही हुई है, किन्तु सभी प्रणालियो मे कुछ इस प्रकार की पूर्वमान्यताओ को तो स्वीकार करना ही है, प्लेटो ने भी आध्यात्मिक तत्त्वो अर्थात प्रत्ययो से आरम्भ किया, हेगेल ने सर्वग्राही आत्मा के सप्रत्ययन से आरम्भ किया और भौतिकवादी भौतिक द्रव्य के अस्तित्व से आरम्भ करते हैं। किन्तु इस प्रथम आधारभूत मान्यता की अवहेलना आसानी से की जा सकती है, क्योकि इस प्रकार की प्रणाली का निर्माण करने के लिए मनुष्य अपने मन की शक्ति के वशीभूत है और विकास सिद्धान्त के मामले मे यह मोह सभवत सबसे अधिक है, क्योकि ऐसा प्रतीत होता है कि अधिक से अधिक तथ्यो की खोज से इस

प्रणाली को समर्थन मिला है। इसमे कोई आश्चर्य नही कि यह चरम, निरपेक्ष ज्ञान समझा गया।

जब एक बार भौतिक द्रव्य के अस्तित्व को मान लिया गया, तब ऐसा प्रतीत हुआ कि विकास-सिद्धान्त, किसी और पूर्वधारणाओ के बिना, किसी सृष्टि-कर्त्ता या दैवी सत्ता के बाहरी हस्तक्षेप के बिना, प्रत्येक वस्तु की व्याख्या करने मे समर्थ है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी अनुभवातीत सत्ता की आवश्यकता नही है। यदृच्छा और अदृश्य शक्तियो से आगिक रूपो मे परिवर्तन होता है, साथ ही, खाद्य सामग्री की अपेक्षा मानव प्राणी अधिक है, अत जीवित रहने के लिए जीवन-मरण सघर्ष शुरू होता है और वे व्यक्ति जो सयोगवश इस सघर्ष मे अधिक शक्तिशाली सिद्ध होते है, वे जीवित रह जाते हैं। इस प्राकृतिक वरण से नई जातियाँ विकसित होती है।अत करोडो वर्षों मे यान्त्रिक शक्तियो से धीरे-धीरे समस्त जीव उत्पन्न होते है और अन्त मे मनुष्य उत्पन्न होता है। इस विकास क्रम मे उनसे उस मन की भी उत्पत्ति होती है, जिससे वह योग्य बनता है, और उसका विकास भी होता है, इस प्रकार तर्कबुद्धि की भी व्याख्या हो जाती है। यदृच्छा और अदृश्य शक्तियो पर ही सम्पूर्ण रूप से बल दिया गया है। हमने पहले इस बात का उल्लेख किया है कि जीव विज्ञानवेत्ता यह नही चाहते कि हम "प्रयोजन" शब्द का प्रयोग करे, उदाहरण के लिए, जूलियन हक्सले विकास के यान्त्रिक पक्ष पर बल देने के मामले मे स्पष्ट मत रखते हैं। "अजैव स्वरूप की विशाल शक्तियाँ है जो मनुष्य से तटस्थ और उसकी शत्रु हैं। फिर भी उन्होने विकासशील जीवन को जन्म दिया, जिसका विकास, हालाँकि यह अदृश्य और सयोग है, फिर भी हमारी अपनी चेतन इच्छाओ और आदर्शों की तरह, उसी सामान्य दिशा की ओर अभिमुख हैं और इस प्रकार इससे हमारी दिशात्मक क्रियाओ के लिए हमे बाह्य अनुशास्ति प्राप्त होती है। इससे भी मानव मन का जन्म हुआ।"[1]

निस्सन्देह कमियाँ हैं। भौतिक द्रव्य के अस्तित्व की ही पूर्व कल्पना नही करनी है होने वाला कुछ अव्याख्येय अनियमितता की भी पूर्वकल्पना करना है। एक सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ मे, भौतिक द्रव्य अत्यधिक सकेन्द्रित था, दूसरे सिद्धान्त के अनुसार यह सम्पूर्ण दिक् मे सूक्ष्म ढग से फैला है, दोनो मामलो मे किसी अनियमितता को गति उत्पन्न करनी है, जिससे वह विश्व उत्पन्न हो, जिसे हम जानते हैं। इस प्रकार हमने कहा है कि अव्यवस्था से ही व्यवस्था आयेगी, जो तर्कनापरक रूप से न्यायोचित नही हो सकता।* दो अन्य कमियाँ भी है,

जिनका जूलियन हक्सले उल्लेख करना कभी नही भूलते जीवन की उत्पत्ति और मानव मन का भिन्न गुण, इसके बावजूद कि इसके महत्त्व को कम करने के सभी प्रकार के प्रयास किये गये। किन्तु यह देखने के लिए हक्सले की पुस्तको को पढना आवश्यक है कि इन प्रमुख कमियो की भी कितनी आसानी से उपेक्षा की जा सकती है। हाँ, और भी कमियाँ है, उदाहरण के लिए यह मालूम नही कि वास्तविक रूप से नई जातियाँ कैसे उत्पन्न होती है। डार्विन ने यह माना कि धीरे धीरे सूक्ष्म परिवर्त्तन होते हैं, जिनसे नई जातियाँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया गया है, इसके स्थान पर, जातियो की उत्पत्ति के आधार, अब आकस्मिक परिवर्त्तन, उत्परिवर्त्तन, माने जाते है जिन्हे, लाभ-दायक सिद्ध होने पर, उत्तराधिकार मे प्राप्त किया जाता है और इनसे नई जातियाँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु अभी भी हम यह नही जानते कि अनियमितता होती क्यो है ? जातियो की उत्पत्ति की, जो इस सिद्धान्त की मुख्य समस्या है, सन्तोपजनक रूप से, अभी भी व्याख्या नही हो सकती है और डार्विन के साथ मिलकर हम अभी भी यह कह सकते हैं कि परिवर्त्तन नियम से हम काफी अनभिज्ञ हैं।

जब तक वैज्ञानिक सिद्धान्त के साथ हमारा सम्बन्ध है, ये ऐसी कमियाँ नही है, जिन्हे दूर न किया जा सके। यह स्मरण रखने योग्य है कि जीवविज्ञान-वेत्ता विकास के एक ऐसे सिद्धान्त की चर्चा करते है, और हमे हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि यह एक सिद्धान्त है, एक ही प्रकार के तथ्यो की खोज की गयी है, किन्तु उनमे जो सम्पर्क है वह पूर्वधारणा है, एक प्राक्कल्पना है। वैज्ञानिक प्राक्कल्पना के रूप मे विकास प्रत्यय अत्यधिक उपयोगी है, यह तथ्यो की व्याख्या करने मे उस हद तक सहायता प्रदान करता है कि आगे लाभदायक अनुसधान करना सम्भव हो जाता है। किन्तु, जैसाकि सभी सिद्धान्तो के साथ यह बात लागू होती है, वैज्ञानिक को उस हालत मे इसमे परिवर्त्तन लाने के लिए तैयार रहना चाहिए अगर नयी खोजे होती है, जो इससे मेल न खाती हो या अगर यह इन खोजो के अनुकूल न हो सके तो इसे एकदम बदल देना चाहिए। डार्विन के समय से महत्त्वपूण परिवर्त्तन तो हुए ही है, जैसे उत्परिवत्तन और जीन के सप्रत्ययन का प्रस्तुतीकरण, कभी न कभी मौलिक प्रत्यय पर भी इस सिद्धान्त के परिवर्त्तनो का प्रभाव पड सकता है। दूसरे शब्दो मे, अन्य

---

* पृ० ३ देखिए।

सभी सिद्धान्तो की तरह विकास सिद्धान्त से भी ज्ञान की परिमितता का पता चलता है, अत दर्शन के लिए या चरम निरपेक्ष सत्य के रूप मे पूर्ण आधार के रूप मे इसे स्वीकार नही करना चाहिए। इसे अनुसधान का आधार बनाने के लिए वैज्ञानिक पूर्ण रूप से अविकारी है, किन्तु दार्शनिको को इसकी मीमाओ के सम्बन्ध मे आलोचनात्मक ढग से विचार करना चाहिए।

फिर भी, विकास को पूर्ण दशन का आधार बनाया गया है, यह दार्शनिको को तत्वमीमासीय और नैतिक और उमके व्यवहार के सम्वन्ध मे उनके विचारो को प्रभावित करता है। सच तो यह है कि डार्विनवाद ने, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र के बाहर भी, योरोपीय विचारधारा के सम्पूर्ण विकास पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। जीवित रहने के लिए जो निर्मम जीवन-मरण सघर्ष है, उसने नई नैतिकता का रूप ले लिया है, जैसे कि पूंजीवादियो के बीच निर्मम प्रतिस्पर्द्धा है, साम्यवादी जगत् मे निर्मम वर्ग सघर्ष है, और कही निर्मम राष्ट्रवाद है। इसके अतिरिक्त मानवीय इतिहास मे यह पहला मौका है जब मन और तर्कबुद्धि को अब किसी रहस्यात्मक उच्चतर शक्ति के रूप मे, अतिप्राकृतिक दैविक क्षेत्र के अग के रूप मे, जो मानवीय अस्तित्व मे हस्तक्षेप करता है, नही देखा जाता है, प्रत्युत् निम्नतर, जैविक कारको की उपज के रूप मे देखा जाता है, और भौतिकवाद को सुदृढ बनाने के लिए इससे अधिक कोई काम नही हुआ है। "आत्मा" शब्द का अर्थ लुप्त हो गया है और स्वय मानव मन को अशक्त कर दिया गया है। क्योकि, यद्यपि हम अन्तिम रूप से इस बात पर चर्चा कर सकते है कि पशु और मनुष्य मे वास्तविक भेद क्या है, किन्तु इसमे सन्देह नही कि मनुष्य ही एक ऐसा पशु है जो स्वय अपने विचार से प्रभावित होता है, इसलिए कि तर्कबुद्धि के स्थान को कम करने से मनुष्य का स्थान नीचा हो जाता है और उसकी मर्यादा के आधार को क्षति पहुँचती है। प्रारम्भ मे जो तर्कबुद्धि निरपेक्ष एव सभी समस्याओ का समाधान करने मे समर्थ समझी जाती थी, अन्त मे अपने को निम्नीकृत करके सभी समस्याओ को दूर करती प्रतीत होती है।

मानव जीवन और अनुभूति के सम्वन्ध मे इस दर्शन के अर्थ को समझने के लिए नीट्त्शे के दर्शन की ओर मुडना सवसे अच्छा होगा। यह अचम्भे की बात लग सकती है कि मैं नीट्त्शे और डार्विन मे प्रत्यक्ष रूप से सम्पर्क स्थापित करू, किन्तु मुझे आशा है कि डार्विन के प्रति नीट्त्शे का आभार प्रकट करने से, प्रगति मे उन्नीसवी शताब्दी की आस्था को अधिक पूर्ण रूप से समझने मे आसानी होगी।

यह सत्य है कि फ्रासीसी भाषा का महान प्रशसक नीट्त्शे अग्रेजी भाषा की उपेक्षा करता है और यह उपेक्षा डार्विन की कटु आलोचना करते समय सामने आती है। उसे डार्विन मध्यम दर्जे का बुद्धिमान विनम्र अग्रेज प्रतीत होता है, जिसका "अबोधगम्य एकपक्षीय सिद्धान्त," "अग्रेजो की अत्यधिक आबादी के दम घुटने वाले वातावरण मे, गरीबो के तग जीवन मे" विलीन हो जाता है।[1] फिर भी कुछ विचलनो और आलोचनाओ के बावजूद नीट्त्शे के दर्शन पर डार्विन का काफी प्रभाव पडा है, विशेष रूप से उस भाग पर जो अतिमानव के आदर्श की सृष्टि करता है। अत नीट्त्शे किस प्रकार अपने आदर्श पर पहुँचता है, इस बात की खोज करना सबसे अधिक सहायक होगा, क्योकि वह विकास-सिद्धान्त को पूर्ण दर्शन मे परिणत करने की आवश्यकता को औरो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से देखता है। इस बात मे निश्चय ही कोई सन्देह नही—उन लोगो के लिए भी नही, जो उसके दर्शन को अस्वीकार करते हैं—कि नीट्त्शे सबसे चतुर और दूरदर्शी विचारको मे एक था, और चूंकि वह कई प्रकार से अस्तित्ववादियो का पूर्ववर्त्ती था, यह दिखलाने मे वह कभी असफल नही रहता है कि अमूर्त पदो का अर्थ उस वस्तु से है जो मानवीय अनुभूति मे अनूदित होती है।

अगर मनुष्य सम्पूर्ण रूप से जैविक विकास की उपज के रूप मे समझा जाए, तो वह जो भी कार्य करता है उसकी व्याख्या उसके शारीरिक गठन के परिणाम के रूप में करनी होगी, नैतिक प्रमाणो और मूल्यो को सापेक्ष दिखलाना होगा, क्योकि वे इन अवस्थाओ पर आश्रित हैं। मनुष्य को यह स्वीकार करना होता है, जैसाकि नीट्त्शे कहता है कि "शारीरिक मूल्यो की तुलना मे, नैतिक मूल्य भ्रामक है।"[2] इस विचारधारा का अनुसरण करने के योग्य होने के लिए, नीट्त्शे मनोविज्ञान को सभी समस्याओ के अपने उपागम का आधार बताता है क्योकि किसी व्यक्ति को यह दिखलाने के लिए कि हम उन अभिप्रेरको से कितना प्रभावित होते हैं, जिनसे हम अनभिज्ञ हैं यह सबसे अच्छा साधन है। वह एक अच्छा मनोवैज्ञानिक है, हालाँकि वह मुख्य रूप से मनुष्य के आचरण और व्यवहार के आत्म-सम्मोहक पक्ष पर एकाग्र करता है। वह मानव मन के उन क्षेत्रो को भी अनावृत करने से चूकता जो "अतिमानवोचित" है। मनुष्य के सबसे उदात्त प्रयासो का विगोपन किया जाता है, जो उसकी पाशविक मूल प्रवृत्तियो को छिपाने वाले नकाब है। जहाँ कही भी मनुष्यो ने पहले उत्साह और प्रशसनीय भावना की

प्रचुरता की अनुभूति प्राप्त की, वहाँ "दूषित भावनाएँ" और "घोर विलासिता" प्रकट हो गयी है और सद्गुण, स्थूल अहमन्यता, उदासीनता, बेईमानी, और अधिकार के लोभ के सगम स्थल के रूप मे स्वीकार किये गये हैं। वस्तुओ का भोग उनके लिए नही किया जाता है, प्रत्युत "वस्तुओ के माध्यम से कोई भोग करता है"।[1] हम असगत तथा अन्यायी प्राणी हैं, जिनकी "कृतज्ञता प्रतिशोध का सौम्य रूप है,"[2] और जिनकी करुणा, जो लगभग बिना अपवाद के ईर्ष्या से सम्बद्ध है, एक ऐसा मार्ग है, जिसके द्वारा निर्बल को बल अर्थात् "चोट पहुँचाने का बल"[3] मिल सकता है। "लगभग वे सभी अभिप्रेरक जिनका खुले आम हम प्रदर्शन करते है, हमारे कार्यो के वास्तविक प्रेरणा स्रोतो के छिपाने के काम मे आते हैं, हम कभी-कभार भूल करेगे जब अतिवादी कार्यों के मिथ्याभिमान को, मध्यम दर्जे के कार्यो के लिए आदत को और छोटे कार्यों के लिए भय को उत्तरदायी ठहराएँगे।"[4] आस्था का अर्थ कुछ नही होता है, क्योकि यह "तर्कबुद्धिशून्य मार्गदर्शक सिद्धान्त का अभिग्रहण मात्र है"[5] और "मनुष्य ऐसी प्रत्येक वस्तु की सचाई मे विश्वास करता है, जिसमे प्रत्यक्षत दृढता से विश्वास किया जाता है"।[6] किसी मत की विश्वजनीनता भी किसी प्रकार मे निर्णायक नही है "किसी सिद्धान्त को सफल बनाने मे सहायता प्रदान करने का अर्थ अक्सर बुद्धिहीनता के साथ उसे मिलाने से है, अर्थात् बुद्धिहीनता के प्रभाव से वह सिद्धान्त सफल होता है"।[7]

इस सुस्पष्ट मनोवृत्ति से नीट्त्शे एक तर्कदोष स्वीकार करता हुआ प्रतीत होता है—यह एक ऐसा तर्कदोष है जिसके समक्ष उसे झुकना पडा, जिससे वह विकासवाद को दर्शन का रूप दे सके, और उसकी त्रुटि साफ झलक जाती है, क्योकि यह तर्कदोष अभी भी अनेक सन्दर्भो मे हमारे साथ है। हमने पहले सद्-गुण और दुर्गुण के सम्बन्ध मे उसके वर्णन की चर्चा की है, ये सप्रत्यय स्पष्ट रूप से मनोविज्ञान के क्षेत्र के बाहर से लिए गए है,* जो विचार प्रक्रियाओ से सम्बन्धित है, मौलिक सप्रत्ययो से नही। नीट्त्शे जो कुछ भी कहता है, अक्सर सत्य ही होता है, किन्तु यह सम्पूर्ण सत्य नही है, मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओ के क्षेत्र से परे विचार का एक गहनतर स्तर है। यह कोई सयोग की बात नही है कि दुर्गुणो की गणना-अहमन्यता, उदासीनता, बेईमानी, अधिकार लोलुपता-प्रत्येक व्यक्ति के दुर्गुण-विचार के लगभग अनुरूप ही है, निर्णयो से परिणाम निकाले जाते है और निर्णय प्रमाणो और दृढ विश्वासो पर आधारित है। मनोविज्ञान

* पृ० १३ देखिये।

की सहायता से कोई यह दिखला सकता है कि प्रमाण किस प्रकार कार्य करते हैं, उनका किस प्रकार उपयोग और दुरुपयोग किया जाता है, किन्तु उनका मूल कही और निहित है । आधुनिक उदाहरण प्रस्तुत करने मे, जो अनिवार्य की व्याख्या कर सके और इस प्रकार के दर्शन मे "अनिवार्य रूप से" को छोड दिया गया है, विभेदीकरण और बढ जाता है मनोविश्लेपणवादियो का दावा है कि ईश्वर मे आस्था का आधार प्राय पितृ–मनोग्रन्थि माना जाता है, अर्थात् मनुष्य जब बढता है तब वह अपने पिता के सरक्षण से तथा बचपन मे उनके प्रति जिस भय की अनुभूति की थी, उनसे वचित रह जाता है, अत उनके स्थान पर वह स्वर्ग मे एक पिता की कल्पना करता है । अनेक लोगो के साथ यह बात सच हो सकती है किन्तु इससे ईश्वर का अस्तित्व या अनस्तित्व सिद्ध नही होता । लोग कई प्रकार से ईश्वर मे आस्था रखने के विचार तक पहुँचते हैं, और उनमे से कुछ गलत भी हो सकते हैं, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न का निर्णय विभिन्न आधारो पर किया जाना चाहिए । ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण के रूप मे एक विशेप मनोवैज्ञानिक घटना का प्रयोग करना बिल्कुल गलत है ।

किन्तु इसी प्रकार से नीट्त्शे उस वस्तु को प्राप्त करता है जो जैविक सिद्धान्त को दर्शन का आधार बनाने के लिए अर्थात् नैतिकता मे अविश्वास करने के लिए अपेक्षित है । स्पष्ट रूप से, अगर हमे जीवित रहने के लिए जीवन-मरण सघर्ष प्रारम्भ करना है तो नैतिकता का कोइ महत्त्व नही है, और अगर प्रगति अर्थात् स्वचालित और अपरिहार्य प्रगति है तो नैतिकता को निरर्थक भी होना चाहिए । अगर प्रत्येक वस्तु, जो घटित होती है, वस्तुओ को बेहतर बनाने के लिए बाध्य है, तो नगण्य नैतिक सकोचो के लिए इस आश्चर्यजनक प्रक्रिया मे अवरोध डालना निरी मूर्खता होगी, और यहाँ तक कि यह अनैतिक कार्य भी होगा । अत नैतिकता को अलग करना है, और अपनी मनोवैज्ञानिक अन्तंदृष्टि पर इस अस्वीकरण को आधारित करते हुए, नीट्त्शे वही करता है । अगर समस्त सद्गुण दिखाये है, तो नैतिकता वह नही है जिसे निरपेक्ष नैतिक नियम के परिमाण होने का, वास्तविक सद्गुणो का चेतन मूर्त रूप से होने का दावा करते हैं, प्रत्युत यह एक बहाना है, और उन अभिप्रेरको को छिपाने के विशेष उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक है, जिन्हे परोक्ष अभिप्रेरक के रूप मे स्वीकार करना चाहिए । क्योकि उनका प्रच्छन्न उद्देश्य निर्बलो से बलवानो की हार है ।

नीट्त्शे नैतिकता और ईसाई धर्म पर जो आक्षेप करता है उसके मूल मे यही सतत योजना रही है, दोनो को दोपपूर्ण माना गया है क्योकि इनसे बल-

वान व्यक्ति का स्वामी होना, जैसाकि उसे होना चाहिए, असम्भव हो जाता है। हम कुछ ही क्षणो मे बलवान व्यक्ति के आदर्श के सम्बन्ध मे चर्चा करेंगे, किन्तु प्रारम्भ से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवित रहने के लिए यह आदर्श जीवन मरण सघर्ष की अवस्थाओ के कितना अनुरूप है जिसके आवश्यक परिणाम ही स्पष्ट किये गये है। अगर प्राकृतिक व्यवस्था को-जो अनिवार्य रूप से आदर्श व्यवस्था होगी—अक्षुण्ण छोड दिया जाय तो वे सभी जो निर्बल हैं, बलवानो के अधीन हो जाएँगे, अत नीट्शे के अनुसार निर्बल व्यक्तियो ने अपनी रक्षा करने के लिए सामान्य या ईसाई धर्म सम्बधी नैतिकता स्वीकार की। इस नैतिकता का पालन उस बलवान व्यक्ति की अपेक्षा निर्बल व्यक्ति अधिक आसानी से करता है, जिसमे मूलप्रवृत्तियाँ और अन्त प्रेरणाएँ हैं और अगर इसे उच्चतम प्रमाण बना दिया जाय तो निर्बल व्यक्ति वरिष्ठ प्राणी प्रतीत होता है। अत हमारी समस्त नैतिकता दास नैतिकता, जनसाधारण नैतिकता दीखती है, जो स्वस्थ व्यक्ति को ध्वस्त करने के लिए है, जिससे उसे अधीन किया जा सके। "यूरोपीय नैतिकता का छद्मवेश धारण करता है, क्योकि वह अस्वस्थ, विवर्ण और अपग हो गया है, जिसे निस्तेज होने के पर्याप्त कारण हैं, क्योकि वह निष्फल सा, अपूर्ण, निर्बल और भद्दी वस्तु है।"[१] धर्म एक प्रकार का मनस्ताप है, जो इस बीमारी को उत्पन्न करता है और उसका प्रयोग करता है। विशेष रूप से, ईसाई धर्म के साथ, "नैतिका मे दास-विद्रोह" आरम्भ होता है, जिसने सफाई दी है और उन सब पर विजय प्राप्त की है जो "अनुपयुक्त, कृपापात्र, निम्नवर्ग के, मानवजाति से निकाले हुए लोग हैं।" ईसाई धर्म के अर्थ मे उन्नति वास्तविक उन्नति के विपरीत है, क्योकि इसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य "निस्तेज, निर्बल, हताश, शिथिल, अशक्त और नपुसक है।" ईसाई धर्म ने मनुष्य को सम्पूर्ण रूप से "परास्त कर दिया और तोड दिया और उसे कीचड मे डुबो दिया"।[२] सिर्फ "शुभ और अशुभ से परे" वास्तविक जीवन आरम्भ होता है।

नैतिकता और ईसाई धर्म के सम्बन्ध मे इस प्रकार की अधिकाश आलोचना ध्यान देने योग्य है, उदाहरण के लिए, इस प्रकार की भर्त्सना करना कि जबकि बौद्ध के व्यवहार और कार्य गैर-बौद्ध से भिन्न होते हैं, ईसाई प्रत्येक व्यक्ति की तरह ही व्यवहार और कार्य करता है और ईसाई धर्म उन अनुष्ठानो और चित्तवृत्तियो का धर्म है, जिन्हे वह अपने दैनिक जीवन से अलग रखता है। (दूसरे अध्याय मे नीट्शे दर्शन के भावात्मक पक्षो की चर्चा की जायेगी) किन्तु वह और आगे बढता है और उसका दूसरा कदम एक बार फिर दार्शनिक

डार्विनवाद की अपेक्षाओ के अनुरूप उठता है, ईश्वर को भी अस्वीकार करता है। वह बार-बार इस बात पर बल देता है कि "ईश्वर निर्जीव है" और आलकारिक रूप से वह पूछता है कि "क्या विचारक को अभी भी ईश्वर की प्राक्कल्पना करने की आवश्यकता है।"[१] वह बिना किसी शर्त के सभी धर्मों की आलोचना करता है—"कभी भी किसी धर्म मे, प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से, सिद्धान्त रूप मे या प्रतीक रूप मे, सच्चाई नही रही है।"[२] इस प्रकार अप्रत्याशित घटनाओ और अन्धशक्तियो के विधान और शक्तिशाली व्यक्ति की मुक्त प्रशसा के लिए मार्ग खुला है।

कमजोरो पर तरस खाना मूर्खता है। दासता हमेशा "प्रत्येक उच्चतर सस्कृति की अवस्था थी"[३] और अगर महान आत्माएँ होनी है तो अहमन्यता आवश्यक है। जो व्यक्ति सस्कृति का विकास करता है, वह ईसाइयो और नीतिवादियो की कल्पना से भिन्न प्रतीत होता है। "वह अपने साधन के रूप मे झूठ, हिंसा, अत्यधिक निष्ठुर अहमन्यता का प्रयोग इस खूबी से करता है कि उसे दुष्ट और पिशाच ही कहा जा सकता है।"[४] "अधिक पूर्ण मनुष्य" हमेशा "अधिक पूर्ण पशु"[५] थे। सहिष्णुता और शान्ति अशक्तता के द्योतक हैं, युद्ध को एक प्रकार से वास्तविकता के रूप मे ही स्वीकार करता है, क्योकि "युद्ध समस्त शुभ का जनक है"[६] —"यह यूनानी भाषा का थोडा ही गलत अनुवाद है, जिसका महत्त्व इसी बात को दिखलाने मे है कि युद्ध अपरिहार्य है।"[७] "अगर कोई युद्ध का परित्याग करता है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह महान जीवन का परित्याग करता है।"[८] हमे मनुष्य मे एक नये प्रकार के अन्त करण को जन्म देना चाहिए, जिससे हम अपने पारम्परिक सद्‌गुणो को अशुभ अन्तःकरण के साथ और बल और शक्ति को शुभ अन्त करण के साथ मिला सकें। मनुष्य को "एक शिकारी पशु, शिकार और सिद्धि की खोज मे लुब्ध होकर घूमने वाला भव्य स्वर्णाभिकेश पशु बनने का प्रयास करना चाहिए · उसे पशु के रूप मे फिर से प्रकट होना चाहिए और जगल लौट जाना चाहिए—महान जातियो ने ही, जहाँ कही भी वे गये अपने पद चिन्हो मे "जगलीपन का सप्रत्यय छोडा है।"[९] मूल रूप मे जीवन शक्ति जो उन्नीसवी शताब्दी के लिए इतना वाछनीय प्रतीत हुई, बिना शर्त विजयी हुई है।

जैविक प्रमाणो को स्वीकार करने के लिए, विशुद्ध जीवन शक्ति को सबसे अधिक महत्त्व देना आवश्यक है, परन्तु इसका सम्बन्ध शायद ही अहेरी पशु और जगलीपन की प्रशसा करने से है। फिर भी अतिवादी कथन एक बार फिर इस

विचार के तात्विक पक्षो पर प्रकाश डालता है। परन्तु अन्तिम आदर्श का वर्णन शुरू करने के पूर्व, तर्कसगत— या कुछ तर्कविरुद्ध समर्थन दिखलाने के लिए, जो इस प्रकार के सिद्धान्त मे आवश्यक हैं, कुछ बातो का उल्लेख कर देना चाहिए।

नीट्त्शे के प्रारम्भिक दर्शन का उद्देश्य इस दावे को सिद्ध करता है कि "कोई भी वस्तु सत्य नही" है, अत "प्रत्येक वस्तु अनुमत" है। कोई भी वस्तु इसलिए सत्य नही है कि अगर सब कुछ जातियो की आवश्यकताओ पर आश्रित है तो कोई भी चीज नियत, निरपेक्ष सत्य नही है, यह केवल परिवर्त्तनशील शारीरिक आवश्यकताएँ हैं। परन्तु इस प्रकार का कथन व्याघाती है, और सापेक्षता को सर्वग्राही बनाने का प्रयास करते समय जिससे हम बच नही सकते। नीट्त्शे सत्य की परिभाषा देते हुए कहता है कि "यह एक प्रकार की त्रुटि है, जिसके बिना प्राणियो की एक खास प्रकार की जातियो का अस्तित्व नही हो सकता"[1]। किन्तु इस दावे को सार्थक होने के लिए यह आवश्यक है कि यह यथार्थ और निरपेक्ष रूप से सत्य हो। यह सभी सापेक्ष सत्यो का तर्कदोष है, जबकि वे मौलिक समझे जाते हैं, अन्त मे उनका आधार अभी भी ऐसा होना चाहिए, जो सत्य समझा जा सके, अन्यथा सार्थक रूप से उन पर विचार भी नही हो सकता। "जीवन कोई युक्ति नही है, त्रुटि जीवन की शर्तो मे एक हो सकता है,"[2] किन्तु यह जीवन जिसके विरुद्ध वह हमे सचेत करता है, उसके लिए अमोघ मापदण्ड है। वह अनेक निरपेक्ष सत्यो मे विश्वास करता है, उदाहरण के लिए, वह आनुवशिता मे विश्वास करता है, और वह निश्चय ही अपने मनोविज्ञान को अमोघ मानता है। किन्तु जब वह अपने इस दावे को सिद्ध करता है कि "प्रत्येक वस्तु अनुमत है" तब वह उसी प्रकार की भूल करता है। वह "नियम शब्द से भागना चाहता है", जिसका अर्थ उसे रुढिगत नैतिकता प्रतीत होता है "कोई नियम नही है, प्रत्येक शक्ति प्रत्येक क्षेत्र मे, अपनी प्रकृति के अनुरूप कार्य करती है।" किन्तु फिर अगर यह किसी नियम का प्रतिपादन है, तो वह स्वय कहता है "यह तथ्य कि कोई भी अन्य वस्तु सम्भव नही है परिकलन का आधार है"।[3] सच तो यह है कि वह एक नया नियम और एक नई नैतिकता की स्थापना करने के लिए सभी मूल्यो का पुनर्मूल्याकन करना चाहता है, क्योकि किसी व्यवहारसहिता के बिना कार्य करना असम्भव है। अगर हम निरपेक्ष सत्य को अस्वीकार करें, और नैतिकता स्वीकार कर लें, केवल इसलिये कि हम मतर्क और यथार्थवादी होना चाहते हैं और असगत दावो से बचना चाहते हैं तो हम कार्यसाधकता और अवसरवादिता मे विश्वास लाने मे योग देते हैं, जिसके विरुद्ध कामू ने हमे

सचेत किया* "यह एक ऐसा विश्वास है, जो शक्तिशाली मनुष्य को महान बनाने" के नीट्से के सभी प्रयासो के बावजूद "स्वर्णाभिकेश पशु" को स्वीकार करने के निहित अर्थ से थोडा ही भिन्न है।

इन प्रयत्नो का एक दूसरा पक्ष भी है। नीट्से सभी परिपाटियो और पूर्वग्रहो से पलायन करना चाहता है, जिससे वह बिना किसी पूर्वधारणा के, प्रत्यक्ष रूप से जीवन का सामना कर सके—यह एक प्रशसनीय तथा साहसपूर्ण प्रयास है, क्योकि हम अगले अध्याय मे देखेगे कि यह कई प्रकार से लाभदायक है। किन्तु वह बिना किसी पूर्वधारणा के आरम्भ करने मे असमर्थ रहता है। जब वह जीवन शक्ति की प्रशसा करता है, तब वह स्पष्ट रूप से अवनति के भय से प्रभावित है, जिसने उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे यूरोप को आक्रान्त किया—भय यह था कि यूरोपीय व्यक्ति के स्वास्थ्य और जैविक शक्ति को उसके बौद्धिक विकास से इस हद तक क्षति पहुँची कि उसका जीवित रहना ही खतरे से खाली नही रह गया। यह भय सभी जगहो पर देखा जा सकता है फ्रान्स मे "फिन दि सिसूल" की उपासना प्रारूपिक थी, और यह भावना इग्लैण्ड मे भी फैली जहाँ अवनति का भय, उदाहरण के लिए, डी० एच० लॉरेंस की कृति मे देखा जा सकता है। अनेक लेखको ने रूस को इस बात के लिए सचेत किया कि वह पाश्चात्य जीवन प्रणाली न अपनाये क्योकि पश्चिम का सर्वनाश होता प्रतीत हुआ। जर्मनी मे, शापेनहावर और नीट्से के प्रभाव मे, नवयुवक टॉमस मान, स्टीफेन जॉर्ज और अन्य लोगो ने उसी भय की अभिव्यक्ति दी। "स्वर्णाभिकेश पशु" का अर्थ प्रतिकारक रूप मे लिया गया है। सम्भवत हमारे लिए इस भय का पुन अनुभव करना कठिन है, जिसने उस समय के अनेक महान व्यक्तियो के मन को आक्रान्त किया, क्योकि अवनति होना आरम्भ नहीं हुआ, यूरोपीय व्यक्ति दो विश्वयुद्धो के बावजूद अच्छे स्वास्थ्य मे जीवत रहा है, हालाँकि फिर से वह जगली हो गया है—किन्तु यह एक दूसरा ही मामला है। फिर भी उस समय यह भय इतना अधिक था कि नीट्से ने भी एक सैद्धान्तिक कथन द्वारा इसका विरोध किया "यह जगत् शक्ति की इच्छा है—और कुछ नही।"[1] यह एक सिद्धान्त है जिसका प्रभाव उस समय लगभग समाप्त हो जाता है जब एक बार भय दूर हो जाता है।†

---

* पृ० १६ देखिए।

† इस कथन की निस्सन्देह तत्त्वमीमासीय अर्थापत्तियां, है किन्तु यहां मेरा इन बातो से सम्बन्ध नही हैं।

परन्तु शक्ति की इच्छा पर बल देना अपने आप मे महत्त्वपूर्ण भी है। अवनति के भय ने, निश्चय ही, मानव समाज मे जीवित रहने के सघर्ष को और तेज कर दिया। नीट्त्शे ने शक्ति की इच्छा के प्रभाव के रूप मे एक दूसरा आवेग काम करते हुए दिखाया—मनुष्य को ईश्वर बनाने का प्रयास। ईसाई धर्म ने देव पुरुष की ओर इतना ध्यान केन्द्रित किया कि अब "देव मृत है"। उसके स्थान पर पुरुष को देवता बनाना है। यह अन्त प्रेरण, सम्भवत दोस्तोविस्की के एक पत्र द्वारा सवसे अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है जो नीट्त्शे द्वारा इन विचारो का विकास करने के पूर्व ही नीट्त्शे की तरह बोलता है। "दि पोजेस्ड" मे किरिल्लाव इस वात से आश्वस्त है कि "ईश्वर नही है।" और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "अगर ईश्वर का अस्तित्व है तो यह सब उसकी इच्छा है और उसकी इच्छा से हम बच नही सकते। अगर ईश्वर का अस्तित्व नही है तो यह सब मेरी इच्छा है और मैं आत्मा दिखलाने के लिए वाध्य हूँ ... अगर कोई ईश्वर नही है तो मै ईश्वर हूँ।"[1] या जैसाकि नीट्त्शे कहता हैं—"अगर ईश्वर होता तो मैं ईश्वर न होने से कैसे वचित रह सकता ? अत ईश्वर नही है।"[2] क्या इस बात पर आश्चर्य प्रकट करना अयुक्तिसगत है कि आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान और शिल्पविज्ञान की विशाल प्रेरक शक्ति के पीछे उसी अभिप्रेरक का अनुभव किया जा सकता है और हमारे युग मे क्या इसके होने के पर्याप्त कारण नही है ? देवत्वविहीन पुरुष को अगर एकबार दिव्य मान लिया जाय तो वह शक्ति प्राप्त करने के लिए अवश्य प्रयत्नशील होगा।

यह स्वव्याघाती प्रतीत हो सकता है, क्योकि वैज्ञानिक विचारण का उद्देश्य, जैसाकि हमने कहा है नियतत्त्ववाद होना चाहिए, और अपरिहार्य ऐतिहासिक एव प्राकृतिक नियम विकासवाद के आधार है। किन्तु यह व्याघात सिर्फ इसी बात की पुष्टि करता है कि नियतत्त्ववाद को पूर्ण रूप से स्वीकार करना मनुष्य की शक्ति से असम्भव है।* नियतत्त्ववाद का अर्थ यह होता है कि इच्छा स्वातन्त्र्य का अस्तित्व नही है, क्योकि सभी घटनाएँ, जिनमे मनुष्य की ऐसी क्रियाएँ भी शामिल है जो स्वतन्त्र क्रियाएँ प्रतीत होती है, वाह्य आवश्यकता से निर्धारित होती हैं। परन्तु नियतत्त्ववाद पर आधारित सभी उपदेश मनुष्य से अपील करते हैं कि वह इस उपदेश के अनुरूप कार्य करें—अर्थात् वे उसके इच्छा स्वातन्त्र्य से अपील करते हैं। जुलियन हक्सले अन्धशक्तियो एव यदृच्छाओ के पक्ष मे प्रयोजन को अस्वीकार करता है, फिर भी वह हमसे इस बात की अपेक्षा करता है कि

* पृष्ठ १५ देखिये।

हम सुजनन-विज्ञानो को काम मे लाये ।* कार्ल मार्क्स जिसके लिए साम्यवाद उद्देश्य या आदर्श नही है, प्रत्युत् आवश्यकता से उत्पन्न "घटनाओ का वास्तविक प्रवाह" है, अपने अनुयायियो से यह चाहता है कि वह क्रान्ति करें। इसमे आश्चर्य की बात नही कि नीत्से की मनुष्य को ईश्वर बनाने की इच्छा महत्त्वपूर्ण प्रयास है, जो हालाँकि अपने रूप और वस्तु मे पूर्णत भिन्न है, उन्ही आधारो पर आधारित है।

उसका ईश्वर अतिमानव है, महान बर्बर है, जिसमे पशु की शक्ति और सौन्दर्य का सामजस्य है और उसमे महान बौद्धिक शक्तियाँ है, जो स्वय, जनसाधारण जगत् पर और भाग्य के ऊपर भी विजय प्राप्त करने मे उसे समर्थ बनायेंगी। वह इस पृथ्वी का स्वामी होना है, जो "इतिहास को *अर्थ* प्रदान करते हुए पृथ्वी के लक्ष्य को पूरा कर सके। नृत्यवत् प्रशातता और गहनतम गम्भीरता को असवेदनशील निष्ठुरता और दु ख की महान शक्ति का समवर्गी होना है। शक्ति की इच्छा के अन्तिम अवतार के रूप मे, उसे हत्या करने की अनुमति है और उसे अपराध के निकट रहना चाहिए ।

यह विचार कुछ हद तक, विकासवाद से उत्पन्न है, जो अपने वैज्ञानिक रूप मे, एक और अव्याख्येय कमी रखता है, जिसका उल्लेख हमने अभी नही किया है। प्राकृतिक नियम के रूप मे, विकास को सतत प्रक्रिया होना चाहिए, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह मनुष्य मे अपने अन्तिम शिखर पर पहुँच जाता हैं और उसके बाद कार्य करना बन्द कर देता है। अतिमानव स्पष्ट रूप से नीत्से द्वारा इस त्रुटि का निराकरण करने का प्रयास है। चेतन रूप से अचेतन रूप से इस बात की खोज करने के लिए अगले कदम का पूर्वानुमान कर लेता है कि मनुष्य का और कैसे विकास हो सकता है। परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि अतिमानव के दिव्य दर्शन से अति प्राचीन आदर्श पुन स्थापित हो जाता है।

चूंकि अतिमानव बहुत दूर की वस्तु है, अत यह बात समझ मे आ सकती है कि उसका वर्णन अस्पष्ट रह जाता है, परिभाषा से उसे समस्त वास्तविक ज्ञान से परे होना चाहिए । किन्तु एक विशिष्टता है जिसकी नीत्से इतनी प्रशसा करता है कि हम यह अनुभव करते हैं कि अतिमानव का स्वरूप नेपोलियन की तरह है। उपलब्धियो के सम्बन्ध मे नीत्से कहता है कि वे लगभग उच्चतर आनन्द के इतिहास हैं जिसे सबसे महान व्यक्तियो ने अपने सबसे महान क्षणो मे इसी शताब्दी मे उपलब्ध किया है • वह पुरातन स्वरूप के

* पृष्ठ ३५ पर दूसरा उद्धरण देखिये ।

पूर्ण भाग को फिर से सतह पर लाया है, और जो, सम्भवत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है "और इस प्रकार उसने एक युग का सूत्रपात किया है।" हम इस सम्बन्ध मे नेपोलियन के ऋणी हैं‥‥‥ अर्थात् युद्ध की अनेक शताब्दियाँ जो इतिहास मे बेमिसाल रही है, अब एक दूसरे का अनुगमन कर सकती है, सक्षेप मे, हम कह सकते हैं कि "हमने युद्ध के क्लास्किी युग मे प्रवेश किया है • जिसे आने वाली शताब्दियाँ ईर्ष्या से और पूर्णता की अभिव्यक्ति के रूप मे विस्मित होकर देखेगी।"[1]

अतिमानव सर्वाधिक रूप से समस्त महान योद्धा, निष्ठुर विजेता का प्रतिनिधित्व करता है। यह सत्य है कि पिछले उद्धरण मे, हम "अन्य" नीट्त्शे, अर्थात् पैगम्बर के रूप मे उसे देखना शुरू करते है जो हमे भावी खतरो से सचेत करता है, जबकि अधिकाश आस्तिको का यह विचार था कि युद्ध भूतकाल की वस्तु है और बीसवी शताब्दी स्वर्णयुग देखेगी, वह कुछ लोगो मे एक था, जिसने युद्ध युग का अनुमान लगा लिया और दुर्भाग्यवश वह ठीक था। किन्तु प्रहले वह इन युद्धो का स्वागत करता है क्योकि वह चाहता है कि अतिमानव एक महान योद्धा हो और ससार उसकी निरपेक्ष शक्ति को स्वीकार करे। नेपोलियन को प्रचलित उपासना से पहले ही इस बात का पता चल गया था कि योद्धा की प्रशसा चरम शिखर पर पहुँच गयी थी क्योकि यूरोप मे ईसाई मत का महत्त्व समाप्त हो गया था। यह लौटने मे समर्थ था क्योकि इसी बात पर ईसाई धर्म यूरोपीय का धर्म परिवर्तन करने मे असफल रहा, मध्य युग मे भी, वीर बनने की लालसा प्रबल रही, जबकि शौर्य के विचित्र आदर्श ने ईसाई धर्म को (जो इस बात की अपेक्षा करता है कि किसी को हत्या नही करनी चाहिए और अपने दुश्मन से प्रेम का व्यवहार करना चाहिए) युद्ध के आदर्शीकरण के साथ मिला दिया। नीट्त्शे ही ऐसा पहला व्यक्ति है, जिसने इस विचार को चेतन एव सम्मोहक आधुनिक अभिव्यक्ति प्रदान की, उसके साथ ही यह मानव जन साधारण के स्वामी और विश्वविजेता के रूप मे वीर पुरुष-हाल के इतिहास मे सबसे शक्तिशाली अभिकर्त्ताओ मे एक हो जाता है।

यही मुख्य कारण है जिससे नीट्त्शे पर नाज़ी का पूर्ववर्ती होने का आरोप लगाया जाता है और वे उसे अपने दार्शनिक के रूप मे अभिनन्दन करते हैं। यह निस्सन्देह एक पक्षीय अर्थ है, नीट्त्शे का दूसरा पक्ष भी है, जिस पर हम अगले अध्याय मे पूर्ण रूप से विचार करेंगे, किन्तु काफी हद तक यह आरोप सही है। जो अतिमानव का समर्थन करते है, वे यह बतलाते हैं कि वह प्रशान्त

नर्तक, जीवन प्रेमी, प्रफुल्ल एव प्रसन्नचित्त रूप मे भी दिखलाया गया है, फिर भो उसकी प्रफुल्लता हमेशा कृत्रिम है, और अगर हम यथार्थ व्यक्तियो पर इन निहित विचारो को लागू करते है तो इसका सम्भावित परिणाम आदर्शकृत जरतुश्त की अपेक्षा जिसमे अनुपम गुण हैं, हवा से बात करने वाला वीर अश्वारोही निकलता है । यद्यपि नीट्त्शे ने उन्ही विचारो को पूर्ण अभिव्यक्ति दी, जो उसके समय मे पहले से ही काम कर रहे थे, फिर भी इसमे सन्देह नही कि उनके विनाशकारी विकास मे उसके उपदेश ने मौलिक रूप से योग दिया ।

डार्विन के प्रभाव के कारण-आनुवशिकता मे नीट्त्शे की आस्था से जो एक कारक प्रस्तुत किया गया उसके परिणामस्वरूप अतिमानव का आदर्श विशेष रूप से हानिकर हो जाता है । अधिकाश वैज्ञानिको के लिए उसका मत अधिक सैद्धान्तिक ही सिद्ध होता है, किन्तु एक बार फिर अतिवादी कथन, विकासवाद पर दर्शन को आधारित करने के परिणामो से राहत प्रदान करता है । नीट्त्शे का विश्वास है कि अन्य प्रभाव आनुवशिता के विरुद्ध अव्यक्त है । "अगर आपको माँ-बाप के बारे मे थोडी जानकारी है तो आप उनके बच्चे के सम्बन्ध मे निष्कर्ष निकाल सकते हैं और सबसे अच्छी शिक्षा से इस प्रकार को आनुवशिता के सम्बन्ध मे दूसरे लोगो को धोखा देने मे ही सफल हो सकते है ।"[१]... फिर भी अगर शिक्षा निराशाजनक है, तो उच्चतर जाति अर्थात् अतिमानव तक पहुँचने का एक ही तरीका है और वह है जन्म देना । यही परिणाम जिसकी अपेक्षा नीट्त्शे करता है और इसका जो अर्थ है, उसे स्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त करता है । वह सबसे निम्न भारतीय जाति चण्डाल के धार्मिक नियमो, परगमन, कौटुम्बिक व्यभिचार और अपराध के फल, की प्रशसा करता है, क्योकि इनसे ये लोग धीरे-धीरे "घातक महामारियो और सबसे भयकर रतिरोगो" से समाप्त हो जाते हैं । निम्नतर जाति का विनाश प्रजनन-सम्प्रत्यय का आवश्यक परिणाम हैं । वह हमेशा इस बात की माँग करता है कि नयी जाति उत्पन्न हो और सभी असन्तुष्ट, विद्वेषी और ईर्ष्यालु व्यक्तियो की उत्पत्ति पर रोक लगे, अपराधियो का बन्ध्यकरण हो और करोडो अयोग्य प्राणियो का विनाश हो ।[२] इन कथनो के पीछे नाजी गैस चैम्बरो की काली छाया दीखती है ।

निस्सन्देह यह अनुचित सरलीकरण होगा कि इस प्रणाली के विकास के लिए एक ही दार्शनिक को जिम्मेदार ठहराया जाए, जो सबसे अनुचित और बुरी प्रणालियो मे एक है और जो कभी देखी नही गयी । फिर भी, समान रूप से, इस बात मे भी सन्देह नही कि महान् दार्शनिक ने इस प्रकार की जो माँगें

की, उन्हे कार्य रूप दिया। परन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि केवल नीट्त्शे के दर्शन से नही, विकासवाद से भी इस प्रकार के परिणाम निकले। अतिमानव को जन्म देने के सम्बन्ध मे नीट्त्शे के सिद्धान्त को, अधिक सामान्य विचार के विरुद्ध चेतावनी के रूप मे कार्य करना चाहिए, जिसे उदाहरण के लिए उस समय देखा जा सकता है जब हम जूलियन हक्सले की ओर मुडते है।

हक्सले निष्कपट है और मानवोचित होना चाहता है। वह अतिमानव के खतरो को समझता है "मैं निश्चय ही यह देखना नही चाहता हूँ कि मनुष्य को देवता के स्थान पर ले आया जाए, जैसा कि पहले अनेक प्राणियो के साथ हुआ, और अभी भी ऐसा हो रहा है।" किन्तु उसका विश्वास है कि "अब यह प्रमाणित-सा प्रतीत होता है कि जो अधिक बुद्धिमान हैं प्रजनन करने की गति कम बुद्धिमान लोगो की अपेक्षा औसतन कम है। अगर यह प्रक्रिया कायम रही तो इसके भयकर परिणाम निकलेंगे। समाज को अधिक बुद्धिमान लोगो की आवश्यकता है।" उसका यह भी विश्वास है कि "कृत्रिम चयन अधिक प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है और प्राकृतिक चयन की अपेक्षा इससे अधिक शीघ्रता से परिणाम निकल सकते हैं"—वह घोडो से इस सिद्धान्त को सिद्ध करता है। अत वह इस निष्कर्ष पर आता है कि कुछ सन्ततियो के बाद इस प्रकार का परिणाम निकल सकता है। इस बात मे सन्देह नही कि यह तब तक नही हो सकता है जब तक रीति-रिवाजो, नियमो और दृष्टिकोण मे कुछ आमूल परिवर्तन न हो।.... एक बार अगर हम इस तथ्य को समझ लें कि हम लोग भावी विकास के अभिकर्त्ता है और जीवन की निहित सभाव्यताओ का विकास करने के अतिरिक्त और कोई कार्य उच्चतर या महान् नही है तो उसकी प्राप्ति के मार्ग मे जो किसी प्रकार का अवरोध होगा उसे दूर करने के तरीके और साधन किसी प्रकार से मिल जायेंगे......विस्तृत सुजनिक विज्ञान......प्रेरक और आशा हो सकते हैं।[1] क्या कुछ और किसी प्रकार—से का अर्थ नीट्त्शे की प्रजनन विधियो से तो नही है ?

हक्सले इससे बचने का प्रयास करता है। "सामान्य सुधार के लिए सुजनन विज्ञान का यह अर्थ नही है कि किसी ऐसे राज्य या सत्ता मे विश्वास-किया जाए जिसे अच्छे और बुरे अनुवेक्षिक गुणो के सम्बन्ध मे निर्णय करने के लिए निरकुश अधिकार प्राप्त हो। किन्तु साथ ही पारम्परिक नैतिकता पर ध्यान नही दिया जाता। कोई भी वस्तु जो उन्मुक्त विकास की अनुमति देती है या सहयोग देती है वह ठीक है, और जिस वस्तु से विकास मे अवरोध उत्पन्न होता

है, वह ठीक नही है। यह विकासात्मक दिशा की नैतिकता है।"[1] तब प्रजनन की वास्तविक माँगो पर नियन्त्रण किस प्रकार रखा जा सकता है ? सच तो यह है कि अगर आमूल परिवर्त्तन लाना ही है तो समाज के कुछ सदस्यो के लिए असाधारण शक्ति का विनिधान करना होगा और मनुष्य को जन्म देने का काम उन शक्तियो को अमानुषिक ही बनायेगा। नीट्त्शे की माँगो को जो तार्किक रूप से तो सही हैं किन्तु मानवीय रूप से घृणित हैं चेतावनी के रूप मे लेना चाहिए।

बाद मे नीट्त्शे अपने उपदेश को भयानक चेतावनी के रूप मे लेता है, और इसके सम्बन्ध मे वही विचार रखता है जो हमारा है। किन्तु उसकी कृति के भावात्मक पक्ष पर विचार करने के पूर्व, मैं इसके अभावात्मक पक्ष पर अत्यधिक बल देना चाहता हूँ क्योकि उसका दर्शन वास्तविक रूप से कितना भयानक है। वह स्वय इस बात को जानता है कि इस दर्शन का अर्थ क्या है और अपने विचार के सही अर्थ की जानकारी से ही वह सही निष्कर्ष पर पहुँचता है, अर्थात् उस विचार को विकसित करता है जो बाद के निकट है। फिर भी कुछ लोगो ने विशेष रूप से फ्रासीसी अस्तित्ववादियो ने जो उसकी खुलकर प्रशसा की है, वह मुझे हानिकर लगती है क्योकि यह हमे उस तथ्य की अचेतन स्वीकृति की ओर ले जा सकती है और सच तो यह कि यह ले भी गयी है—जो उसकी कृति मे घातक है। यह और भी महत्त्वपूर्ण है कि हम किसी को भी नीट्त्शे के सम्मोहन से बचा सकें।

* * *

तीन

नीट्त्शे और अस्तित्ववाद

जब हम नीट्त्शे को पूर्णरूप से समझने की कोशिश करते हैं, तो हमारे सामने एक बडी कठिनाई आती है। हमे न केवल उन प्रासगिक व्याघातो मे सामजस्य स्थापित करना होता है, जो किसी दार्शनिक कृति मे हो सकते हैं, प्रत्युत् कई मौलिक समस्याओ का समाधान भी करना होता है। उदाहरण के लिए, जब उसके समय का, नाजी का एक प्रकार का पूर्ववर्त्ती, पैन-जर्मन सघ उसे अपना अध्यक्ष बनाना चाहता था, तब उन्हे इस बात की आशा थी कि वह खुश होगा। उसने "स्वर्णाभिकेश पशु" के प्रशसको को "ट्यूट्न की तिरस्कार-पूर्ण परिभाषा आज्ञाकारिता और लम्बे पैर"[1]–से निराश कर दिया–जिन्होने "स्वर्णाभिकेश" का शाब्दिक अर्थ ही लगाया। अधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण उस समय देखा जा सकता है जब उस समय के सामी विरोधी आन्दोलन के नेता के साथ उसकी बहन की शादी के समय उसकी प्रतिक्रिया हुई थी, उसे अपने भाई से यह आशा थी कि वह प्रसन्न होगा, निश्चय ही उसकी पुस्तको में कई ऐसी बातें थी, जिनसे उसकी आशा की पुष्टि होती थी। किन्तु उसने उसे सचेत किया कि "उसके पति के सोचने का तरीका उसका नही है," और बाद मे उसने उसे लिखा "यह मेरे लिए गर्व की बात है कि सामीवाद का विरोध करने

अर्थात् इसे अस्वीकार करने के सम्बन्ध मे मेरे स्पष्ट विचार है और उसने इस बात की शिकायत की कि हाल मे उसे काफी गलत समझा गया है क्योकि वह एक विख्यात सामी विरोधी का सम्बन्धी बन चुका था ।[१] बाद मे नाज़ियो ने उसे अपना दार्शनिक बनाना चाहा, जबकि आज के अस्तित्ववादियो का दावा है कि उनका अर्थ गलत था और वह सचमुच मे काफी भिन्न है, इसके अतिरिक्त दोनो पक्ष अनेक ऐसे उद्धरणो से अपने दावे का समर्थन कर सकते हैं, जिन्हे झूठा साबित करने की आवश्यकता नही । किन्तु मेरा विचार है कि हम इन व्याघातो को समझ सकते है, अगर हम उसके उपदेश और निजी विकास मे अन्तर स्पष्ट कर सकें ।

हमने उसके उपदेश के सम्बन्ध मे, पिछले अध्याय मे विचार किया और अब हम उसके दर्शन के उस पक्ष पर विचार करेंगे जो उसके निजी विकास का प्रतिरूप प्रस्तुत करता है । इसका अर्थ यह है कि हम उसके दर्शन के महत्त्वपूर्ण पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे । परन्तु इसमे जो गलती है उसके भयानक परिणामो पर भी ध्यान देंगे, अन्यथा जैसाकि मैंने पहले इस बात पर बल दिया है, उसका उपदेश अभी भी खतरनाक सिद्ध हो सकता है । अपने निजी विकास से नीट्त्शे को अपने उपदेश के खतरो और इस प्रकार इसके परे की जानकारी हो गयी, जो वस्तुत आज अस्तित्ववाद कहलाता है ।

उसके विकास के भावात्मक पक्ष पर विचार करने के लिए, सबसे अच्छा आरम्भ बिन्दु उसका वह कथन है जिसे वह प्राय कहा करता था कि "ईश्वर मृत है, हमने ईश्वर की हत्या कर दी है, ईश्वर की मृत्यु हो गयी है ।" यह स्पष्ट रूप से किसी निष्कपट नास्तिक का कथन नही है । नास्तिक सिर्फ इतना ही कहेगा कि "ईश्वर नही है और उसमे आस्था रखना निरर्थक अन्धविश्वास है और इसका कोई आधार नही है, किन्तु ईश्वर मृत है" खोये मत की ओर सकेत करता है । नीट्त्शे जानता है कि यूरोप के लोगो पर विशेष रूप से अधिकाश बुद्धिजीवियो पर ईसाई धर्म का प्रभाव समाप्त हो चुका है और उन्नीसवी शताब्दी की यह सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है, इतिहास मे उल्लिखित सभी घटनाओ से अधिक महत्त्वपूर्ण । क्योकि-चूंकि यूरोपीय सभ्यता को ईसाई धर्म के ईश्वर-सम्प्रत्यय पर आधारित किया गया है, अत इस मत के लुप्त होने से यह आवश्यक है कि इस सभ्यता मे एक दरार पडे, ईश्वर के स्थान पर कुछ भी नही है, (das Nichts Le Neant) नीट्त्शे यह भी जानता है यह स्थिति क्यो भयकर और खतरनाक है, रिक्तता का भाव स्थायी नही है, यह लगातार

बढता है और विनाशकारी होता है, और दृढ विश्वासो को समाप्त करता जाता है। अधिक से अधिक सप्रत्यय, मूल्य, आस्थाएँ, सम्प्रदाय जो अब तक हमारे जीवन के आधार रहे हैं–टूट जाते हैं और उनकी अवहेलना करनी होती है। अन्त मे हमारे अस्तित्व के क्रोड मे अवस्तुता मिलती है। इस प्रकार की रिक्तता का भाव अभी भी बढ रहा है और इस प्रकार का खतरा है कि हमारे लिए अभी जो भी वास्तविक मूल्य की वस्तु वची है, वह समाप्त हो जाए।

इस प्रक्रिया के महत्त्व की जानकारी सम्भवत नीट्त्शे की महानतम् योग्यता है इससे उसको कृति को पैगम्बरी स्थान मिलता है। पहले ही, अपनी प्रारम्भिक कृतियो मे एक मे वह लाक्षणिक रूप से समस्या बताता है। वह लिखता है, "क्या आपने पागल आदमी के बारे मे नही सुना है जो स्वर्ण प्रभात मे लालटेन जलाता है और बाजार की ओर लगातार यह चिल्लाता हुआ भागता है कि 'मैं ईश्वर की खोज कर रहा हूँ ,जब यह वात हुई तो वहाँ कई लोग खडे थे जो ईश्वर मे विश्वास नही करते थे, अत वह हँसी का साधन बन गया।" (ये वास्तविक नास्तिक हैं, जिन्हें इस प्रकार की भाषा हास्यास्पद प्रतीत होनी चाहिए) वह पागल आदमी उछलकर बीच मे चला आया उसने कहा, "ईश्वर कहाँ है, अच्छा, मै तुम्हे बताऊँगा। हमने उसकी हत्या कर दी है–आपने और मैंने। हम सब उसके हत्यारे हैं। किन्तु हमने इस कार्य को कैसे किया ? हमने महासागर का जल पीकर इसे सूखा कैसे बनाया ? सम्पूर्ण क्षितिज को पोछ डालने के लिए हमे स्पज किसने दिया ? जब हमने सूर्य से इस पृथ्वी को अलग किया तब हम कहाँ थे ? अब यह किस ओर जा रही है ? हम किस ओर जा रहे है ? सूर्य से दूर ? क्या हम लगातार गिर नहीं रहे हैं ? पीछे, वगल मे, आगे, सभी दिशाओ मे ? क्या अभी भी हम 'ऊपर' और 'नीचे' की वात कर सकते हैं ? क्या हम चक्कर नही काट रहे, खोए हुए, अवस्तुता की अनन्तता मे ? क्या रात नही आ रही गहरी, और गहरी ? ईश्वर मृत है। ईश्वर मृत रहता है। और हमने उसकी हत्या की है। हमारे लिए वहाँ क्या आराम है ?...इस कार्य की महानता क्या हमारे लिए अत्यधिक भारस्वरूप नही है ?" और नीट्त्शे यह भी जानता है कि इस घटना पर अभी भी ध्यान नही दिया गया है, पागल आदमी कहता है—"मैं बहुत पहले ही चला आया यह असीम घटना अभी भी अपने मार्ग मे है...यह सभी मनुष्यो के कानो तक नहीं पहुँची है।"[1] वाद मे, जब "दस स्पेक जरथुस्ट्रा मे निश्चयात्मक शब्दो मे अतिमानव की प्रशसा की जाती है तब नीट्त्शे भी लिखता है कि उमे भयकर परिणाम होने की आशका है क्योकि ऐसी

कोई भी चीज नही है, जिसका कोई महत्त्व हो, कोई भी ऐसी चीज नही जो यह आदेश दे सके "तुम्हे करना होगा" । सक्षेप मे, वह वर्त्तमान स्थिति का अनुमान कर लेता है ।

साथ ही, नीट्त्शे एक सच्चा दार्शनिक है, अत वह जानता है कि उसके समय के यूरोपियनो का व्यवहार मौलिक रूप से कपटपूर्ण है । क्योकि इस समय नेपोलियन की हर जगह पूजा हो रही थी जर्मनी मे, इटली मे और रूस मे, फ्रास मे भी उसी तरह पूजा हो रही थी, जहाँ नेपोलियन को गद्दी पर बैठाने के लिए पूजा की जा रही थी । युद्ध को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया । डार्विन के "जीवित रहने के लिए निर्मम जीवन-मरण सघर्ष" का, जैसाकि हमने देखा है, यूरोपीय नैतिकता पर गहरा प्रभाव पडा है, जो निर्मम प्रतियोगिता, निर्मम वर्ग सघर्ष और निर्मम राष्ट्रीयवाद को न्यायसगत बनाता है । इस प्रकार जबकि अपने दैनिक जीवन मे मनुष्य ईसाई धर्म की नैतिकता को अधिमान्यता देते हैं और रविवार को गिरिजाघर जाते है । तो क्या नीट्त्शे ने एक ऐसी नैतिकता और दर्शन का विकास करने का प्रयास किया जो उसके समय के यूरोपीय लोगो के वास्तविक जीवन के अनुकूल हो ? क्या इसीलिए उसने जीवन शक्ति, निष्ठुर स्वर्णाभिकश पशु, अतिमानव के आदर्श की प्रशसा की ? वह दार्शनिक रूप से बलवानो के श्रेष्ठ अधिकारो की स्थापना करने का प्रयास करता है, जिन्हे समाज ने पहले ही से स्वीकार कर लिया है, और वह अपने स्वर्णाभिकेश पशु को जैविक अवनति के प्रतिकारक के रूप मे विकसित करता है क्योकि उसके समय मे जो भय था उसकी वजह से यह उपचार आवश्यक समझा गया । वह एक प्रक्रिया के तार्किक परिणामो का सामना करता है जो पहले से ही शुरू हो गयी थी और उसे इस बात की घोषणा करनी पडी हमारे कैटीड्रल ईश्वर की समाधियाँ नही तो और क्या हैं ?[1]

प्रारम्भ मे, नीट्त्शे को निश्चय ही इस बात पर विश्वास था कि अतिमानव के उपदेश से कमी पूरी हो सकेगी, वह मनुष्य को एक ऐसा मत प्रदान कर रहा था जो प्राचीन धर्म को बदल सके । किन्तु धीरे-धीरे वह महसूस करता है कि उसका उपदेश उपचार नही है, अवनति और विनाश मे योग देने वाला ही तत्त्व है, वह इसे नास्तिवाद के एक अग के रूप मे ग्रहण करता है, जिसे वह निर्माण के समय देखता है (हम कुछ ही क्षणो मे उसकी नास्तिवाद की परिभाषा पर विचार करेंगे) फिर भी अपने ज्ञान के बावजूद, अपने उपदेश को अन्तिम निष्कर्षो

तक विकसित करने के लिए वह अपने को सगत दार्शनिक के रूप मे प्रस्तुत करने की उत्कट इच्छा इसलिए रखता है कि वह यह दिखला सके कि यह कहाँ जाता है, किन्तु, अन्त मे, इसे सिद्धान्त के रूप मे नही ग्रहण करना है, चेतावनी के रूप मे ही इसे स्वीकार करता है। अगर इन दृढ धारणाओ को अपना कार्य करने के लिए योही छोड दिया गया, जिनका जीवन पर आधिपत्य है, तो भविष्य मे निर्ममता, युद्ध परिणाम सहित नियन्त्रित प्रजनन, विनाश और अवनति अनिवार्य है। यह एक चेतावनी थी। कोई यह कह सकता है कि नीट्त्शे ने इस चेतावनी को स्पष्ट करने के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया क्योकि उसका उपदेश उसकी प्रकृति के विपरीत सिद्ध हुआ और ऐसा प्रतीत होता है कि इससे उसका पागलपन प्रकट हुआ। किन्तु "उत्सर्ग" शब्द का प्रयोग कुछ शर्तो के साथ होना चाहिए, क्योकि इसका अर्थ चेतन कार्य से है, और हम निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि नीट्त्शे जो कर रहा था, उससे वह कहाँ तक अवगत था। क्योकि यहाँ हमारे सामने एक दूसरी कठिनाई आती है। नीट्त्शे ने अपने उपदेश से चरम निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए पूरी शक्ति से कोशिश की, फिर भी जब उसने अपना कार्य पूरा कर लिया तो उसका मानसिक सन्तुलन इसलिए बिगडना अनिवार्य था कि अपने विचार को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए उसके पास समय कम था। हमे सकेत एव निर्देशन मात्र मिल पाता है।

फिर भी, इन सकेतो मे कुछ तो स्पष्ट हैं। सच तो यह है कि जब कोई नीट्त्शे को अच्छे ढग से समझना चाहता है तो एक विचित्र विपर्यय उत्पन्न होता है। पहले उसका उपदेश ही मुख्य है और यह दावा कि उसके दर्शन का एक दूसरा पक्ष भी है, अप्रत्यायक प्रतीत होता है। फिर भी धीरे-धीरे जब कोई उसके दूसरे पक्ष को देखना सीखता है और ऐसे अवतरणो की खोज करता है जो, उसकी प्रारम्भिक कृतियो मे भी उसकी मुख्य विचारधारा के व्याघाती हैं—जैसे पागल आदमी की कहानी, जिसे अभी उद्धृत किया गया है—व्याघाती कथन और भी महत्त्वपूर्ण रहते हैं जब तक "अन्य" नीट्त्शे यथार्थ रूप मे प्रकट नही होता। हमे उस नीतिवादी के सम्बन्ध मे पता चलता है, जिसने स्वय का उल्लघन किया, जिससे वह अनैतिक विचार अपनाने मे समर्थ हो। वह अतिसम्वेदनशील व्यक्ति सिद्ध हुआ जिसने अपने को निर्ममता की प्रशसा करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार अन्त मे इस बात की भी सम्भावना दीखती है कि वह अपने उपदेश को चेतावनी का रूप देना चाहता है और वह इस अनैतिक जीवन-प्रणाली की खोज

इसलिए करता है कि वह हमारे लिए विचारो को आकषक वनाने की अपेक्षा इसके परिणामो को दिखलाना चाहता है ।

नीट्त्शे की अपूर्ण कृति "दि विल टु पावर" मुख्य स्रोत है, जिससे उसके मन परिवर्त्तन का पता चलता है । इसका प्रकाशन और सम्पादन उसकी वहन ने किया था । आधुनिक अनुसधान और सामग्री को फिर से क्रमवद्ध करने का काम होते हुए भी, हम यह नही जानते कि स्वय नीट्त्शे सक्षिप्त नोटो के इस सग्रह, अपूर्ण टिप्पणियो और सशोधित एव विस्तृत सूत्रो को क्या करता । उनमे से कुछ तो प्रारम्भिक युग के है, और कुछ उसके मानसिक सन्तुलन समाप्त होने से कुछ समय पूर्व के है । ईसाई धर्म पर आक्षेप करते समय वह प्रारम्भिक नीट्त्शे है या जब वह यह कहता है कि "मानवजाति नही, अतिमानव उद्देश्य है ।"[१] वह नास्तिवाद के सभी खतरो से परिचित है, फिर भी वह यह दिखलाने का भी प्रयास करता है कि यह सशक्त जीवन के लिए अनिवार्य है । किन्तु ऐसे कथन है जो बिल्कुल स्पष्ट है ।

अब नीट्त्शे अपना विकास स्पष्ट रूप से देखता है । कोई अपने जीवन मे काफी देर से ही यह बात स्वीकार करने का साहस करता है कि वास्तविक रूप से वह सत्य को जानता है । मैंने अभी हाल मे यह बात स्वीकार की है कि "मैं हमेशा नास्तिवादी रहा हूँ, मैंने जिस शक्ति और निर्ममता से नास्तिवाद का अनुसरण किया, उससे मैं इस मौलिक तथ्य पर ध्यान न दे सका।"[२] यह कथन बिल्कुल स्पष्ट है और इसकी और अधिक व्याख्या करने का आवश्यकता नही । साथ ही "नास्तिवाद" शब्द को पूर्ण परिभापा दे दी जाती है । "नास्तिवाद" क्या है ? यह तथ्य कि उच्चतम मूल्य सभी महत्त्व खो देते है, कोई उद्देश्य नही है, ' क्यो" प्रश्न का कोई उत्तर नही । मूलभूत नास्तिवाद, यह दृढ विश्वास है कि जिन उच्चतम मूल्यो को कोई स्वीकार करना चाहता है वे वास्तविक रूप से अतर्कसगत है और इसके साथ ही यह इस बात की पूर्ण जानकारी है कि किसी दूसरे जगत् या वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप या किसी दैविक सत्ता या प्रदत्त नैतिकता को स्वीकार करने का कोई औचित्य नही है ।[३] "और नास्तिवाद की विशेषता बतलाते हुए वह यह भी कहता है कि मनुष्य अपनी नजरो मे अपनी सारी मर्यादा खो चुका है।"[४] यह इस बीमारी की अचूक दवा है, जिसे सम्भवत हम नीट्त्शे के समय की अपेक्षा आज अधिक अच्छी तरह जानते है । स्वय नीट्त्शे के लिए मनुष्य की समकालीन स्थिति इस प्रकार इतना स्पष्ट बना दी गयी कि वह ईसाई धर्म की नैतिकता का सही मूल्याकन भी प्रस्तुत कर सकता है । वह पूछता

है ईसाई धर्म की नैतिक प्राक्कल्पना से क्या लाभ थे ? और वह इसका उत्तर देता है।

१ इसने मनुष्य को, विकास और विनाश के प्रवाह मे उसकी लघुता और आकस्मिकता की विषमता मे निरपेक्ष मूल्य प्रदान किया।

२ दु ख और अशुभ के वावजूद, यह ईश्वर के समर्थकों के लिए सहायक सिद्ध हुआ, इसने विश्व को पूर्णता प्रदान की-सकल्प स्वातन्त्र्य प्रदान किया-अशुभ सार्थक प्रतीत हुआ।

३ इसने मनुष्य को निरपेक्ष मूल्यों का ज्ञान कराया और इस प्रकार जहाँ अत्यधिक आवश्यक था, उसे पर्याप्त ज्ञान दिया।

४ इसने मनुष्य को आत्म-विरक्ति, जीवन-अस्वीकरण, ज्ञान-नैराश्य से मनुष्य को बचाया, यह एक प्रकार का सरक्षण वल था।[1]

स्वाभाविक रूप से नीट्त्शे ने ईसाई नैतिकता के ससार मे सुख का अनुभव नही किया। उसके उत्तर अभी भी, कम से कम, उनके कुछ भाग थोडा व्यग्यात्मक है और वह नास्तिवाद को ईसाई धर्म का परिणाम मानता है। "अब समय आ गया है जबकि हम इस तथ्य का शोधन करें कि हम लगभग दो हजार वर्ष तक ईसाई रहे।"[2] फिर भी वह इस बात का उल्लेख करता है कि ईसाई धर्म का मुख्य दोष यह है कि सत्यवादिता को आदत बना दिया गया। किन्तु उसकी नजरो मे भी क्या सचमुच मे दोष है ? यही सत्यवादिता है, जिससे वह अपने उपदेश मे नास्तिवाद का दर्शन करता है।

नीट्त्शे की दु खद स्थिति उसकी प्रसिद्ध पुस्तक "दस स्पेक जरथुस्त्रा" मे भी देखी जा सकती है। यहाँ प्रशसा का पुल बाँधते हुए, वह अतिमानव के आदर्श को अन्तिम रूप प्रदान करता है, एक वार जब यह काम हो जाता है, तव एक नये विचार की खोज की घोषणा उसी उत्साह से की जाती है। उसके वाद यह नया विचार "शाश्वत आवर्त्तन" का विचार वन जाता है। यह एक प्रकार का विश्वास है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु को, जिसका कभी अस्तित्व रहा है या जो कभी घटी है, वार-वार विना किसी परिवर्त्तन के लौट जाना चाहिए। कोई विकास नही है कोई प्रगति नही है, भूलो को ठीक करने की सम्भावना नही है, कोई भी ऐसी चीज़ नही है, जिससे उन्नति मे विश्वास जग सके, प्रत्येक वस्तु को वार-वार ठीक उसी रूप मे लौटना है। स्पष्ट रूप से, यह एक दूसरा मौलिक व्याघात है। या तो विकास है और तभी हम भविष्य मे अति-

मानव के दर्शन की आशा कर सकते है या शाश्वत आवर्त्तन है, जो किसी प्रकार का परिवर्त्तन स्वीकार नही करता, इस स्थिति मे अतिमानव की कल्पना करना शाश्वत रूप से असम्भव है। इस पुस्तक मे भावप्रवण शैली मे व्याघात पर परदा डाल दिया गया है, किन्तु नीट्त्शे को यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट होगी। न तो हम इसके अर्थ को पता लगाने मे असफल हो सकते है। जैसाकि हमने कहा है वह अपने विचारो को चरम निष्कर्ष तक पहुँचाने की पूरी शक्ति से कोशिश करता है, किन्तु एक बार जब यह काम हो जाता है तब उसका नैराश्य समाप्त हो जाता है। सच तो यह है कि कोई भी इस विचार से सहमत नही हो सकता कि प्रत्येक वस्तु उसी रूप मे लौटने के लिए बाध्य है, किसी भी भूल का निराकरण नही हो सकता, कोई भी अनुभव से कुछ सीख नही सकता। किन्तु नीट्त्शे इसी बात को "दि विल टू पावर" मे स्वीकार करता है। विस्मयादिबोधक शब्द "व्यर्थ" हमारे वर्त्तमान नास्तिवाद का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे दिखलाना है इस "व्यर्थ" को, बिना किसी लक्ष्य और प्रयोजन के, अवधि के साथ मिला दिया जाये तो यह अत्यधिक अशक्त विचार है इसके अत्यधिक भयानक रूप पर विचार करें मूल रूप मे, बिना किसी अर्थ या प्रयोजन के, अस्तित्व का अवस्तुता मे अनिवार्य रूप पर विचार से लौट जाना—"शाश्वत आवर्त्तन"। यह नास्तिवाद का सबसे अतिवादी रूप है शाश्वत अवस्तुता (अर्थ-हीनता)।[१]

दूसरे सन्दर्भ मे इस शाश्वत आवर्त्तन के सम्बन्ध मे लिखता है कि उसके मन मे अत्यधिक भयानक विचार उठा, और तब उस समय उसे अतिमानव का निर्माण इसलिये करना पडा कि कोई ऐसी सत्ता हो जो इस विचार को सहन कर सके। प्रगति मे आस्था रखकर हमने जो आरम्भ किया था उसका परमोत्कर्ष नैराश्य मे हुआ।

अपने उपदेश के सही स्वरूप की इस जानकारी से ही, नीट्त्शे बीसवी शताब्दी की कुछ मूलभूत विशेषताओ का अनुमान लगाने मे समर्थ हुआ है। हमने पहले इस बात का उल्लेख किया है कि वह इसे "युद्ध के क्लासिकी युग"* होने की आशा करता है, और वह इस बात की भी भविष्यवाणी करता है—"यथार्थ युद्धो के साथ अनिवार्य सैनिक सेवा, जिसमे सभी प्रकार के परिहासो की अवहेलना की जाती है।"[२] उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे ही १८७०-७१ के युद्धो की तरह, छोटे युद्धो की जानकारी प्राप्त हुई, जबकि यह सम्भव प्रतीत हुआ कि युद्ध बिलकुल ही समाप्त हो जायेगा। नीट्त्शे के अनुसार आने वाला युग, महान युद्ध, सैनिक सगठन, राष्ट्रवाद, उद्योग, विज्ञान और सुख की प्रति-

* पृष्ठ ३३ देखिये।

योगिता पर आधारित होगा, और "आक्रमण करने के अधिकार, और बुभुक्षा, दासता, प्रतिशोध की शक्ति से इसका विकास होगा, और इसकी महान देन होगी, 'महान अपराधी'। हमने उसके समय से ही इस प्रकार की कुछ चीजे देखी हैं। सबसे असाधारण बात सम्भवत आने वाले नास्तिवादी का चित्राकन है।" उसे किसी भी प्रकार से इस बात की जानकारी नही है वह किधर जा रहा है। रिक्तता उसने उन्माद द्वारा इस पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया—सगीत का उन्माद महानतम व्यक्तियो के पतन के दुखद आनन्द मे निष्ठुरता का उन्माद, एकाकी व्यक्ति या युग की अन्धपूजा का उन्माद विज्ञान के उपकरण के रूप मे, उन्मादपूर्ण कृति मे, निमग्न होने का प्रयास, अनेक निम्न प्रकार के सुखो की और किसी का ध्यान दिलाने के लिए किसी का सामान्यीकरण करने का शील-सकोच एक प्रकार का रहस्यवाद शाश्वत शून्यता का भोगविलास, कला के लिए कला, आत्म-विरक्ति के विरुद्ध एक प्रकार का स्वापक, किसी प्रकार का कार्यक्रम, किसी प्रकार का दुराग्रह, इन सबके उलझन का अर्थ, सयमन (अतिमात्र मे सुख नही) के सामान्य अभाव के परिणामस्वरूप बीमारी है।[1] साथ ही नीट्त्शे जानता है सभवत ध्यानपरायण बौद्ध धर्म की तरह नही रह सकता कि नास्तिवाद इस "व्यर्थ" का चिन्तन मात्र नही है, और न यह विश्वास मात्र है कि प्रत्येक वस्तु को नष्ट करने के काम मे अपने को लगाता है अगर आप चाहे, तो असगत है किन्तु नास्तिवाद तार्किक होने की अनिवार्यता मे विश्वास नही करता। केवल "नही" कहकर रुक जाना सम्भव नही है।[2]

और नास्तिवाद के कारण ? इस सम्बन्ध मे टिप्पणियो की एक दूसरी श्रृंखला है जो स्पष्ट रूप से नीट्त्शे की अपूर्ण मरणोपरान्त कृति मे इन कारणो का विशद् विवेचन है यह एक ऐसी श्रृंखला है जिस पर विस्तार से विचार करना उचित होगा।[3] इसका क्षेत्र बतलाने के लिए, कुछ बातो का उल्लेख करना पर्याप्त होगा।

यह इस प्रश्न से आरम्भ होता है। "नास्तिवाद निकट है। सबसे रहस्यमय अतिथि के रूप मे यह कहाँ से आया ?" और तब नीट्त्शे अपनी आरम्भ बिन्दु की परिभाषा देता है "यह सोचना भूल है कि सामाजिक आवश्यकताएँ या शारीरिक अवनित या विकार नास्तिवाद के कारण हैं। हमारा युग सबसे निष्कपट और सम्वेदनशील युग है।" वह हमारी स्थिति के एक तत्त्व की ओर ध्यान आकर्पित करता है जो सचमुच मे भ्रान्तिपूर्ण है, हम सम्भवत पहले के युगो की

अपेक्षा अधिक सम्वेदनशील हैं उदाहरण के लिए युद्ध के प्रति अधिक सम्वेदनशील है, जिसे हाल ही मे अन्तिम रूप मे स्वीकार कर लिया गया या अन्याय के प्रति अधिक सम्वेदनशील हैं जहाँ कही भी यह होता है, और व्यावहारिक मामलो और सामाजिक समस्याओ पर विचार करने मे सम्भवत हम उन्नीसवी शताब्दी की अपेक्षा अधिक ईमानदार है। किन्तु इससे हमे अधिक सहायता नही मिलती, क्योकि गलती के सम्बन्ध मे हमारा वोध हमें जो करना चाहिये, उसके बोध के अनुरूप नही है।

नीट्त्शे नास्तिवाद के अन्य कारणो मे वास्तविक कारणो का उल्लेख करता है।

१ ईसाई धर्म का पतन "ईश्वर सत्य है" "मत के" विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे जब हमारा हठधर्मी मत है "सब कुछ असत्य है।" यह एक महत्त्वपूर्ण वात है कि नीट्त्शे जो पहले ईसाई धर्म का इतना छिद्रान्वेषी था, अब नास्तिवाद के कारणो मे इसकी कमजोरी को प्रथम स्थान प्रदान करे।

२ "नैतिकता के सम्बन्ध मे सशयवाद अत्यधिक निर्णायक तथ्य है। इस जगत् से परे पलायन करने का प्रयास करने के बाद इस जगत् का अर्थ शास्तिविहीन रह जाता है और इस प्रकार इसका अन्त नास्तिवाद मे होता है। हर चीज निरर्थक हो जाती है।" वह उन दार्शनिको पर आरोप लगाता है जिन्होने इस विनाश मे योग देने वाले "नैतिक ईश्वर" को समाप्त करने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध मे वह विशेष रूप से हेगेल का उल्लेख करता है जिसने प्रगति में आस्था रखने का मार्ग तैयार किया और सर्वेश्वरवाद का भी उल्लेख करता है (जो कई लोगो को ईसाई धर्म का विकल्प प्रतीत हुआ) चूंकि नैतिकता सकल्प स्वातन्त्र्य की आस्था पर आधारित है अत नियतत्त्ववाद को, चाहिए कि वह इसे नष्ट करे, चाहे यह किसी भी रूप मे सामने आये। आश्चर्य की बात है कि इस पैरा मे नीट्त्शे नास्तिवाद के और कारणो का उल्लेख करता है "ऋषि, मुनि, कवि के लोकप्रिय आदर्शों का लोप"—उन मूल्यो की ओर सकेत जिनकी वह अब स्थापना करना चाहेगा।

३ "सत्य", "सुन्दर" और "शुभ" मे विरोध। ये निरपेक्ष पारम्परिक मूल्य एक समस्या के रूप मे सामने आते है क्योकि दोनो भिन्न हैं और दोनो मे अन्त सम्बन्ध भी है। वे इसलिये भिन्न हैं कि सत्य वस्तुओ के मूल स्वरूप की ओर सकेत करता है, जबकि सुन्दर उसके रूप रग मे दिखलाया जाता है, उनके

बाह्य रूप और शुभत्त्व का सम्बन्ध मानवीय कार्यो से है । किन्तु उनमे अन्त-सम्बन्ध भी है । यह बात तब स्पष्ट होती है जब कोई इनमे से किसी एक को अस्वीकार करता है, क्योकि इस प्रकार का प्रयास हमेशा दूसरे को नष्ट करता है । नीट्त्शे के मन मे सम्भवत अपने उस युग मे सौन्दर्य की उपासना का विचार था (बाद मे वह स्वच्छन्दतावाद का उल्लेख करता है), जिसने सत्य और शुभत्त्व को असगत माना और इस प्रकार वह अक्सर सामान्य वैभव की ओर बढा, जिसे, उदाहरण के लिए हम विक्टोरियन या विलहेल्मिनियम वास्तुकला मे पाते है । आज सौन्दर्य का मूल्य घट गया है क्योकि यह अपनी पसन्द की चीज है, किन्तु जब एक बार यह कर दिया जाता है, शुभत्त्व भी पसन्द की चीज़ हो जाती है, इसके सम्बन्ध मे हम पाँचवे अध्याय मे विचार करेंगे । इसके अतिरिक्त सत्य को वैज्ञानिक सत्य मे सीमित कर दिया गया है, जो, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, मानवीय अनुभव मे प्राप्त होने वाले सत्य के साथ न्याय नही कर सकते ।

४ आज के प्राकृतिक विज्ञान के नास्तिवादी परिणाम जो अन्त मे, विज्ञान विरोधी विचार की ओर हमे अग्रसर करते हैं । कापरनिकस के समय से मनुष्य मध्य से मे "अज्ञात मे चलता है यहाँ नीट्त्शे एक ऐसे विचार की ओर सकेत करता है जो अस्तित्ववाद मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । जब कि तर्कबुद्धि युग ने प्राकृतिक विज्ञान का स्वागत किया क्योकि इसने विश्व के यथार्थ विस्तार को प्रकट किया, पास्कल को पहले से ही डर था कि अपरिमितता और शाश्वतता अपना अर्थ खोने के लिए बाध्य है क्योकि कापरनिकस प्रणाली ने उन्हे आध्यात्मिक से भौतिक जगत् मे स्थानान्तरित कर दिया । "जब मैं अपने जीवन की छोटी अवधि पर विचार करता हूँ, जो पहले और बाद की शाश्वतता मे समाहित है, छोटे दिक् पर विचार करता हूँ जिसे मे भरता हूँ और जिसे मैं उन दिनो की अपरिमित मे समाहित देख भी सकता हूँ, जिनसे मैं अनभिज्ञ हूँ और जो मुझे अनभिज्ञ हैं मुझसे भय होता है ··· इन अपरिमित दिनो की नीरवता से मुझे डर लगता है ।[1] किन्तु नीट्त्शे अस्तित्ववाद के खतरे को भी देखता है ·· वह खतरा यह है कि विशुद्ध वैज्ञानिक विचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया से कई लोगो को अबुद्धिवाद की ओर ले जा सकता है ।

५ राजनीतिक एव आर्थिक विचार-पद्धति के नास्तिवादी परिणाम, जहाँ सभी सिद्धान्त पाखण्डपूर्ण मात्र हो जाते हैं, और जो सामान्यता, दयनीयता,

कुटिलता का वातावरण तैयार करते है" । बाद मे वह इतिहास के नास्तिवादी परिणामो की ओर सकेत करता है । हमने प्रथम अध्याय मे देखा है कि वह जिन अभिगमो की आलोचना करता है उनसे हम आन्तरिक अनुभूतियो पर विचार करने मे समर्थ नही होते हमे इस मनुष्य-वर्ग का अभाव है, जिसका सम्बन्ध मुक्ति से है, जो हमे न्यायोचित बना सकें, उस व्यक्ति का अभाव है जो हमे बचाता है—अपने नवीन मूल्यो की ओर एक दूसरा आश्चर्यजनक सकेत ।

६ "राष्ट्रवाद"—बिना किसी टीका टिप्पणी के । नीट्शे स्पष्टत इस बात को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लेता है कि राष्ट्रवाद से गलत मूल्यो की स्थापना होती है, यह एक ऐसा तथ्य है जिसे उस समय याद रखना चाहिये जब किसी भी प्रकार का हठधर्मी राष्ट्रवादी उसे अपना दार्शनिक बनाने का प्रयास करता है ।

रिचार्ड वैग्नर के गीत-नाट्य "दि ट्वीलाइट ऑफ दि गॉड्स" का भी विशेष रूप से उल्लेख है । प्राचीन पौराणिक कथा मे झुटपुटा का अर्थ दिव्य, मानव जगत् के पूर्ण विनाश से है, अत इसे महाविपदा के रूप मे देखना चाहिये । परन्तु वैग्नर इसे रोमानी बनाता है और इसका आदर्शीकरण करता है, जिसके कारण नीट्शे इस गीति-नाट्य को "नास्तिवाद की तैयारी" कहता है, क्योकि यह विनाश के नास्तिवादी आनन्द का मार्ग प्रशस्त करता है ।

हमारे युग का निदान, अवस्तुता तथा अवस्तुतता से आनन्द प्राप्त करने के खतरे का बोध, तर्कना की अस्वीकृत—दर्शन के इन पक्षो ने अस्तित्ववाद का मार्ग प्रशस्त किया, जैसे कि सार्त इस बात को स्वीकार करता है, जब वह यह कहता है कि मनुष्य मे अनुभवातीत की नीरवता से सयुक्त धार्मिक आवश्यकता की दृढता से ही, कल की तरह आज भी, हमारा सम्बन्ध है । यह एक ऐसी समस्या है जो नीट्शे को परेशान करती है "किन्तु इस विचार पद्धति के साथ एक दूसरा सम्पर्क भी है जिसे नीट्शे 'प्रायोगिक विचारना' की सज्ञा देता है" वह अपने सभी विचारो को चरम निष्कर्षों तक पहुँचाने का ही प्रयास नही करता है, प्रत्युत वह उनसे जीवन प्राप्त करने का भी प्रयास करता है । उसके लिए, जैसाकि अस्तित्ववादियो के लिए भी है, दर्शन का काम किसी अमूर्व प्रणाली का निर्माण करना नही है जो जीवन से विच्छिन्न हो जैसा कि यह वास्तविक रूप से रहा है, प्रत्युत् इसे एक ऐसी जीवन पद्धति प्रकट करनी चाहिए जिसकी परीक्षा अनुभव से हो सके ।

हमने पहले इस बात का उल्लेख कर दिया है कि नीट्त्शे का उपदेश उसकी अपनी प्रकृति से ही भिन्न है। उसके लिए युद्ध एक भयावह अनुभूति थी, जिसकी वह बाद मे प्रशसा करता है, हालाँकि उसने १८७०-७१ के छोटे युद्धो मे ही भाग लिया और चिकित्सा अर्दली के रूप मे ही भाग लिया क्योकि उस समय तक वह स्विस नागरिक हो गया था, उसे सिपाही के रूप मे काम करने की अनुमति नही मिली। युद्धकौशल के वातावरण ने उसे "धुंधले कुहरे" के रूप मे समाहित कर लिया, "कुछ समय के लिए तो मैं कुछ भी नही सुन सका, केवल रोने की आवाज सुनायी पडी जिसका कभी अन्त नही दिखलायी पडा"। जब उसकी बहन ने उसके निजी सघर्ष मे आराम देने का प्रयास किया और उससे यह कहा गया कि "उसे प्रसन्न होना चाहिये क्योकि यह नवीन और जिन्दादिल युद्ध है" तो उसने इस सलाह को जो उसके अपने विचारो के अनुकूल थी, व्ययपूर्ण माना, और उसने इस बात को स्वीकार किया कि "मैं शत्रुता के लिए बुरी तरह पागल हूँ।" वह मनुष्य के महानतम खतरे, करुणा के विरुद्ध सघर्ष करता है क्योकि वह इसके पूर्ण रूप से अधीन है। उसे अधिक निजी मूल्य देकर उपदेश दिया मैंने अपने विरुद्ध पक्ष लिया क्योकि "हर चीज जो मुझे विशेष रूप से चोट पहुँचाती है, कठिनाई से प्राप्त हुई।" और वह ऐसा करता है, क्योकि उसका विश्वास है "हम अपने दोषो से ही आदर्श का दर्शन करते हैं।" बिना किसी अत्युक्ति के वह अपने सम्बन्ध मे कह सकता है "हमने पुल को नष्ट कर दिया है—इतना ही नही, हमने अपने पीछे की जमीन भी नष्ट कर दी है कुछ भी नही रहता है, केवल साहसी होना है, चाहे इसका कोई भी परिणाम निकले।"

नीट्त्शे उन कुछ लोगो मे से एक है जो इस सम्भावना का सामना करता है कि अतिमानव बनने के स्थान पर मनुष्य पतन की ओर भी जा सकता है, वह फिर से बन्दर या कोई अमानुषिक जन्तु बन सकता है। जब वह यह कहता है कि कुछ भी सत्य नही है और प्रत्येक वस्तु अनुमत है, उस पर किसी भी विचार के सम्बन्ध मे आपत्ति उठ सकती है और वह बिना किसी आश्रय के जीने की हिम्मत करता है। इस प्रकार वह एक दार्शनिक विचार की माँग करता है जो अस्तित्ववाद के लिए अनिवार्य है "हमे निरन्तर अपने विचारो को दुख सहकर जन्म देना चाहिए जैसे कि माताएँ अपने बच्चे को अपना सब कुछ दे देती हैं रक्त, हृदय, अग्नि, लालसा, मनोभाव, यातना, अन्तःकरण, नियति, प्रारब्ध।"[1] यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह अपने

दर्शन के लिए अपना उत्सर्ग कर देना चाहता है (हमने पहले इस प्रकार के विचार के सम्बन्ध में कुछ शर्तें लगायी थीं, किन्तु यह उसके विकास की अन्तिम अवस्था के बोध की मात्रा की ओर निर्दिष्ट करता है न कि उसके सर्वसाधारण विचार की ओर) अपने को सम्बोधित करते हुए वह अपनी माँगो के सम्बन्ध मे कोई सशय नही छोडता "आप फिर कभी प्रार्थना नही करेंगे, और अपने अपरिमित विश्वास मे फिर कभी शान्ति पाने मे समर्थ नही होंगे-आप अन्तिम ज्ञान, अन्तिम शुभत्त्व, अन्तिम शक्ति प्राप्त करने के पूर्व कभी चैन से नही रहेंगे और आप अपने विचार को काम मे नही लायेंगे . ...आपके लिए कोई अब दैविक प्रतिशोधी नही रहा, जो अन्त मे सभी चीजो को ठीक करता है ... . आपके लिए अब कोई विश्रामस्थल नही रहा, जहाँ केवल पाना हो, कुछ खोजना नहो। यह हृदयस्पर्शी सकल्प है और यह उसके उपदेश के खतरो और दु ख सहने की ओर इगित करता है।"

अन्त मे वह फूट पडा। हालाँकि उसका पागलपन सम्भवत उसकी शारीरिक बीमारी का परिणाम है, इस प्रकार से फूट पडने का कारण उसके असहनीय विचार हैं। हम यह मान सकते हैं कि उसके विचारो के कारण यह बीमारी हुई, जो उसकी प्रकृति के प्रतिकूल थे और नीट्त्शे ने जानबूझ कर अपना पागलपन बढाया। न तो उसके दोस्त ही, पीटर गास्ट और ओवरवेक, इस भयानक आभास से बच सके कि उसने पागलपन की शरण ली, या वह पागल होने का बहाना कर रहा था। अब हम जानते हैं कि यह गलत है, फिर भी जब एक बार उसकी चेतना के अवरोध हटा लिये गये तो यह स्पष्ट हो गया कि वह कितने समय तक अपनी यथार्थ प्रकृति को दबाये रहा। जब ट्युरिन की सडको पर उसने यह देखा कि एक किसान एक घोडे के प्रति निष्ठुर है तो उसमे करुणा भर आयी , उसने उसे अपने आलिगन मे ले लिया और इसे "भाई" कहकर पुकारा-यह नीट्त्शे के मुँह से निकला हुआ आश्चर्यजनक शब्द था। उसने अपने अन्तिम पत्रो मे हस्ताक्षर किये, जबकि वे पागलपन की घडियो मे लिखे गये थे-"नीट्त्शे-सीजर" उसने डायोनिसस दि क्रूसीफायड भी लिखा।

ईसामसीह के प्रति उसके विचार विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। उसने ईसाई धर्म मे गिरिजाघरो की ही कटु आलोचना की। "गिरिजाघर ईसामसीह के उपदेश के प्रतिकूल है-और उसने अपने अनुयायियो को उपदेश देने का उपदेश दिया, उसके विरुद्ध भी हैं।"[१] सम्पूर्ण रूप से, वह सन्त पॉल द्वारा ईसामसीह के

उपदेशो का गलत अर्थ लगाने के विरुद्ध है, वह गिरिजाघर के सस्थापक के रूप मे सन्त पॉल से घृणा करता है किन्तु वह ईसामसीह की आलोचना करने से बचता है। "दि एण्टीक्राइस्ट" पुस्तक मे भी वह ईसामसीह के मूल उपदेशो की शायद ही आलोचना करता है। इसके बदले वह ईसामसीह को "मनोवैज्ञानिक प्रकार का व्यक्ति" मानता है, जो उस समय तक अनादरपूर्ण प्रतीत हो सकता है जब तक हम इस बात का पता न लगा ले कि वह अपने सम्बन्ध मे भी अपमानजनक शब्दो का प्रयोग करता है। हम ईसामसीह के सम्बन्ध मे उसके विचार को तब समझते हैं जब हम "दि विल टू पावर" मे यह सूत्र पाते हैं अगर अपराधी भी ईसामसीह के साथ सूली पर चढाया जा रहा है और उसे मृत्यु के घाट उतारा जा रहा है, फिर भी उसका विश्वास है कि जिस रूप मे ईसामसीह दु ख को सहन कर रहा है और मर रहा है, बिना किसी विरोध के, बिना किसी दुश्मनी के, प्रेम और शुभत्त्व की भावना के साथ, केवल मृत्यु का आलिंगन करते हुए, वही रास्ता ठीक है—अगर ये विचार अपराधी के हैं, तो उसने सिद्धान्त को समझ लिया और स्वीकार कर लिया और उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो गयी"[1]। इसी पुस्तक मे आश्चर्यजनक रूप से वह कहता है, "आदर्श जीवन प्रेम और नम्रता मे, उदार हृदय मे, जिसमे निम्न लोगो के लिए भी स्थान है, अपने को बचाने, अपने ऊपर विजय-प्राप्त करने के लिए इच्छा का परित्याग करने मे निहित है।"[2]

एक स्थान पर वह कहता है कि दोस्तोविस्की ईसाई धर्म का विवेचन करने मे समर्थ होगा। नीट्शे के ज्ञान का प्रदर्शन करते हुए, यह उसकी उपलब्धियो की सीमाओ का भी हमे स्मरण कराता है। दोस्तोविस्की को ही पहले मौत की सजा मिली और फिर यह सजा रोक दी गयी और उसे साइबेरिया के लेबर कैम्प मे भेज दिया गया, जिसके भाग्य मे पागल होना बदा था, जो अपस्मारी, जुआरी था और उसके मन मे हमेशा विनाशकारी भाव थे, जिसका जीवन अत्यधिक कठिन था, जिसे अन्त मे मानसिक सन्तुलन और शान्ति प्राप्त हुई किन्तु नीट्शे पर यह शान्ति जबर्दस्ती लादी गयी थी। सच तो यह है कि नीट्शे ने मुख्य रूप से अपनी अभावात्मक आलोचनाओ से अपने युग के निदान से पूर्वग्रहो के विनाश से और उन निष्कर्षो को दिखलाकर अस्तित्ववाद का मार्ग प्रशस्त किया, जिनसे सामान्य प्रत्याशाओ के विपरीत, अनेक स्वीकृत मतो का प्राधान्य होगा, उसने किसी भावात्मक नवीन उपदेश से मार्ग प्रशस्त नही किया। दोस्तोविस्की के उपन्यासो मे स्वय नीट्शे एक अच्छा पात्र हो सका होता, जैसा कि दोस्तोविस्की

के दो पात्रो से (किरिलोव, जिमका उल्लेख हम पहले कर चुके है और इवान करमजोव), इस बात का सकेत मिलता है, किन्तु दोस्तोविस्की नीट्त्शे के क्षेत्र से परे चला जाता है। अपनी एक कविता मे नीट्त्शे "अज्ञात ईश्वर" के लिए अपनी इच्छा प्रकट करता है, फिर भी अनेक गहन अन्तर्दृष्टियो के होते हुए भी केवल ईश्वर की ही नही, अपनी विनाशकारी आलोचना की चुनौती का सामना करने के लिए, उसे कोई उत्तर नही सूझ पाया। उस पर पारम्परिक नैतिकता और ईसाईधर्म का प्रभाव पडा, किन्तु उसने उनका महत्त्व समझना शुरू किया था, और अनिच्छत से, शीघ्र ही वह पागल भी हो गया। अस्तित्ववाद मे अति होते हुए भी, इसमे कुछ ऐसे भावात्मक तत्त्व है, जो उसकी अपेक्षा नही करते प्रत्युत कीर्केगार्ड की अपेक्षा करते हैं।*

नीट्त्शे का दर्शन विनाशकारी हो सकता है, परन्तु यह तिसपर भी विकास को सम्भव बनाता है, क्योकि वह भविष्य का मार्ग बन्द नही करता। उसके लिए सच्चाई का अर्थ "अन्तर्यामिता" से सम्बन्धित है, जिसकी अनुभूति अभी और यहाँ हो सके उसी मे केवल विश्वास करना, वह किसी ऐसी वस्तु को स्वीकार नही करता जो अनुभवातीत या अतिप्राकृतिक हो। "प्रतीति जगत् ही एक मात्र जगत् है," यथार्थ जगत् "झूठ है जो इसमे जोड दिया गया है।"[1] उसके दर्शन का यह अभिगम उसके समय के अनेक अभिगमो से मिलता जुलता था, विशेष रूप से उन अभिगमो से मिलता जुलता था जो विकासवाद पर या अन्य वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओ पर आधारित हैं, किन्तु जबकि अधिकाश दार्शनिको का यह विश्वास है कि वे इस बात को दिखला रहे हैं कि प्रत्येक वस्तु की व्याख्या तर्कबुद्धि से हो सकती है, नीट्त्शे इस बात से अवगत रहता है कि सभी

---

* मैं जानता हूँ कि मैंने नीट्त्शे के दर्शन के केवल दो सीमित पक्षो पर विचार किया है, जिससे उसके साथ न्याय करना नही होता। उसकी कुछ सबसे अधिक विलक्षण अन्तर्दृष्टियो के सम्बन्ध मे तो उल्लेख हुआ ही नही है, उदाहरण के लिए हम केवल दो बातो का उल्लेख करेंगे–बीमारी के भावात्मक महत्त्व के सम्बन्ध मे या कलाकार की प्रकृति के सम्बन्ध में वह क्या कहता है। फिर भी यह कथन कि उसका महत्त्व मुख्य रूप से उसकी अभावात्मक उपलब्धि मे निहित है, व्यापक सन्दर्भ में भी मुझे सही लगता है। वह बार-बार विवेकपूर्ण एव विश्लेषणात्मक रूप से कहता है, जिससे अन्य लोग उसी पथ पर अग्रसर हुए हैं, किन्तु इनकी कृतियाँ (उदाहरण के लिए टॉमस मैन की कृतियाँ जो नीट्त्शे से काफी प्रभावित हुआ) एक युग के अन्त की चीजें हैं, किसी नये युग के आरम्भ की चीजें हैं। मैं कही भी इस बात का चिह्न नही देख सका हूँ कि नीट्त्शे ने इस प्रकार के किसी नवीन आरम्भ में प्रत्यक्ष रूप से योग दिया हो। परन्तु विचारो के नये विकास के सकेत मिले हैं। विशेष रूप से अध्याय ८ देखिये।

समस्याओ के होते हुए भी जिनका समाधान हो सकता है, अस्तित्व सम्बन्धी तथ्य अभी भी एक रहस्य है जिसका उद्घाटन नही हुआ है। चूंकि वह रिक्तता के भाव को जानता है, जो ईसाई सम्प्रत्यय से उत्पन्न हुआ है, वह यह भी जानता है कि जिन अधिकाश सम्प्रत्ययो का हम प्रयोग करते हैं, उनका महत्त्व समाप्त हो चुका है, अत वह "अन्तर्यामिता" के सम्बन्ध मे पुन विचार करने का प्रयास करता है। परन्तु इस सन्दर्भ मे, उसके दर्शन के अनेक व्याघातों का महत्त्व सिद्ध हो जाता है, क्योकि उनसे पता चलता है कि कोई भी नया शब्द अनुभवातीत को पूर्ण रूप से नही हटा सकता है, उसकी स्पष्टवादिता और ईमानदारी उसे झूठी पूर्णता से बचा लेती है। ईश्वर के रूप मे मनुष्य अभी भी अपनी उत्पत्ति की व्याख्या नही कर सकता, न तो वह नियति को समझ पाता है, न विश्व को, वह निराशा मे डूब जाता है। नीट्त्शे से हम यह समझना सीखते हैं कि कीर्केगार्ड ने क्यो अस्तित्व सम्बन्धी अपने भावात्मक दर्शन के आधारबिन्दु के लिए पहले नैराश्य को चुना।

* * *

चार

कीर्केगार्ड

जब १८५५ मे कीर्केगार्ड की मृत्यु हो गयी, तब इस बात की काफी सम्भावना प्रतीत हुई कि उसकी कृति समाप्त हो जायेगी। उसकी पुस्तकें डेनमार्कवासियो की भाषा मे लिखी गयी थी और यह एक ऐसी भाषा थी जिसे उसके देश के बाहर शायद ही कोई जानता था और डेनमार्क के अतिरिक्त, जहाँ वह लोकप्रिय था, कोई उसे नही जानता था, किन्तु डेनमार्क मे भी अगर उसे लोग जानते थे तो इसके कारण थे, जिसका उसकी कृतियो के साथ शायद ही कोई सम्बन्ध था—वे कारण थे—स्थापित गिरिजाघर पर आक्षेप करना और अन्य निजी मामले, जिनका हम बाद मे उल्लेख करेंगे। किन्तु आज, उसकी मृत्यु के एक सौ साल से भी अधिक समय के बाद हम बिना अत्युक्ति के यह कह सकते हैं कि वे आज के युग के लिए—अगर सबसे महत्त्वपूर्ण नही तो कम से कम सबसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिको एव धर्मशास्त्रियो मे वे एक तो हैं ही। हाल के दार्शनिक एव धर्मशास्त्रीय चिन्तन पर उनका जितना प्रभाव पडा है उससे हम इस निष्कर्ष पर आते है कि उनके दर्शन का हमारे लिए विशेष रूप से आज महत्त्व है।

हमने पहले इस बात का उल्लेख किया है कि उन्होने ही "अस्तित्ववाद"* शब्द का निर्माण किया। दार्शनिको ने अमूर्त तत्त्वमीमासीय प्रणालियो का

---

* देखिये, पृष्ठ ११-१२

निर्माण करने के लिए जो प्रयास किये वे उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गये, कीर्कगार्ड ने ऐसे सभी प्रयासो का विरोध किया, विशेष रूप से उसने हेगेल पर आक्षेप किया, क्योंकि उसने ही इस बात का दावा किया था कि अपनी तर्कना द्वारा प्रत्येक वस्तु की, विश्व और मनुष्य की पूर्ण व्याख्या पा ली है। कीर्कगार्ड ने इस बात पर बल दिया कि दर्शन को अमूर्त्त नही होना चाहिये, इसे वैयक्तिक अनुभव पर उस ऐतिहासिक अवस्था पर आधारित होना चाहिये जिसमे मनुष्य अपने को पाता है, जिससे यह परिकल्पना का नही, बल्कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन का आधार बन सके। उसी प्रमाण को स्वीकार करना है जिसका अनुभव द्वारा परीक्षण किया जा सके और जिसका परीक्षण हो चुका है।

इस उपागम के लिए धन्यवाद कि कीर्कगार्ड ने हमारी मुख्य समस्याओ मे एक समस्या को, अधिकाश दार्शनिको की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझा। वह समस्या यह है कि जब आधुनिक व्यक्ति धर्म, विश्वास और विशेष रूप से ईसाई धर्म को स्वीकार करना चाहता है तब वह कठिनाई का सामना करता है।

सम्भवत प्रथम विश्व युद्ध के पहले की पीढियो पर वैज्ञानिक विचार-पद्धति का जितना एकान्तिक रूप से आधिपत्य था, उतना हमारे ऊपर अब नही रहा, ऐसा जान पडता है कि धर्म विश्वास की ओर लौटने की काफी इच्छा हुई। किन्तु इस प्रकार के धर्मविश्वास को स्वीकार करने की हमारे साथ अभी भी कठिनाई है और सम्भवत इसकी अनुभूति, इस इच्छा के कारण ही और अधिक तीव्र हो गयी है। विज्ञान की विभिन्न कोटियो और भौतिकवाद की सफलता के सामने हम किसी अनुभवातीत सत्ता मे कैसे विश्वास कर सकते हैं, जब हम इस ससार मे असीम दु ख और अन्याय देखते हैं, जब हम दो महान् युद्ध और एकदलीय शासन पद्धति की अमानवीय ज्यादतियो को देख चुके हैं तब हम किसी दिव्य शक्ति मे कैसे विश्वास कर सकते हैं? क्या यह नही कहा गया है कि एक भी प्राणघातक जीवाणु के अस्तित्व से, प्रेममय ईश्वर मे विश्वास करना असम्भव हो जाता है? निस्सन्देह, वैज्ञानिक मत, जो जान पडता है कि अपने ससार की भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करता है—और इतिहासक्रम, दोनो ने धर्म-विश्वास की समस्या को पहले की अपेक्षा और भी जटिल बना दिया है।

इस समस्या पर विचार करने के लिए, कीर्कगार्ड वैयक्तिक अनुभूति के अर्थ में धर्मविश्वास को समझने का प्रयास करता है और वह अपने समर्थन मे बाइबिल के दो व्यक्तियो—जॉब और अब्राहम—को चुनता है। इन दो व्यक्तियो को

समझने के प्रयास मे वह धर्मविश्वास का दिव्य दर्शन करता है और देखता है कि यह कोई सुखद अनुभूति नही है, प्रत्युत् "भय एव कम्पन" की अनुभूति है। इससे वह अस्तित्ववाद के तीन मुख्य विचारो को स्पष्ट करने मे समर्थ होता है— 'परम विरोधाभास, विभिषा-सप्रत्यय (जिसके विशेष अर्थ पर बल देने के लिए, दार्शनिक अक्सर जर्मन शब्द "ऐन्गस्ट" का प्रयोग करता है), और "वितल मे कूदने" अर्थात् अज्ञात मे कूदने का विचार।"

वह हमारे सामने जॉब को प्रस्तुत करता है, जिससे अकारण सब कुछ छीन लिया गया और जिसे दु खद अवस्था मे छोड दिया गया। जब कीर्केगार्ड उसे सम्बोधन करता है तो हमे ऐसा लगता है कि वह किसी व्यक्ति से बात कर रहा है, किसी परम्परागत व्यक्ति से नही, क्योंकि वह कहता है "मुझे तुम्हारी तरह किसी व्यक्ति की आवश्यकता है, जो यह जानता है कि जोर से शिकायत कैसे की जाये, जिससे उस स्वर्ग मे उसकी आवाज गूंजे, जहाँ ईश्वर मनुष्य के विरुद्ध योजना बनाने के लिए शैतान से सम्भाषण करता है।"[1] परन्तु इस प्रकार की योजना बनाने मे कीर्केगार्ड प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति देखता है "मैं कहाँ हूँ ? मैं कौन हूँ ? वह कौन है जिसने मुझे इस ससार की ओर लुभाया है और अब मुझे छोड दिया है ? मुझसे परामर्श क्यो नही लिया गया ? मैंने इस महान् कार्य मे रुचि कैसे ली, जिसे वे सत्ता के नाम से पुकारते हैं ? मुझे इसमे भाग लेने के लिए बाध्य क्यो किया गया ?"[2] पास्कल बार-बार चिल्लाता है "वहाँ रहने की अपेक्षा यहाँ रहने मे मुझे भय और आश्चर्य हो रहा है, क्योकि मुझे इस बात का कारण नही समझ मे आता कि वहाँ रहने की अपेक्षा मैं यहाँ हूँ, उस समय की अपेक्षा अब क्यो ऐसा है। किसने मुझे यहाँ रखा है ? किसके आदेश और निदेश से मुझे यह स्थान और समय नियत किया गया है ?" अगर मेरा जन्म और इसके साथ मेरा स्वभाव निरर्थक अप्रत्याशित घटना के कारण हैं तो मै इसके लिए उत्तरदायी कैसे हो सकता हूँ ?

जन्म (और मृत्यु के भी, जैसा कि हम बाद मे देखेंगे) के रहस्यात्मक स्वरूप पर बल देना, अधिकाश अस्तित्ववादियो के लिए साधारण बात रही है, इसी प्रकार से वे हमे इस बात से अवगत रखना चाहते हैं कि हमारा अस्तित्व हमारे लिए कितना रहस्यात्मक रहेगा और उस बात की अवहेलना करते हुए, हमारे जीवन को झुठलाने या अत्यधिक सरल बनाने से रोकते हैं, जिसकी व्याख्या नही हो सकती। कोई भी मेरे सामने कभी इस बात की व्याख्या प्रस्तुत करने मे समर्थ नही होगा कि दूसरे राष्ट्र या युग मे जन्म लेने की अपेक्षा मेरा जन्म

इस युग या राष्ट्र मे क्यो हुआ है, मेरी इच्छा के परिवार मे मेरा जन्म क्यो नही हुआ है और मेरी इच्छा के प्रतिकूल मेरा स्वरूप क्यो बना है। इसके लिए जैविक, मनोवैज्ञानिक या सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है, किन्तु उनका सम्बन्ध अधिक मौलिक कारणो से है, जो हमारी पहुँच के बाहर है। एक बार जब इस प्रकार की मौलिक समस्या हमारे सामने आ जाती है तो दर्शन सरलता से इसका उत्तर, अगर कोई हो—नही दे सकता। धर्मविश्वास का पता लगाने मे इससे कीर्कगार्ड का मार्गदर्शन हुआ।

जॉब के मित्र उसे सात्वना प्रदान करने का प्रयास करते है। उसका दु ख उचित प्रतिकार है, उसके पापो का दण्ड है, अगर वह इसकी शरण मे जाता है, तो फिर सब कुछ ठीक हो जायेगा। किन्तु जॉब इतनी आसानी से तसल्ली नही करता, क्योकि वह जानता है कि यह व्याख्या असत्य है। वह घोर निराशा मे डूब जाता है, क्योकि वह इस बात का अनुभव करता है कि वह ईश्वर के विरुद्ध भी ठीक है। "जॉब का रहस्य, उसकी जीवनशक्ति, उसकी दृढता, उसका विचार यह है कि सब कुछ होते हुए भी वह ठीक है ....उसका दावा है कि ईश्वर के साथ उसका सम्बन्ध अच्छा है, वह जानता है कि उसका अन्तरतम अबोध और पवित्र है, जहाँ उसे इस बात की चेतना है कि ईश्वर भी इसे जानता है, फिर भी उसका सम्पूर्ण अस्तित्व उसके प्रतिकूल है।"[1] तो भी इस पूर्ण विरोधाभास से कि उसे इस बात की जानकारी है कि ईश्वर के विरुद्ध होते हुए भी वह ठीक है, जिसके विरुद्ध वह ठीक नही हो सकता, जबकि सम्पूर्ण अस्तित्व उसके प्रतिकूल है—वह अपनी निराशा मे, अपने मौलिक "एग्स्ट" मे इस बात का पता लगा लेता है कि धर्मविश्वास की क्या माँग है और अन्त मे, वह फिर भी गलत नही है। ईश्वर मनुष्य से इतने अपरिमित रूप मे पूर्ण रूप से समझने की आशा नही कर सकता और इस प्रकार हमे प्रतीयमान अचैतन्य को स्वीकार करना चाहिये। जॉब को प्रत्येक वस्तु के लिए ईश्वर की प्रशसा करनी है, दरियाई घोडा और मगर जैसे प्रतीयमान निरुद्देश्य जन्तुओ के लिए भी। "धर्मविश्वास का अर्थ होता है पूर्ण आत्मसमर्पण, धर्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए, मुझे अपनी आँखें बन्द कर लेनी चाहिये और विश्वास से निरर्थकता मे कूद पडना चाहिये।"[2] मुझे अगाध गर्त मे कूदने का जोखिम उठाना चाहिये।

"क्रियाओ" का अर्थ धर्मविश्वास की क्रिया और स्वय क्रिया से है। अब्राहम की कहानी से इन्हे और भी स्पष्ट किया जाता है। कीर्कगार्ड के लिए यह भी

समझने के प्रयास मे वह धर्मविश्वास का दिव्य दर्शन करता है और देखता है कि यह कोई सुखद अनुभूति नही है, प्रत्युत् "भय एव कम्पन" की अनुभूति है। इससे वह अस्तित्ववाद के तीन मुख्य विचारो को स्पष्ट करने मे समर्थ होता है—"परम विरोधाभास, विभिषा-सप्रत्यय (जिसके विशेष अर्थ पर बल देने के लिए, दार्शनिक अक्सर जर्मन शब्द "ऐन्ग्स्ट" का प्रयोग करता है), और "वितल मे कूदने" अर्थात् अज्ञात मे कूदने का विचार।"

वह हमारे सामने जॉब को प्रस्तुत करता है, जिससे अकारण सब कुछ छीन लिया गया और जिसे दुखद अवस्था मे छोड दिया गया। जब कीर्केगार्ड उसे सम्बोधन करता है तो हमे ऐसा लगता है कि वह किसी व्यक्ति से बात कर रहा है, किसी परम्परागत व्यक्ति से नही, क्योकि वह कहता है "मुझे तुम्हारी तरह किसी व्यक्ति की आवश्यकता है, जो यह जानता है कि जोर से शिकायत कैसे की जाये, जिससे उस स्वर्ग मे उसकी आवाज गूँजे, जहाँ ईश्वर मनुष्य के विरुद्ध योजना बनाने के लिए शैतान से सम्भाषण करता है।"[1] परन्तु इस प्रकार की योजना बनाने मे कीर्केगार्ड प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति देखता है "मैं कहाँ हूँ ? मैं कौन हूँ ? वह कौन है जिसने मुझे इस ससार की ओर लुभाया है और अब मुझे छोड दिया है ? मुझसे परामर्श क्यो नही लिया गया ? मैंने इस महान् कार्य मे रुचि कैसे ली, जिसे वे सत्ता के नाम से पुकारते हैं ? मुझे इसमे भाग लेने के लिए बाध्य क्यो किया गया ?"[2] पास्कल बार-बार चिल्लाता है "वहाँ रहने की अपेक्षा यहाँ रहने मे मुझे भय और आश्चर्य हो रहा है, क्योकि मुझे इस बात का कारण नही समझ मे आता कि वहाँ रहने की अपेक्षा मैं यहाँ हूँ, उस समय की अपेक्षा अब क्यो ऐसा है। किसने मुझे यहाँ रखा है ? किसके आदेश और निदेश से मुझे यह स्थान और समय नियत किया गया है ?" अगर मेरा जन्म और इसके साथ मेरा स्वभाव निरर्थक अप्रत्याशित घटना के कारण हैं तो मैं इसके लिए उत्तरदायी कैसे हो सकता हूँ ?

जन्म (और मृत्यु के भी, जैसा कि हम बाद मे देखेंगे) के रहस्यात्मक स्वरूप पर बल देना, अधिकाश अस्तित्ववादियो के लिए साधारण बात रही है, इसी प्रकार से वे हमें इस बात से अवगत रखना चाहते हैं कि हमारा अस्तित्व हमारे लिए कितना रहस्यात्मक रहेगा और उस बात की अवहेलना करते हुए, हमारे जीवन को झुठलाने या अत्यधिक सरल बनाने से रोकते हैं, जिसकी व्याख्या नही हो सकती। कोई भी मेरे सामने कभी इस बात की व्याख्या प्रस्तुत करने मे समर्थ नही होगा कि दूसरे राष्ट्र या युग मे जन्म लेने की अपेक्षा मेरा जन्म

इस युग या राष्ट्र मे क्यो हुआ है, मेरी इच्छा के परिवार मे मेरा जन्म क्यो नही हुआ है और मेरी इच्छा के प्रतिकूल मेरा स्वरूप क्यो बना है। इसके लिए जैविक, मनोवैज्ञानिक या सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है, किन्तु उनका सम्वन्ध अधिक मौलिक कारणो से है, जो हमारी पहुँच के बाहर है। एक वार जव इम प्रकार की मौलिक समस्या हमारे सामने आ जाती है तो दर्शन सरलता से इसका उत्तर, अगर कोई हो—नही दे सकता। धर्मविश्वास का पता लगाने मे इससे कीर्केगार्ड का मार्गदर्शन हुआ।

जॉव के मित्र उसे सात्वना प्रदान करने का प्रयास करते हैं। उसका दु ख उचित प्रतिकार है, उसके पापो का दण्ड है, अगर वह इसकी शरण मे जाता है, तो फिर सब कुछ ठीक हो जायेगा। किन्तु जॉव इतनी आसानी से तसल्ली नहीं करता, क्योकि वह जानता है कि यह व्याख्या असत्य है। वह घोर निराशा मे डूब जाता है, क्योकि वह इस बात का अनुभव करता है कि वह ईश्वर के विरुद्ध भी ठीक है। "जॉब का रहस्य, उसकी जीवनशक्ति, उसकी दृढता, उसका विचार यह है कि सव कुछ होते हुए भी वह ठीक है ....उसका दावा है कि ईश्वर के साथ उसका सम्बन्ध अच्छा है, वह जानता है कि उसका अन्तरतम अबोध और पवित्र है, जहाँ उसे इस बात की चेतना है कि ईश्वर भी इसे जानता है, फिर भी उसका सम्पूण अस्तित्व उसके प्रतिकूल है।"[1] तो भी इस पूर्ण विरोधाभास से कि उसे इस बात की जानकारी है कि ईश्वर के विरुद्ध होते हुए भी वह ठीक है, जिसके विरुद्ध वह ठोक नही हो सकता, जवकि सम्पूर्ण अस्तित्व उसके प्रतिकूल है—वह अपनी निराशा मे, अपने मौलिक "एग्स्ट" मे इस वात का पता लगा लेता है कि धर्मविश्वास की क्या माँग है और अन्त मे, वह फिर भी गलत नही है। ईश्वर मनुष्य से इतने अपरिमित रूप मे पूर्ण रूप से समझने की आशा नही कर सकता और इस प्रकार हमे प्रतीयमान अचैतन्य को स्वीकार करना चाहिये। जॉव को प्रत्येक वस्तु के लिए ईश्वर की प्रशसा करनी है, दरियाई घोडा और मगर जैसे प्रतीयमान निरुद्देश्य जन्तुओ के लिए भी। "धर्मविश्वास का अर्थ होता है पूर्ण आत्मसमर्पण, धर्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए, मुझे अपनी आँखें वन्द कर लेनी चाहिये और विश्वास से निरर्थकता मे कूद पडना चाहिये।"[2] मुझे अगाध गर्त मे कूदने का जोखिम उठाना चाहिये।

"क्रियाओ" का अर्थ धर्मविश्वास की क्रिया और स्वय क्रिया से है। अब्राहम की कहानी से इन्हे और भी स्पष्ट किया जाता है। कीर्केगार्ड के लिए यह भी

नैतिक रूप से उन्नत करने वाली कहानी नही है, वह अब्राहम की "अस्तित्ववादी स्थिति" को फिर से जीवित करने का प्रयास करता है । ईश्वर ने वचन दिया है कि "उसके मूल मे विश्व की समस्त जातियो को वरदान मिलेगा .." समय वीता, यह (वचन) अबुद्धिमत्तापूण हो गया, अब्राहम विश्वास करता रहा । जव वह वहुत बूढा हो गया, उसे एक पुत्र हुआ, किन्तु उससे यह कहा गया कि वह अपने पुत्र का वलिदान चढाये । अत सव कुछ व्यर्थ मिद्ध हुआ– यह इतनी भयानक घटना थी कि यह न हुई होती तो ही अच्छी वात थी । इस प्रकार ईश्वर अब्राहम के साथ केवल खेल खेल रहे थे । उन्होने अद्‌भुत रूप से निरर्थक को वास्तविक वनाया और वदले मे वह इसे नष्ट करेगा वह कौन है जिसने उस बूढे व्यक्ति के सहारे को छीन लिया वह कौन है जो उस बूढ़े आदमी को दु ख देता है वह कौन है जो यह अपेक्षा करता है कि वह स्वय सव कुछ करेगा ? क्या उस पूज्य बूढे व्यक्ति के प्रति दया नही है, उस वच्चे के प्रति भी नही ? और फिर भी अब्राहम ईश्वर का चुना हुआ है, और ईश्वर ही उससे परीक्षा लेता है । अब सब कुछ समाप्त हो जायेगा ।[१] उसे इस नैराश्य को सहन करना है, इसे वह तत्काल बलिदान देकर कम नही कर सकता, क्योकि उसे तीन निरन्तर दिन और रात चलकर उस पर्वत पर पहुँचना है, जहाँ उसे बलिदान देना है । कीर्केगार्ड हमे इस लम्बी यात्रा की घोर व्यथा का बोध कराता है, उसके वाद वह हृदयविदारक और भयानक शब्दो मे परीक्षा के अन्तिम क्षणो का—लकडी चुनने, छुरी तेज करने और चमत्कार के पूर्व अन्तिम क्षणो के उत्पीडन का—वर्णन करता है । यह सचमुच मे भयानक, आतकपूर्ण, खौफनाक और हृदय को थर्रा देने वाला दृश्य है । फिर भी पूर्ण विरोधाभास है, जिसमे समस्त विपरीत प्रमाणो के वावजूद आशा और विश्वास शामिल है, अब्राहम के अन्त स्थल मे पूर्ण विश्वास है—उसे यह विश्वास है कि सब कुछ ठीक होगा, इस निरर्थकता मे भी कुछ अर्थ होगा, क्योकि ईश्वर ने ही तो उसके बेटे की बलि माँगी है । इस विश्वास के बिना, अब्राहम उसकी आज्ञा का पालन नही कर सका होता क्योकि तब तो उसके बेटे की बलि हत्या का रूप ले लेती । किन्तु यह विरोधाभास अन्त तक विरोधाभास ही वना रहता है अब्राहम अपने विश्वास के बारे मे कुछ कह नही सकता, अपने से भी नही, क्योकि इससे उसका वलिदान एक ढोग बन जायेगा, उसे भयानक माँग और अन्तिम (गाढ़े की)* सहायता के बीच अन्तर्विरोध

* यह एच० एच० फार्मर के शब्द हैं, जो ईश्वर को इस रूप मे देखता है कि वह हमें "निरपेक्ष माँग" और "अन्तिम (गाढे की) सहायता" का बोध कराता है ।

को असमाधेय रूप मे इसलिये अनुभव करना कि वह आतक और आशा दोनो का पूर्ण रूप से अनुभव करे। विश्वास के कार्य को, अर्थात् स्पष्ट रूप से विपरीत प्रमाण मिलने के बावजूद विश्वास करने, स्वीकार करने और आत्मसमर्पण करने की निरन्तर चाह को, स्पष्ट तार्किक निष्कर्षो द्वारा अनावश्यक नही बनाया जा सकता।

अत कीर्केगार्ड का विभीषा-सप्रत्यय असल मे न तो स्वाभाविक और विशिष्ट भय है, न किसी ऐसे सकट का भय है, जिसका सामना किया जा सकता है। प्रत्युत यह एक अनुभूति है कि किसी के पैर के नीचे की जमीन खिसक गयी है, अर्थात् समस्त सुरक्षा और निश्चितता समाप्त हो गयी है, और अब तो ईश्वर पर भी विश्वास नही किया जा सकता है—"अब सब कुछ समाप्त हो जायेगा।" जब इस मौलिक, इस तत्त्वमीमासीय प्रकार की विभीषा से प्रत्येक वस्तु की नीव हिल गयी, जिस पर मनुष्य खडा है, जब—और तभी, कीर्केगार्ड के अनुसार मनुष्य अपने मे उस गहनतम सत्ता का पता लगायेगा और उसकी पूर्ण अनुभूति प्राप्त करेगा जिसके सम्बन्ध मे धर्म का दावा है कि वह विचार करता है। साथ ही, निरपेक्ष विरोधाभास इस बात का सुनिश्चय करता है कि वह कोई आसान मार्ग नही निकाल सकता, उसे "वितल मे कूद लगानी होगी", जो ईश्वर से मनुष्य को अलग करता है, जिसे ईश्वर होने के लिए मानवीय ज्ञान के क्षेत्र से एकदम परे जाना होगा।

परन्तु इस स्थिति के विरोधाभासी स्वरूप का यह अर्थ होता है कि विभीषा और दु ख के बावजूद—सम्भवत उनके कारण भी—हम उन अनुभूतियो द्वारा बच सकते हैं, जो उनका प्रतिकार करते हैं अगर हम उस विरोधाभास को पूर्ण रूप से स्वीकार करना चाहते हो तो ? किसी पर विश्वास लादना असम्भव है, हम अपने ऊपर भी नही लाद सकते, किन्तु तीव्र रूप से हम इसकी इच्छा कर सकते है, हमारी स्थिति चाहे जो कुछ भी हो, हम पूर्ण रूप से शक्तिविहीन नही है। हमे भय हो सकता है, क्योकि विरोधाभास का तत्त्व इस बात को स्पष्ट कर देता है कि किसी प्रकार के वरण करने मे दु खद खतरा तो है ही। परन्तु कूद लगाने का निर्णय पक्का भी होगा, क्योकि, चूंकि किसी अमूर्त और सामान्य रूप से सही निष्कर्ष से यह विरोधाभास दूर नही किया जा सकता, अत हम महसूस करेंगे कि व्यक्ति के रूप मे ही हम वरण कर सकते हैं, अर्थात् हम मे से प्रत्येक को ही इसका वरण करना होगा और इसकी अनुभूति प्राप्त करनी होगी। "या तो विरोधाभास यह है कि व्यक्ति का परम सम्बन्ध परमतत्त्व के

साथ है या अब्राहम खो जाता है।"¹ इस असम्भाव्यता के बावजूद, ब्रह्माण्ड देखने पर, प्रत्येक अत्यन्त सूक्ष्म व्यक्ति का महत्त्व है, मनुष्य किसी ऐसी पर तत्त्वता की अनुभूति प्राप्त कर सकता है जो ईश्वर की परम-तत्त्वता से उस सम्बन्ध जोडता है। विरोधाभास की यह अपरिहार्यता इस बात का सुनिश्च करती है कि कूद मे खतरा तो है ही, क्योंकि कूद लगाने के बाद जो परिणा निकलते है, उनसे ही स्पष्ट अनुभूति की सम्पुष्टि होती है, हम उसके पूर्व कभ यह नही जान सकते कि हम ठीक है। किन्तु चूँकि इसमे खतरा ही है, हमे उ अनुभूति की पूर्णता और गहराई का बोध हो जाता है, जो हमारी तत्त्वमीमासीय विभीषा पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। कीर्केगार्ड का विश्वास है कि हम "ईश्वर की खुली बाँहो मे" कूद लगायेंगे।

कीर्केगार्ड पर यह आरोप लगाया गया है कि उसने विरोधाभास पर बल देकर तर्कबुद्धि पर अकारण आक्षेप किया है। यह सत्य है कि वह "इसे विरोधाभास कहकर पुकारता है जिस पर कोई भी विचारण अपना अधिकार नही जमा सकता, क्योकि विश्वास का आरम्भ वही से होता है जहाँ विचारण-क्रिया समाप्त होती है। यह सत्य हो सकता है कि वह उस गहरे गर्त पर अत्यधिक बल देता है जो मनुष्य को ईश्वर से अलग करता है, इस प्रकार इसका स्पष्ट रूप से अर्थ यह होता है कि मनुष्य मे देवत्त्व का कोई गुण नही है—अर्थात् जैसाकि आगस्टाइन ने दावा किया था कि मनुष्य की स्वतन्त्रता पाप की स्वतन्त्रता है, जबकि प्रत्येक वास्तविक वस्तु ईश्वर से उत्पन्न होती है। किन्तु हम कूद लगाने की जोखिम क्यो उठाना चाहते है, जबकि हममे उसका कोई गुण नही है। परन्तु ये सभी आरोप, हालाँकि आशिक रूप से न्यायोचित हैं—उनमे से कुछ आरोपो के सम्बन्ध मे बाद मे विचार करेंगे— फिर भी सभी सही नही हैं, क्योकि हम जिस विरोधाभास की आलोचना करते हैं, उसकी ही अवहेलना करते हैं। कीर्केगार्ड तर्कबुद्धि और बुद्धि का आत्यन्तिक रूप से प्रयोग करता है, जिससे उसे इस बात का निश्चय हो जाये कि अबुद्धितत्त्व प्रारम्भ मे ही अनुचित रूप से न घुस जाये, वह इसे केवल वही स्वीकार करता है जहाँ इसे टाला नही जा सकता और तर्कबुद्धि सहायक नही हो सकती। विभीषा की अनुभूतिपूर्ण अनिश्चितता या अवस्तुता ही हृदयविदारक अनुभूति है, किन्तु यह निराशाजनक नही है, क्योकि इसी प्रकार से मनुष्य के भीतर की वास्तविकता प्रकट होती है। कीर्केगार्ड का दर्शन निस्सन्देह अतिसयमी है, सम्भवत अत्यधिक अतिसयमी है, फिर भी इस सयम को निराशावाद के रूप मे ग्रहण नही करना चाहिये,

क्योकि उसका विश्वास है कि अगर मनुष्य नैराश्य से टूट जाता है तो उसने काफी गहराई से इसकी अनुभूति प्राप्त नही की है, अगर उसने की होती तो उसने अन्त स्थल मे उस सत्ता का पता पा लिया होता जो उसे बचा सकता । सम्भवत हम यह भी कह सकते हैं कि इतिहास ने विरोधाभास मे कीर्केगार्ड के विश्वास को पुष्ट किया है । उसने ईसाई धर्म को कभी आसान प्रतीत नही होने दिया, उसने सात्वना या जीवन के अलकरण के रूप मे धर्मविश्वास का प्रतिनिधित्व नही किया, प्रत्युत पूर्ण सच्चाई से "भयावह माँग" के रूप मे किया, और फिर भी वही था— वे लोग नही, जिन्होने सुगम मार्ग निकालने का प्रयास किया, जिसने यूरोप के बुद्धिजीवी-वर्ग मे ईसाई धर्म को पुन प्रतिष्ठापित किया। उसकी प्रत्यक्ष निराशापूर्ण माँगे निराशाजनक सिद्ध नही हुई हैं, क्योकि इनसे ईसाई धर्म को वह बल और ऐश्वर्य प्राप्त हुए है । जिनका नीट्त्शे मे अभाव था ।

कीर्केगार्ड के मन मे मुख्य रूप से यह प्रश्न बार-बार उठता था, "ईसाई होने का अर्थ क्या है ? किन्तु उसके अभिगम का सामान्य दार्शनिक महत्त्व स्पष्ट है । निरपेक्ष विरोधाभास से तर्कबुद्धि एव बाह्य ज्ञान की सीमाओ का पता चल जाता है, और यह भिन्न प्रकार से विचार करने की आवश्यकता की ओर सकेत करता है, अर्थात् यह उस विचारण की ओर सकेत करता है जो तार्किक एव वैज्ञानिक विचारण मे भिन्न हो, यह विचार-पद्धति आन्तरिक भाग-ग्रहण पर आधारित हो, जिसका उल्लेख हम प्रथम अध्याय मे कर चुके हैं और विस्तार से आगे इसकी चर्चा करेंगे । कीर्केगार्ड इसे "आत्मनिष्ठ विधि" कहता है । वह विरोधाभास और इस विधि का, दोनो का नीतिशास्त्र पर भी प्रयोग करता है, और यहाँ दर्शन के साथ इसकी प्रासगिकता और अधिक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है ।

जब कीर्केगार्ड यह देखता है कि अब्राहम अपने बेटे की बलि चढाने के लिए तैयार है, जो कि अनैतिक है और फिर भी न्यायोचित है तो वह पूछता है "नैतिकता का कोई प्रयोजनवादी निलम्बन है क्या ?[1] उच्चतर उद्देश्य अर्थात् महानतम कार्य के लिए क्या नैतिकता को निलम्बित किया जा सकता है ? वह अकारण प्रश्न नही करता है, क्योकि कई वर्षो से नीतिशास्त्र उसका महत्त्वपूर्ण विषय रहा था । किन्तु पाप-सप्रत्यय को प्रस्तुत करते समय जहाँ भी उसे विरोधाभास मिलता है उससे उसे सन्तोषजनक उत्तर पाने मे सहायता मिलती है ।

नीतिशास्त्र नैतिक मूल्यो और धर्मादेशो का, शुभ और अशुभ का, उचित और अनुचित का विवेचन करता है, पाप का नही, अन्तर यह है कि नैतिक मूल्यो

की परिभाषा या तो निरपेक्ष या सापेक्ष नैतिक नियमो से दी जाती है, जबकि पाप अनुभवातीत सत्ता के विरुद्ध एक अपराध है। किन्तु इन दो सप्रत्ययो को--नीतिशास्त्र और पाप को--शायद ही पूर्ण रूप से पृथक् किया जा सकता है, बुरा कार्य पाप है, बुरा कार्य करने वाला पापी। अत "जो नीतिशास्त्र पाप की अवहेलना करता है, वह पूर्ण रूप से निकम्मा विज्ञान है, किन्तु अगर यह पाप का समर्थन करता है तो यह तथ्यत अपने से परे है।" इसमे भ्रान्तिपूर्ण अन्तर्विरोध यह भी है कि नैतिक नियम को, जो वास्तविक और विश्वजनीन सिद्धान्त है, उस पाप-सप्रत्यय से उच्चतर होना चाहिये, जो निषेधात्मक एव वैयक्तिक कार्य है। किन्तु वैयक्तिक अनुभूति इसके विपरीत सिद्ध करती है, क्योकि पाप से व्यक्ति, विश्वजनीन से पहले ही श्रेष्ठ है, और चूँकि वह अनुभवातीत सत्ता के विरुद्ध कार्य कर रहा है, अत वह उसके कार्य सम्पर्क मे है। परन्तु यह फिर भी मूल रूप मे अन्तर्विरोध है, जो उत्तर देता है, "जब व्यक्ति अपने दोष से, विश्वजनीन से बाहर चला गया है तो वह परम सत्ता के साथ परम सम्बन्ध जोडकर व्यक्ति के रूप मे वह लौट सकता है।"[1] परम सत्ता के विरुद्ध अतिक्रमण करके, पापी उस गूढ सत्ता तक पहुँच गया है जो उसे बदल सकता है क्योकि वह क्षमा के स्रोत तक भी पहुँच गया है। ईश्वर नैतिकता को निलम्बित कर सकता है, केवल अब्राहम से माँग करते समय ही नही, प्रत्युत उस समय भी जब किसी असत् की अनुभूति यथार्थ रूप से पाप के रूप मे हो, क्योकि इस अनुभूति मे पश्चाताप् है और इस प्रकार यह पवित्रिकरण की ओर अग्रसर करता है जो नीतिशास्त्र के परे है।

क्या इससे नीतिशास्त्र का महत्त्व घट नही जाता या समाप्त नही होता ? कीर्केगार्ड इसे बढाना चाहता है, किन्तु वह हमेशा यह दिखलाता है कि नैतिक माँगें इतनी अधिक हैं कि कोई व्यक्ति इन्हे पूरी नही कर सकता, वे केवल हमे इस बात से अवगत कराती हैं कि हम पापी है। तब नैतिक नियम या नीतिशास्त्र की उपयोगिता क्या है ? फिर विरोधाभास के वास्तविक निहितार्थ है। इससे तीन चीजे प्राप्त हो जाती हैं।

पहला, नीतिशास्त्र आवश्यक समझा जाता है, क्योकि इसके बिना हमे अपनी स्थिति का पूर्ण बोध नही हो सकता, अर्थात् हमे इस बात का बोध नही हो सकता कि हम पापी हैं। किन्तु इस बोध की आवश्यकता के कारण, नीतिशास्त्र का केवल यह अर्थ नही है कि यह नैतिक नियम पालन करने का आदेश है, यह निजी भाग ग्रहण की माँग करता है। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि

नियमो के लिए ही नैतिक नियमो का पालन कितना खतरनाक है, अनिन्द्य व्यवहार सुयश प्राप्त करने जैसे अस्पष्ट अभिप्रेरको को आसानी से छिपा सकता है, हमारे सद्गुण हमारे पापो का सगम स्थल बन सकते हैं। फ्रासीसियो की धर्मपरायणता के बावजूद, इस प्रकार की अभिवृत्ति के लिए वे कहावत हो गये हैं। अत नीतिशास्त्र को समझने के लिए, हमे भीतर मे चलना है और "आत्म-निष्ठ विधि" का प्रयोग करना है।

दूसरा, अगर हम ऐसा करते है, तो हमे तुरन्त इस बात का पता चल जाता है कि नैतिक नियम निरपेक्ष है, सापेक्ष नही, क्योकि इसमे हेर-फेर नही किया जा सकता। हम इसका अनादर या अवज्ञा कर सकते हैं किन्तु फिर भी हम जानेगे कि हमे भिन्न रूप से कार्य करना चाहिये। अगर पाप को अस्वीकार भी किया जाये तो पाप का अनुभव पाप के रूप मे होगा। कीर्केगार्ड धर्मादेश का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है "तुम अपनी तरह पडौसी से प्रेम करो।" दूसरे व्यक्ति के साथ किसी भी प्रकार के यथार्थ सम्बन्ध से हम अनुभव से यह जान लेते हैं कि हमे इस धर्मादेश के प्रकाश मे उसके साथ व्यवहार करना चाहिये, अगर हम ऐसा नही भी करना चाहते हो या अपने को असमर्थ पाते हो तो भी। हम निश्चित रूप से यह जानते हैं कि हमारे व्यवहार पर प्रेम का आदेश होना चाहिये, किन्तु हम इस बोध पर कार्य करने से पीछे रह जा सकते है—सम्भवत हम हमेशा रहते हैं।

अत अन्त मे कीर्केगार्ड केवल मनुष्य की आत्मा नही, बल्कि अपनी "नैतिक आत्मा" के बारे मे बोलने के लिए बाध्य हो जाता है। नैतिकता निरपेक्ष ही हो सकती है, क्योकि मनुष्य मे यह इतनी गहराई मे है कि इसे उसकी यथार्थ प्रकृति की विशेषता के रूप मे समझना चाहिये। जैसाकि कुछ अस्तित्ववादियो का दावा है कि मनुष्य कोई अपरिभाषित प्राणी नही है, जिसे स्वेच्छा से बदला जा सकता है, वह एक नैतिक प्राणी है।

ये नैतिक प्रश्न इतने तात्त्विक हैं कि हम अलग अध्याय मे इनका विस्तार से विवेचन करेंगे और साथ ही इनके सम्बन्ध मे सम्भव आपत्तियो पर भी विचार करेंगे। किन्तु ये कुछ बातें यह दिखलाने के लिए पर्याप्त होगी कि कीर्केगार्ड ने नीतिशास्त्र का स्थान घटाने के बजाय इसे सबसे अधिक महत्त्व प्रदान किया है। चूंकि वह नीतिशास्त्र की सीमाओ को देखता है अत वह इसकी निरपेक्षता दिखलाने मे सफल होता है, इस ज्ञान से नीतिशास्त्र के नियम सापेक्ष नही हो जाते कि इसका निर्माण धार्मिक आधारशिला पर होता है (जिसका अर्थ यही

की परिभाषा या तो निरपेक्ष या सापेक्ष नैतिक नियमो से दी जाती है, जबकि पाप अनुभवातीत मत्ता के विरुद्ध एक अपराध है । किन्तु इन दो सप्रत्ययो को–नीतिशास्त्र और पाप को–शायद ही पूर्ण रूप से पृथक् किया जा सकता है, बुरा कार्य पाप है, बुरा कार्य करने वाला पापी। अत "जो नीतिशास्त्र पाप की अवहेलना करता है, वह पूर्ण रूप से निकम्मा विज्ञान है, किन्तु अगर यह पाप का समर्थन करता है तो यह तथ्यत अपने से परे है ।" इसमे भ्रान्तिपूर्ण अन्तर्विरोध यह भी है कि नैतिक नियम को, जो वास्तविक और विश्वजनीन सिद्धान्त है, उस पाप-सप्रत्यय से उच्चतर होना चाहिये, जो निषेधात्मक एव वैयक्तिक कार्य है। किन्तु वैयक्तिक अनुभूति इसके विपरीत सिद्ध करती है, क्योकि पाप से व्यक्ति, विश्वजनीन से पहले ही श्रेष्ठ है, और चूँकि वह अनुभवातीत सत्ता के विरुद्ध कार्य कर रहा है, अत वह उसके कार्य सम्पर्क मे है । परन्तु यह फिर भी मूल रूप मे अन्तर्विरोध है, जो उत्तर देता है, "जब व्यक्ति अपने दोष से, विश्वजनीन से बाहर चला गया है तो वह परम सत्ता के साथ परम सम्बन्ध जोडकर व्यक्ति के रूप मे वह लौट सकता है ।"[1] परम सत्ता के विरुद्ध अतिक्रमण करके, पापी उस गूढ सत्ता तक पहुँच गया है जो उसे बदल सकता है क्योकि वह क्षमा के स्रोत तक भी पहुँच गया है । ईश्वर नैतिकता को निलम्बित कर सकता है, केवल अब्राहम से माँग करते समय ही नही, प्रत्युत उस समय भी जब किसी असत् की अनुभूति यथार्थ रूप से पाप के रूप मे हो, क्योकि इस अनुभूति मे पश्चाताप् है और इस प्रकार यह पवित्रिकरण की ओर अग्रसर करता है जो नीतिशास्त्र के परे है ।

क्या इससे नीतिशास्त्र का महत्त्व घट नही जाता या समाप्त नही होता ? कीर्केगार्ड इसे बढाना चाहता है, किन्तु वह हमेशा यह दिखलाता है कि नैतिक माँगें इतती अधिक है कि कोई व्यक्ति इन्हे पूरी नही कर सकता, वे केवल हमे इस बात से अवगत कराती हैं कि हम पापी है । तब नैतिक नियम या नीतिशास्त्र की उपयोगिता क्या है ? फिर विरोधाभास के वास्तविक निहितार्थ हैं । इससे तीन चीजे प्राप्त हो जाती हैं ।

पहला, नीतिशास्त्र आवश्यक समझा जाता है, क्योकि इसके बिना हमे अपनी स्थिति का पूर्ण बोध नहीं हो सकता, अर्थात् हमे इस बात का बोध नही हो सकता कि हम पापी हैं । किन्तु इस बोध की आवश्यकता के कारण, नीतिशास्त्र का केवल यह अर्थ नही है कि यह नैतिक नियम पालन करने का आदेश है, यह निजी भाग ग्रहण की माँग करता है । प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि

नियमो के लिए ही नैतिक नियमो का पालन कितना खतरनाक है, अनिन्द्य व्यवहार सुयश प्राप्त करने जैसे अस्पष्ट अभिप्रेरको को आसानी से छिपा सकता है, हमारे सद्गुण हमारे पापो का सगम स्थल बन सकते हैं। फ्रासीसियो की धर्मपरायणता के बावजूद, इस प्रकार की अभिवृत्ति के लिए वे कहावत हो गये हैं। अत नीतिशास्त्र को समझने के लिए, हमे भीतर से चलना है और "आत्मनिष्ठ विधि" का प्रयोग करना है।

दूसरा, अगर हम ऐसा करते हैं, ता हमें तुरन्त इस बात का पता चल जाता है कि नैतिक नियम निरपेक्ष है, सापेक्ष नही, क्योकि इसमे हेर-फेर नही किया जा सकता। हम इसका अनादर या अवज्ञा कर सकते हैं किन्तु फिर भी हम जानेंगे कि हमे भिन्न रूप से कार्य करना चाहिये। अगर पाप को अस्वीकार भी किया जाये तो पाप का अनुभव पाप के रूप मे होगा। कीर्केगार्ड धर्मादेश का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है "तुम अपनी तरह पडौसी से प्रेम करो।" दूसरे व्यक्ति के साथ किसी भी प्रकार के यथार्थ सम्बन्ध से हम अनुभव से यह जान लेते हैं कि हमे इस धर्मादेश के प्रकाश मे उसके साथ व्यवहार करना चाहिये, अगर हम ऐसा नही भी करना चाहते हो या अपने को असमर्थ पाते हो तो भी। हम निश्चित रूप से यह जानते हैं कि हमारे व्यवहार पर प्रेम का आदेश होना चाहिये, किन्तु हम इस बोध पर कार्य करने मे पीछे रह जा सकते हैं—सम्भवत हम हमेशा रहते है।

अत अन्त मे कीर्केगार्ड केवल मनुष्य की आत्मा नही, बल्कि अपनी "नैतिक आत्मा" के बारे मे बोलने के लिए बाध्य हो जाता है। नैतिकता निरपेक्ष ही हो सकती है, क्योकि मनुष्य मे यह इतनी गहराई मे है कि इसे उसकी यथार्थ प्रकृति की विशेषता के रूप मे समझना चाहिये। जैसाकि कुछ अस्तित्ववादियो का दावा है कि मनुष्य कोई अपरिभाषित प्राणी नही है, जिसे स्वेच्छा से बदला जा सकता है, वह एक नैतिक प्राणी है।

ये नैतिक प्रश्न इतने तात्त्विक हैं कि हम अलग अध्याय मे इनका विस्तार से विवेचन करेंगे और साथ ही इनके सम्बन्ध मे सम्भव आपत्तियो पर भी विचार करेंगे। किन्तु ये कुछ बातें यह दिखलाने के लिए पर्याप्त होगी कि कीर्केगार्ड ने नीतिशास्त्र का स्थान घटाने के बजाय इसे सबसे अधिक महत्त्व प्रदान किया है। चूंकि वह नीतिशास्त्र की सीमाओ को देखता है अत वह इसकी निरपेक्षता दिखलाने मे सफल होता है, इस ज्ञान से नीतिशास्त्र के नियम सापेक्ष नही हो जाते कि इसका निर्माण धार्मिक आधारशिला पर होता है (जिसका अर्थ यही

होता है कि यह किसी अन्य चीज पर आश्रित है), किन्तु विरोधाभासी रूप से, यह ज्ञान सापेक्षता मे इसका अपकर्ष होने से रोकता है। अपने से किसी उच्चतर वस्तु पर, किसी परम सत्ता पर निर्भरता, मनुष्य को स्वतन्त्र कर देती है।

प्राय विपरीत मत माना जाता है—कि ईश्वर पर निर्भरता से भी नीतिशास्त्र सापेक्ष बन जाता है। यह कीर्केगार्ड का युक्ति देने का तरीका नही होगा। स्वतन्त्रता का स्पष्ट रूप से यह अर्थ होता है कि किसी बाहरी तत्त्व के बाध्यकरण के बिना, अपनी अन्तरतम प्रकृति के मेल से काम किया जाये और कीर्केगार्ड के अनुसार, मनुष्य की अन्तरतम प्रकृति उसकी नैतिक आत्मा है। अत ईश्वर जब इस आत्मा से आग्रह करता है तो यह कोई बाह्य बाध्यकरण नही है, बल्कि वह उसकी यथार्थ प्रकृति के अनुसार उसे काम करने के लिए समर्थ बनाकर मनुष्य को स्वतन्त्र करता है, और इसका कारण यह भी है कि माँग निरपेक्ष है, यह उसे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कर देता है।*

ये दृढ कथन, समस्त धार्मिक निर्देशनो की तरह, विश्वास पर आधारित हैं और ये अप्रत्यायक प्रतीत हो सकते है। जैसाकि मैंने कहा है, हम उनके सम्भव खण्डन पर विशेष रूप से ध्यान देते हुए, हम अधिक विस्तार से जाँच करने का प्रयास करेंगे। कीर्केगार्ड उनकी व्याख्या करके उन्हे प्रत्यायक बनाता है, और इस प्रकार नीतिशास्त्र के इस अभिगम तथा अस्तित्ववादी अभिवृत्ति की निरर्थकता सिद्ध करता है। यह बात उसकी कई कृतियो मे प्रकट हो जाती है, किन्तु विशेष रूप से उसकी पुस्तक "वर्क्स ऑफ लव" मे स्पष्ट होती है, जिसमे वह इस धर्मादेश के एक-एक शब्द का विवेचन करता है—"तुम अपनी तरह पडौसी से प्रेम करो।" हम यहाँ इस लम्बी पुस्तक का सक्षेप प्रस्तुत कर सकते है, जो सम्भवत न्याय करना नही हो सकता, किन्तु प्रत्येक शब्द की सक्षिप्त व्याख्या से भी विचारो की खान दीखेगी, जो नैतिकता की निरपेक्षता की स्वीकृति से सुलभ हुई है।

तुम—यह धर्मादेश मुझे सम्बोधित कर दिया गया है, किसी और को सम्बोधित करके नही। और यह निरुपाधिक है—जिसका अर्थ यह होता है कि यह केवल इसलिये नही है कि जहाँ तक सम्भव हो सके वह मुझे अच्छा व्यवहार करने मे सहायक हो, प्रत्युत उपाधियो पर ध्यान दिये बिना मुझे आरम्भ करने के लिए कहा जा रहा है। शुभ को यथार्थ बनाने के लिए आरम्भ करना। यह स्वाभाविक है कि मैं यह सोचने के लिए बाध्य हो जाऊँगा कि मैं महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नही हूँ मेरा कोई प्रभाव नही है, मैं सुबुद्धि से काम करने के सिवा और अधिक

* युक्ति की यह प्रणाली दूसरे अध्याय में निष्कर्षों का आधार भी बनती है।

कुछ कर भी नही सकता और वह भी सीमा के भीतर ही। अधिक महान्, अधिक शक्तिशाली मनुष्यो को आरम्भ करने दिया जाये, जो सरकार और विशाल सगठनो के लिए उत्तरदायी हैं, मै केवल प्रतीक्षा कर सकता हूँ और देख सकता हूँ कि अन्य लोग क्या कर रहे हैं और सम्भवत उनका समर्थन भी कर सकता हूँ। किन्तु कीर्केगार्ड इस बात पर बल देता है कि यह आरम्भ करने की मेरी बारी है और इस आरम्भ का महत्त्व है, सबमे अधिक व्यापक सन्दर्भ मे भी। यह अवास्तविक, अत असम्भव लग सकता है—किन्तु क्या यह अवास्तविक है ?

प्राकृतिक विज्ञान के प्रभाव मे हम यह विश्वास करने लगे हैं कि किसी कार्य का सम्बन्ध इसके कारण से आसानी से जोडा जा सकता है। हो सकता है कि आधुनिक भौतिकी मे अब इसका प्रयोग न हो, किन्तु फिर भी हाल के इन विकासो का हमारी विचार प्रणाली पर शायद ही प्रभाव पडा है। जो भी हो, यह निश्चय रूप से सत्य नही है कि मानवीय क्रिया-कलापो मे कार्य और कारण के सम्बन्ध का आसानी से पता लगाया जा सकता है। हम कुछ उदाहरणो पर विचार करे जो कीर्केगार्ड की दृढ धारणा का समर्थन करते हैं। ईसामसीह के समय के किसी ऐसे रोमन की कल्पना कीजिये जो यह कहता हो कि साम्राज्य के किसी दूर कोने मे पडा थोडे अनुयायियो के साथ रब्बी, साम्राज्य के प्रचलित धर्म के लिए, उन सभी व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक खतरा है, जो ऊँचे पद पर है तो सारा रोम उसकी बातो पर हँसेगा। फिर भी ठीक यही बात थी, जो सत्य सिद्ध हुई और अपेक्षाकृत कम समय मे या १८६० के किसी ऐसे लन्दन-वासी की कल्पना कीजिये जो यह कहता हो कि इन विचित्र विदेशी शरणार्थियो मे एक, जिसका नाम कार्ल मार्क्स है और जो काफी गरीबी मे और लगभग अकेला रह रहा है, पुस्तक लिख रहा है जो कुछ ही दशको मे ससार को बदल देगा—थोडे से समाजवादियो के सिवा और कोई उसकी बातो पर विश्वास नही करता। या इस उदाहरण को ले। राष्ट्रीय समाजवादी दल की स्थापना करने के लिए, १९२१ मे, म्यूनिच के एक सुरागार मे सात सनकी मिले कौन यह विश्वास कर सकता है कि उस बैठक मे सबसे शक्तिशाली राजनीतिक दल का जन्म हो रहा था, जिसके बारे मे जर्मनी अभी तक अनभिज्ञ था ? अच्छा हो या बुरा, मानवीय इतिहास मे रहस्यात्मक तथा अप्रत्याशित कार्य हुए है, जिनके कारण ऐसे अशक्त व्यक्ति रहे हैं, जिनके कार्यो ने नये विकास प्रारम्भ किये हैं, परन्तु वे इसी कारण से सफल हो सके है कि समान रूप से ऐसे अशक्त व्यक्तियो के छोटे दल है जो किसी नयी चीज के लिए तैयार हैं। व्यक्ति ही महत्त्व रखता है।

दूसरे शब्दो मे, हमे ऐसे काम करने के लिए तैयार रहना चाहिये, जिन्हे हम उचित समझते है, जब एक बार हमे यह विश्वास हो जाता है कि उन्हें करना चाहिये, बिना यह सोचे विचारे कि वे सफल होगे या नही, क्योकि व्यापक सन्दर्भ मे, इनका पूर्वज्ञान नही होता। निरपाधिक रूप से धर्मादेश का पालन करना ही अधिक ठीक होगा, वांछित फल की सम्भाव्यता या असम्भाव्यता के बारे मे सोचना ठीक नही होगा। उदाहरण के लिए, जटिल परिस्थितियो मे, उचित और अनुचित के सम्बन्ध मे हमारी दृढ धारणाओ से ही मार्गदर्शन मिलेगा, जैसेकि परमाणु अस्त्रो के रखने की बात है, जिसके सम्बन्ध मे दोनो ओर से दी जाने वाली युक्तियाँ अनिर्णायक हैं।

हमारे अनुभव से यह सिद्ध हो जायेगा कि कीर्केगार्ड का अभिगम न्यायोचित है। आरम्भ करने के लिए दूसरो की प्रतीक्षा करना शक्तिहीनता है, किसी काम मे प्रयास करने से ही हमारी सम्भाव्यताएँ विकसित होती हैं। इस प्रयास मे ही हम वास्तविक होते हैं।

तुम करो – यह धर्मादेश हमारी प्रवृत्तियो के प्रति निवेदन नही हैं, हमसे कर्त्तव्य करने के लिए कहा जाता है। किन्तु फिर भी यह एक विरोधाभास नही है ? अगर प्रेम को निष्कलुष होना है तो इसे स्वत प्रवर्तित होना चाहिये, प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि अगर हम जिसे नापसन्द करते है, उससे हम अपने को प्रेम करने के लिए बाध्य करने का प्रयास करे तो इसके सन्दिग्ध परिणाम निकल सकते है। फिर भी किसी पडोसी से प्रेम करना एक धर्मादेश है।

इस तथ्य मे कि प्रेम को कर्त्तव्य बनाया जा सकता है, कीर्केगार्ड हमारे अस्तित्व मे अनुभवातीत सत्ता का प्रवेश देखता है। हम सभी निस्सन्देह रूप से प्रेम करने मे समर्थ हैं। कोई छुटकारा नही है "प्रेम कला की तरह नही है - जो ऐसे कुछ व्यक्ति के लिए है" जो इसमे निपुण हैं, प्रत्येक व्यक्ति को प्रेम मिला जो करना चाहता है।[1] यह धर्म मे पहले ही से है, इसमे किसी विशेष प्रतिभा की आवश्यकता नहीं है, यह महान प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियो तक ही सीमित नही है, यह प्रत्येक व्यक्ति की पहुँच मे है। प्रेम बाह्य परिस्थितियो से स्वतन्त्र भी हैं * अगर कोई मेरा हाथ काट लेता है तो मैं सितार नही बजा सकता,

*कीर्केगार्ड इस बात पर बल देता है कि प्रतिभा कोई धार्मिक शब्द नही है, क्योंकि यह कुछ ही लोगो तक सीमित है, और महान् धर्मों के सस्थापक भी प्रतिभाशाली नही कहला सकते क्योंकि उनकी उपलब्धियाँ उन बातो पर आधारित हैं जो मानवता मे सामान्य हैं।

[1] पृ० ६३ और अध्याय ४ देखिये।

और अगर कोई मेरा पैर काट लेता है तो मैं नाच नही सकता अगर मे स्वय टूटा हाथ या पैर लेकर पडा रहूँ तो मैं किसी को आग की लपट से जान बचाने के लिए दौड नही सकता, किन्तु मुझमे सहानुभूति हो सकती है ।[1] फिर भी इस धर्मादेश मे और बातो की पूर्व कल्पना की गयी है, इसके अधीन भाव है जिसे स्वत प्रवर्तित होना चाहिये । अत हमसे महान् प्रेम ही जो हमारे भीतर जागता है, इस धर्मादेश को अर्थ प्रदान कर सकता है "पार्थिव प्रेम और मित्रता मे पक्षपात मध्यवर्ती शब्द है । पडोसी से प्रेम करने मे ईश्वर मध्यवर्ती शब्द है, अगर सबके ऊपर तुम ईश्वर से प्रेम करते हो तो तुम अपने पडोसी और अपने पडौस के प्रत्येक व्यक्ति से प्रेम करते हो ।"[2]

तब क्या एक बार फिर उन धार्मिक कथनो मे से एक हमारे सामने आ जाता है जो धर्मविश्वास की क्रिया से ही स्वीकार्य होता है ? सम्पूर्ण रूप से नही, क्योकि इस धर्मादेश के विशेष महत्त्व से ही मानवीय अनुभूति के सम्बन्ध मे यह धार्मिक कथन सुलभ होता है । क्योकि जब हम बिना किसी शर्त के किसी दूसरे व्यक्ति से मिलते है और अगर हम अपनी प्रतिक्रियाओ का निरीक्षण करते हैं तब हम निश्चित रूप से यह जानते है जैसाकि हमने पहले इसका उल्लेख किया है, कि यह धर्मादेश तर्कसगत है । अक्सर नैतिकता को धर्म का वह पक्ष कहा जाता है जिसके सम्बन्ध मे विचार-विमर्श किया जा सके । कीर्केगार्ड तर्क और तर्कबुद्धि से हमे वास्तविक रूप से यह अवगत कराता है कि हम दो विश्व के नागरिक हैं—मानवीय विश्व और दैविक विश्व । यह और भी स्पष्ट हो जाता है जब वह उस मानवीय ज्ञान के अग के रूप मे "पडोसी" शब्द की व्याख्या करता है जो देवत्त्व की ओर अभिमुख है ।

प्रेम—कीर्केगार्ड यह दिखलाता है कि यह धर्मादेश भाव की ओर सकेत करता है, अमूर्त ज्ञान की ओर नही । वह पास्कल के दृढ कथन की व्याख्या करता है "ईश्वर का ज्ञान उसके प्रेम से बहुत भिन्न है ।" पास्कल की तरह वह "हृदय के विवेक" पर बल देता है ।[3] किन्तु चूँकि यह एक भाव है, अत इसकी परिभाषा सावधानी से देनी है, यह कोई ऐसा सम्वेग नही है, चाहे यह कम या तीव्र हो, जिसकी अनुभूति विशेष अवसर पर हो जैसे अनुरक्त हो जाना, इसे उचित प्रकार से स्थायी होना चाहिये, यह भावप्रवण हो पर फिर भी नियन्त्रित हो ।

जब हम अधिक मूल भावनाओ का विवेचन करने का प्रयास करते हैं, विशेष रूप से जब हम "प्रेम" शब्द को स्पष्ट करने का प्रयास करते है तब हमारी भाषा

अपने को सक्षम नही पाती। कम से कम कुछ मौलिक भेद स्थापित करने के प्रयास किये गये हैं, अगर "दान" शब्द का इस हद तक अर्थ नही बदल जाता तो ये दो सम्प्रत्यय "प्रेम" और "दान" सहायक हो सकते। कुछ लेखको ने यूनानी शब्द "एगेप" की शरण ली है, किन्तु इस शब्द की जड नही जमी है। फिर भी अगर पुरुष नारी के प्रेम और ईश्वर के प्रेम तथा पडौसी के प्रेम मे अन्तर बतलाने वाले दो उपयुक्त शब्द होते भी तो प्रत्येक शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार के भावो के लिए होता जैसे—(कुछ उदाहरण देखे) अनुरक्त हो जाना, पति-पत्नि, का प्रेम, माँ-बाप और बच्चे का प्रेम, मित्रो का प्रेम ईश्वर का प्रेम, मानवजाति का प्रेम, पडौसी के रूप मे एक व्यक्ति का प्रेम, शत्रु का प्रेम, प्रेम के और प्रकारो को तो छोड दें, जैसे—देश प्रेम, सौन्दर्य-प्रेम, किसी भी कृति से प्रेम।[1] अत यह विशेष महत्त्व की बात है कि कीर्केगार्ड का, पडौसी प्रेम का अर्थ स्पष्ट करने मे इन अनेक भेदो से सफलता मिली।

इन भेदो का महत्त्व विस्तृत वर्णन पर इतना निर्भर करता है कि उन्हे सक्षेप मे प्रस्तुत नही किया जा सकता। "तुम करो" के विवेचन मे जिन कुछ उद्धरणो का प्रयोग किया गया है, उनसे स्पष्टीकरण की दिशा कुछ मालूम हुई होती। इस पर और अधिक प्रकाश डालने के लिए दोस्तोविस्की की एक विनोदपूर्ण उक्ति सरल उपाय के रूप मे सहायक होगी। अपने एक पत्र मे वह कहता है कि सम्पूर्ण मानव जाति से प्रेम करना आसान है किन्तु इस बात की आवश्यकता नही है? किसी को किसी ऐसे अजनबी के साथ किसी छोटे कमरे मे रहने के लिए बाध्य करना, जिसके सामने कोई ठहर नही सकता, कष्ट का अनुभव करता हो और फिर भी उससे प्रेम करने के लिए कहा जाये—यही महत्त्वपूर्ण बात है। या, दोस्तोविस्की यह भी कहता है कभी-कभी प्रत्येक व्यक्ति प्रेम कर सकता है, दुष्ट भी कर सकता है कार्यरूप मे प्रेम करना स्वप्न मे प्रेम करने की अपेक्षा कठोर और भयानक है कष्टदायक और धैर्य की बात है।"[2] प्रेम का यह वर्णन सचमुच मे अप्रिय लगे, किन्तु कीर्केगार्ड और दोस्तोविस्की दोनो किसी ऐसे प्रेम को समझाने मे सफल होते हैं जो हमारी प्रवृत्ति मे परे है और अपनी तीव्रता से वेदना की ओर अग्रसर करता है। तुम्हारा पडौसी—फिर कीर्केगार्ड का यह दृढ कथन कठोर मालूम देता है। "अगर तुम अपने पडौसी को काफी निकट से नही समझते जैसा कि निरुपाधिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को देखते हो तो तुम उसे देखते ही नही - मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ। जितना मैं पडौसी से प्रेम करता हूँ, और मैं अपनी प्राकृतिक प्रवृत्ति

से शायद ही उस ओर आकर्षित होता ।" किन्तु यहाँ समानता पर बल दिया गया है । "तुम्हारा पडौसी तुम्हारे समान है क्योंकि ईश्वर के समक्ष तुम्हारे पडौसी के साथ तुम्हारी मानवीय समानता है प्रत्येक व्यक्ति मे यह निरुपाधिक रूप से समानता है और निरुपाधिक रूप से है ।"[1] परन्तु यही समानता प्रतीयमान कठोरता को महान मानवीय हार्दिकता प्रदान करती है ।

मुझे इस समय कीर्केगार्ड के राजनीतिक विचारो से एक उदाहरण प्रस्तुत करने दिया जाये । १८४८ की क्रान्ति से निराश होकर ऐसा प्रतीत होता है कि वह अतिवादी रुढिवादी रवैये की ओर आकर्षित हुआ, और वह जो कहता है वह एक बार फिर अव्यवहार्य और अवास्तविक लगे, किन्तु धीरे-धीरे हम महसूस करते हैं कि यही वास्तविक रूप से एक तरीका है जो अनुभव के साथ पूर्ण न्याय कर सकता है । यह एक ऐसा तरीका है जो ईसाई धर्म को वास्तविक जीवन प्रदान करता है, हालांकि इसमे यह बहुत कठिन काम बन जाता है ।

प्रारम्भ मे यह फ्रास की क्रान्ति के आदर्शो—स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व को ग्रहण करता है । प्रारम्भ मे इन आदर्शो का उद्देश्य भेद दूर करना था । किन्तु क्या भेद दूर किये जा सकते हैं ? "शायद ही ईसाई भौतिक शरीर के बिना रहता है या रह सकता है, और उसी प्रकार वह शायद ही उस पार्थिव जीवन के भेदो के बाहर रह सकता है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति, जन्म से, अवस्था से, परिस्थिति से, शिक्षा से है जब तक वह इस क्षणभगुर पार्थिव शरीर को धारण किये है ये भेद रहेगे ही और जो व्यक्ति इस ससार मे आता है उसे ये प्रलोभन देते रहेगे"[2] और स्वतन्त्रता से इनमे वृद्धि करनी चाहिये । अत जैसा कि कीर्केगार्ड को अपने अनुभव से ज्ञान हुआ कि उनकी सभी क्रान्तियो से समानता नष्ट हुई जिनका उद्देश्य स्वतन्त्रता था, जबकि समानता के लिए सघर्ष करने से, जैसाकि उसने अनुमान लगाया (और जैसाकि हम अपने अनुभव से जानते है) स्वतन्त्रता नष्ट होगी । अत सही आरम्भ बिन्दु भ्रातृत्व होगा—अर्थात् पडौसी से प्रेम करना । किन्तु क्या यह सम्भव है ? कीर्केगार्ड एक स्थिति बतलाता है, जिससे यह सम्भव होगा अपनी आत्मा पर एकाग्र करना ।

ईसाई धर्म ने इन भेदो को समाप्त करना नही चाहा है, वह यह चाहता है कि व्यक्ति के सामने ये भेद मुक्त रूप से उसी प्रकार रहे, जैसेकि राजा अपने को प्रकट करने के लिए लबादा उतारता है, जैसेकि फटा-पुराना लबादा है जिसमे अलौकिक सत्ता अपने मे छिपाये है । जब मुक्त रूप से यह भेद रहता है तब

प्रत्येक व्यक्ति मे दूसरे का तत्त्व झलकता है, जो सबमे समान है, जो शाश्वत समरूपता है, समानता है।

यहाँ हम कीर्केगार्ड की नम्रता और सहानुभूति का अनुभव करते हैं और उस लबादे का रूपक, जिसे राजा उतारता है और इस फटे–पुराने लबादे का रूपक जिसमे ईसामसीह अपने को छिपाता है, बहुत सुन्दर ही नही है, बल्कि प्रासगिक है—हम अन्तर्दृष्टि से उचित विचार देखते है। सभी मनुष्यो की मूल समानता "पडौसी" शब्द की व्याख्या करता है, क्योकि इसके कारण ही प्रेम पर अधिकार हो सकता है, इसे स्वीकार करके ही हम धर्मादेश का पालन कर सकते है। परन्तु कीर्केगार्ड इस बात का भी सुनिश्चय करता है कि यह विचार नीतिशास्त्र को शामिल करके भावुक नही बनाया जाता। वह आगे कहता है। ईसाई धर्म ने बाह्य अर्थ मे ससार मे कभी किसी ऐसे स्थान की खोज नही की है जिसका यह अग न हो, फिर भी यह प्रत्येक वस्तु मे अत्यधिक परिवर्तन लाया है यह मनुष्य मनुष्य के बीच प्रत्येक सम्बन्ध को अन्त करण-सम्बन्ध मे बदलता है।" यह हमे मानवीय आधार पर दृढता से रखता है। परन्तु चूँकि यह समानता बाहर से नही देखी जा सकती, क्योकि बाहर से हम केवल भेद ही देखते हैं, हमे इसे पहचानने के लिए आत्मनिष्ठ होना होगा। इन सम्बन्धो को भीतर से देखने के लिए, हमे "आन्तरिकता" के बारे मे जानने की आवश्यकता है।

अपनी तरह—चूँकि हम इस मूल समानता मे स्वय भाग लेते है अत मनुष्य के अपने प्रति जो कर्त्तव्य हैं, वही पडौसी के प्रति हैं, किन्तु इसे विकृत होने से बचाना है, इसे न तो आत्मग्रस्तता का रूप लेना चाहिये न स्वार्थपरायणता का। यह प्राप्त हो जाती है क्योकि यह धर्मादेश अन्योन्य है। अगर मैं अपने पडौसी के रूप मे अपने से प्रेम करूँ तो मैं अपने मे उसी मानवता के प्रति आदर रखूँगा—अगर मे अपनी तरह दूसरे से प्रेम करूँ तो मेरे लिए अवैयक्तिक या अनासक्त होना असम्भव है। हम उचित प्रकार की आत्मनिष्ठता की ओर अग्रसर होते हैं, जिसे कीर्केगार्ड आत्मनिष्ठा विधि की व्याख्या करके स्पष्ट करता है। यह दर्शन को उसकी प्रत्यक्ष देन है, और इस ओर ही हमे मुडना चाहिये।

किन्तु पहले, हमे इस सम्बन्ध मे उचित रूप से निर्णय करने मे समर्थ होने के लिए नैतिकता का निरपेक्षता के सम्बन्ध मे पूर्ण रूप से विवेचन करना चाहिये, जिसे हमने इस अध्याय मे मान लिया है।

* * *

पाँच

नैतिकता–सापेक्ष या निरपेक्ष

इस पुस्तक मे, "नैतिकता" शब्द का प्रयोग सामान्य या बोलचाल के अर्थ मे नही किया गया है, जो किसी रिवाज की ओर सकेत करता हो, बल्कि मौलिक अर्थ मे किया गया है। इसकी परिभाषा इस रूप मे दी जा सकती है कि यह व्यवहार का आदर्श है जो शुभत्व के निरपेक्ष मूल्य पर आधारित है। परन्तु इस परिभाषा से हमारे सामने तुरन्त एक समस्या आ खडी होती है जिसकी अभी मैं चर्चा करना चाहूंगा—क्या सचमुच मे कोई ऐसी नैतिकता है जिसके सम्बन्ध मे निरपेक्ष रूप से विचार किया जा सकता हो ? अगर कोई है तो इसका अर्थ यह होगा कि एक प्रकार की नैतिकता है जो केवल सामाजिक, मनोवैज्ञानिक या अन्य कारको का परिणाम नही है, प्रत्युत् जो स्वतन्त्र है, चरम तथ्य है, किसी निरपेक्ष मूल्य का मूर्त रूप है—अर्थात् किसी आन्तरिक मूल्य का मूर्त रूप है, जिसे मूल रूप मे स्वीकार करना चाहिये, क्योकि यह किसी अन्य, आधारभूत सिद्धान्त से प्राप्त नही किया जा सकता। क्या सचमुच मे हम इस बात को मान सकते हैं कि इस प्रकार की नैतिकता का अस्तित्व है ?

यह प्रश्न पूछने पर दूसरा प्रश्न उठ खडा होता है, जिसका उत्तर पहले देना चाहिये। किस प्रकार से निरपेक्षता के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श करना

प्रत्येक व्यक्ति मे दूसरे का तत्त्व झलकता है, जो सबमे समान है, जो शाश्वत समरूपता है, समानता है।

यहाँ हम कीर्केगार्ड की नम्रता और सहानुभूति का अनुभव करते है और उस लबादे का रूपक, जिसे राजा उतारता है और इस फटे-पुराने लबादे का रूपक जिसमे ईसामसीह अपने को छिपाता है, बहुत सुन्दर ही नही है, बल्कि प्रासगिक है—हम अन्तर्दृष्टि से उचित विचार देखते हैं। सभी मनुष्यो की मूल समानता "पडौसी" शब्द की व्याख्या करता है, क्योकि इसके कारण ही प्रेम पर अधिकार हो सकता हैं, इसे स्वीकार करके ही हम धर्मादेश का पालन कर सकते है। परन्तु कीर्केगार्ड इस बात का भी सुनिश्चय करता है कि यह विचार नीतिशास्त्र को शामिल करके भावुक नही बनाया जाता। वह आगे कहता है। ईसाई धर्म ने बाह्य अर्थ मे ससार मे कभी किसी ऐसे स्थान की खोज नही की है जिसका यह अग न हो, फिर भी यह प्रत्येक वस्तु मे अत्यधिक परिवर्तन लाया है यह मनुष्य मनुष्य के बीच प्रत्येक सम्बन्ध को अन्त करण-सम्बन्ध मे बदलता है।" यह हमे मानवीय आधार पर दृढता से रखता है। परन्तु चूँकि यह समानता बाहर से नही देखी जा सकती, क्योकि बाहर से हम केवल भेद ही देखते हैं, हमे इसे पहचानने के लिए आत्मनिष्ठ होना होगा। इन सम्बन्धो को भीतर से देखने के लिए, हमे "आन्तरिकता" के बारे मे जानने की आवश्यकता है।

अपनी तरह—चूँकि हम इस मूल समानता मे स्वय भाग लेते हैं अत मनुष्य के अपने प्रति जो कर्त्तव्य है, वही पडौसी के प्रति हैं, किन्तु इसे विकृत होने से बचाना है, इसे न तो आत्मग्रस्तता का रूप लेना चाहिये न स्वार्थपरायणता का। यह प्राप्त हो जाती है क्योकि यह धर्मादेश *अन्योन्य* है। *अगर मैं अपने पडौसी के रूप मे अपने से प्रेम करूँ तो मैं अपने मे उसी मानवता के प्रति आदर रखूँगा*—*अगर मे अपनी तरह दूसरे से प्रेम करूँ तो मेरे लिए अवैयक्तिक या अनासक्त होना असम्भव है*। हम उचित प्रकार की आत्मनिष्ठता की ओर अग्रसर होते हैं, जिसे कीर्केगार्ड आत्मनिष्ठा विधि की व्याख्या करके स्पष्ट करता है। यह दर्शन को उसकी प्रत्यक्ष देन है, और इस ओर ही हमे मुडना चाहिये।

किन्तु पहले, हमे इस सम्बन्ध मे उचित रूप से निर्णय करने मे समर्थ होने के लिए नैतिकता का निरपेक्षता के सम्बन्ध मे पूर्ण रूप से विवेचन करना चाहिये, जिसे हमने इस अध्याय मे मान लिया है।

* * *

नैनिक नियम और इसके विनियोग के बीच भेद करना चाहिये, यह दावा कि नैतिकता सापेक्ष है, अक्सर इन दोनो की भ्रान्ति पर आधारित है। उदाहरण के लिए इस प्रकार के किसी भी विवेचन मे निरपवाद रूप से यह आपत्ति उठायी जाती है कि ईसाई धर्म मे केवल एक पत्नी रखने की अनुमति दी गयी है, जबकि मुस्लिम धर्म मे चार की, जिससे यह बात सिद्ध होती है कि नैतिकता परिपाटियो पर निर्भर करती है। परन्तु पत्नियो की सख्या का प्रश्न इस अर्थ मे नैतिकता का प्रश्न नही है, जिस अर्थ मे हम इस शब्द का प्रयोग करना चाहते है, नैतिकता के क्षेत्र मे हम तब प्रवेश करते है, जब हम यह पूछते है कि पति अपनी पत्नी या पत्नियो के साथ व्यवहार किस प्रकार करता है ? हमारा सम्बन्ध न तो आचार के विनियोग से है, जो स्वाभाविक रूप से बाह्य परिस्थितियो पर निर्भर करता है, न अपनी दृढ धारणाओ के अनुसार रहने मे मनुष्यो की असफलता से है, बल्कि हमारा सम्बन्ध स्वय नैतिकता से है।

इस आधारभूत नैतिकता के विवेचन को सम्भव बनाने के लिए, अस्तित्ववाद के मुख्य सिद्धान्त को लागू करना है अर्थात् प्रमाण के रूप में अनुभव को स्वीकार करना है। जहाँ तक ईमानदारी से सम्भव हो सकता है, हमे अपनी नैतिकता के प्रकाश मे नैतिकता के सम्बन्ध मे कहे गये किसी भी दृढ कथन का परीक्षण करना है। अन्त मे, इस प्रकार के परीक्षण को आत्मनिष्ठ रहना चाहिये—अर्थात् इसे अपने व्यक्तित्व की विशेषता से प्रभावित होना चाहिये। किन्तु कुछ बातें हैं जिन्हें हम अपने ध्यान मे रख सकते है, और उनके द्वारा इस बात का सुनिश्चय कर सकते हैं कि हम अपनी वैयक्तिक प्रवृत्तियो या पूर्वग्रहो से अत्यधिक प्रभावित नही है—और इन बातो से हमे "आत्मनिष्ठ विधि" का विकास करने मे सहायता मिलती है और इस प्रकार यह हमारे व्यक्तित्व के उन पक्षो को उद्घाटित करता है, जो मानवता की आधारभूत विशेषताओ के रूप मे सभी मनुष्यो मे हैं।

१ जब नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त हमारे सामने आते हैं तो हमे यह प्रश्न करना चाहिये "क्या इन सिद्धान्तो मे मैं अपने को वास्तव मे पहचानता हूँ ?" इस प्रकार के सभी सिद्धान्तो का यह दावा है कि ये तथ्यो का विवेचन करते हैं और यह समझा जाता है कि मैं इन तथ्यो का अनुभव करता हूँ, अपनी वास्तविक अनुभूति का विचार करने से मुझे उन अमूर्त परिकल्पनाओ से बचने मे सहायता मिलेगी जो मेरे विचारो को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती हैं और इस प्रकार धीरे-धीरे मेरी और आगे की अनुभूति पर भी प्रभाव डालती हैं।

सम्भव है ? यहाँ हम दृढ विश्वासो और निर्णयो के क्षेत्र मे बढ रहे है जहाँ भौतिक या वैज्ञानिक प्रमाण लागू नही होते। हमे आन्तरिक अनुभूति पर विश्वास रखना है, फिर भी अनेक लोगो का—सम्भवत अधिकाश लोगो का—यह विश्वास है कि नैतिकता निरपेक्ष नही है, वल्कि विभिन्न एव परवर्ती परम्पराओ के प्रभाव मे निरन्तर इसमे परिवर्तन हो रहा है। निश्चय ही निरपेक्ष प्रमाणो के अभाव से सामाजिक ढाँचे की जड खोदी जा रही है, किन्तु उन्हे वास्तविक बनाने के लिए यह कोई पर्याप्त कारण नही है कि ये प्रमाण अभीष्ट प्रतीत होते है। हम उन्हे तभी स्वीकार कर सकते हैं जब हम पूर्ण रूप से इस बात से आश्वस्त हो जाये कि वास्तविक रूप से उनका अस्तित्व है। परन्तु चूँकि "निरपेक्ष" शब्द किसी और चीज से उत्पन्न नही हुआ है, वह चरम है, प्रमाण से परे है, अत यह प्रतीत होता है कि आगे इसका विवेचन करना असम्भव है।

फिर भी, दो तरीके हैं, जिनसे लाभदायक विवेचन किया जा सकता है। पहला तरीका तो यह है कि निरपेक्ष नैतिकता का अर्थ बतलाया जाये और यह विश्वास किया जाये कि अगर यह मान्यता सही होगी तो प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति मे इससे एक प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी, जिससे इसका अस्तित्व प्रमाणित होगा। हमने पिछले अध्याय मे इस विधि का प्रयोग किया है। दूसरा तरीका यह है कि हम उन सिद्धान्तो की छानबीन कर सकते है—या उनमे से कम-से-कम सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो की छानबीन कर सकते हैं—जो नैतिकता की निरपेक्षता को अस्वीकार करते हैं और आधारभूत कारको की निर्मित वस्तु के रूप मे इसे सापेक्ष मानते हैं, जिससे इस बात का पता चल जाये कि क्या इस प्रकार के सिद्धान्तो को सम्पूर्ण सत्य के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है या उनमे त्रुटियाँ है ? परन्तु अगर हम त्रुटियाँ पाते हैं तो हम यह देखने का प्रयास भी कर सकते हैं कि इस प्रकार की व्याख्या मे जिन तत्त्वो का अभाव है उसका कारण यह दावा तो नही है कि निरपेक्ष नैतिकता है। यही कार्यप्रणाली है जिसका मैं इस अध्याय मे मैं अनुसरण करना चाहूँगा।

इस उद्देश्य के लिए, हमे "नैतिकता" शब्द का और भी गुण प्रस्तुत करना है। इसे इस रूप मे नही समझना चाहिये कि यह प्रत्येक अवसर के लिए नियमो की स्थापना करता है, जो इन अवसरो के अनुकूल बनने की माँग करे और इस प्रकार इसे सापेक्ष बनाये, प्रत्युत् इसे मूल नियम के रूप मे समझना चाहिये जिसे अस्वीकार करने मे हम अपने को असमर्थ पाते है, अत जो विभिन्न परिस्थितियो मे हमारा मार्ग प्रदर्शन कर सकता है। इस प्रकार हमे उसी रूप मे

नैनिक नियम और इसके विनियोग के बीच भेद करना चाहिये, यह दावा कि नैतिकता सापेक्ष है, अक्सर इन दोनो की भ्रान्ति पर आधारित है। उदाहरण के लिए इस प्रकार के किसी भी विवेचन मे निरपवाद रूप से यह आपत्ति उठायी जाती है कि ईसाई धर्म मे केवल एक पत्नी रखने की अनुमति दी गयी है, जबकि मुस्लिम धर्म मे चार की, जिससे यह बात सिद्ध होती है कि नैतिकता परिपाटियो पर निर्भर करती है। परन्तु पत्नियो की सख्या का प्रश्न इस अर्थ मे नैतिकता का प्रश्न नही है, जिस अर्थ मे हम इस शब्द का प्रयोग करना चाहते हैं, नैतिकता के क्षेत्र मे हम तब प्रवेश करते हैं, जब हम यह पूछते हैं कि पति अपनी पत्नी या पत्नियो के साथ व्यवहार किस प्रकार करता है ? हमारा सम्बन्ध न तो आचार के विनियोग से है, जो स्वाभाविक रूप से बाह्य परिस्थितियो पर निर्भर करता है, न अपनी दृढ धारणाओ के अनुसार रहने मे मनुष्यो की असफलता से है, बल्कि हमारा सम्बन्ध स्वय नैतिकता से है।

इस आधारभूत नैतिकता के विवेचन को सम्भव बनाने के लिए, अस्तित्ववाद के मुख्य सिद्धान्त को लागू करना है अर्थात् प्रमाण के रूप मे अनुभव को स्वीकार करना है। जहाँ तक ईमानदारी से सम्भव हो सकता है, हमे अपनी नैतिकता के प्रकाश मे नैतिकता के सम्बन्ध मे कहे गये किसी भी दृढ कथन का परीक्षण करना है। अन्त मे, इस प्रकार के परीक्षण को आत्मनिष्ठ रहना चाहिये—अर्थात् इसे अपने व्यक्तित्व की विशेषता से प्रभावित होना चाहिये। किन्तु कुछ बातें है जिन्हें हम अपने ध्यान मे रख सकते है, और उनके द्वारा इस बात का सुनिश्चय कर सकते हैं कि हम अपनी वैयक्तिक प्रवृत्तियो या पूर्वग्रहो से अत्यधिक प्रभावित नही है—और इन बातो से हमे "आत्मनिष्ठ विधि" का विकास करने मे सहायता मिलती है और इस प्रकार यह हमारे व्यक्तित्व के उन पक्षो को उद्घाटित करता है, जो मानवता की आधारभूत विशेषताओ के रूप मे सभी मनुष्यो मे हैं।

१ जब नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त हमारे सामने आते हैं तो हमे यह प्रश्न करना चाहिये "क्या इन सिद्धान्तो मे मैं अपने को वास्तव मे पहचानता हूँ ?" इस प्रकार के सभी सिद्धान्तो का यह दावा है कि ये तथ्यो का विवेचन करते हैं और यह समझा जाता है कि मैं इन तथ्यो का अनुभव करता हूँ, अपनी वास्तविक अनुभूति का विचार करने से मुझे उन अमूर्त परिकल्पनाओ से बचने मे सहायता मिलेगी जो मेरे विचारो को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती हैं और इस प्रकार धीरे-धीरे मेरी और आगे की अनुभूति पर भी प्रभाव डालती हैं।

हमने इस बात का उल्लेख किया कि मनुष्य अपने सम्बन्ध मे किये गये विचारो से कितना प्रभावित होता है,* अत यह प्रश्न पूछना अनिवार्य है ।

यह प्रश्न न्यायसगत है । यह उस समय देखा जा सकता है जब हम धर्म का विवेचन करने की सम्भावना के साथ नैतिकता के विवेचन करने की सम्भावना की तुलना करते है । नैतिकता जैसाकि हमने कहा है, अक्सर धर्म का वह पक्ष समझा जाता है जिसके सम्बन्ध मे विवेचन† हो सके जिसका अर्थ यह होता है कि धर्म का उल्लेख किये विना इस पर विचार किया जा सकता है । जव मैं किसी नैतिक धर्मादेश को शुद्ध रूप से अभिव्यक्त करता हूँ—जैसे "तुम अपनी तरह अपने पडौसी से प्रेम करो"—तव मैं यह आशा कर सकता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तरतम मे, उत्तर मे यह कहेगा और महसूस करेगा कि यह धर्मादेश मान्य है, चाहे वह इसे नापसन्द ही क्यो न करे या इसे अस्वीकार करता ही प्रतीत क्यो न हो । धार्मिक कथनो के सम्बन्ध मे इस प्रकार के सामान्य प्रत्युत्तर की आशा नही की जा सकती, क्योकि विश्वास मे विश्वास करने की आवश्यकता होती है, चाहे यह दावा कि ईश्वर का अस्तित्व है, इस कार्य के विना निरर्थक ही क्यो न हो । नैतिकता और धर्म के वीच सम्भवत यही अन्तर इस वात की व्याख्या करता है कि महान धर्मो—यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, कनफ्यूशी धर्म, ताओ धर्म—की नैतिकता माँगे इतनी समान क्यो हैं जवकि स्वय इन धर्मो मे इतना भेद है । नैतिकता और धर्म दोनो भौतिक प्रमाणो के धर्म से परे हैं, किन्तु नैतिकता के कारण ही मुझे यह मानने का अधिकार है कि मेरी अपनी अनुभूतियाँ, प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होती हैं, अगर उचित रूप से इन्हे प्रतिपादित किया जाये और इनका परीक्षण किया जाये, अर्थात् वे सामान्य रूप से प्रामाणिक होने का ज्ञान देती हैं । धर्म का विवेचन, थोडा कम प्रत्यक्ष रूप से करना होगा, नैतिकता के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष रूप से प्रश्न करने की आवश्यकता है ।

२ काण्ट के निष्काम नियोग की अन्तिम व्याख्या—"इस प्रकार कार्य करो कि तुम अपने लिए और अन्य व्यक्ति के लिए मानवता का प्रयोग हमेशा साध्य के रूप मे करो, साधन के रूप मे ही कभी नही,"[१]—हमे दूसरा परीक्षण देती है । हमारे जटिल समाज मे, इस परीक्षण का विशेष महत्त्व है, जहाँ अक्सर यह अनिवार्य हो जाता है कि—कुछ सन्दर्भों मे रखकर मनुष्यो के साथ यूनिट और साधन के रूप मे व्यवहार किया जाये—उदाहरण के लिए, जनगणना के सन्दर्भ

* देखिये पृष्ठ—२३
† देखिये पृष्ठ—६६-६७

मे यह माल के उत्पादक के रूप मे। परन्तु यह प्राय किया जाता है और यह साधारण बात है, चाहे मनुष्य की मानवता की उपेक्षा की जाय या नही (फिर भी, आसानी से इसका वहिष्कार नही किया जा सकता), अत हमे इस बात का हमेशा स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य को साधन के रूप मे ही समझना मूलत गलत है। इससे हमे यह पहचानने मे ही सहायता नही मिलेगी कि हम कहाँ गलती करते हैं बल्कि यह जानने मे भी हमे सहायता मिलेगी कि कहाँ अन्य लोग और सिद्धान्त नैतिकता के सम्बन्ध मे गलती करते है ?

इस नियोग का यह भी अर्थ है कि यह तत्त्वोक्ति, "साध्य साधन को न्यायोचित सिद्ध करता है", बुनियादी रूप से अनैतिक है। इसके अतिरिक्त इसके अनुसार हम कार्य करने से पूर्णतया बच भी नही सकते, कभी-कभी जब हम इस प्रकार झूठ बोलते है, कि उससे दु ख न हो तो इससे शुभ कार्य भी हो सकता है। फिर भी, विशुद्ध रूप से नैतिक दृष्टिकोण से, सबसे उदात्त साध्य भी अशुभ साधन को न्यायोचित सिद्ध नही कर सकता, अशुभ अशुभ ही रहता है, चाहे इसका उद्देश्य कुछ भी हो। अगर हम अनुभव से परामर्श लें तो हम व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह देख सकते है कि ऐसा क्यो होता है। साधन वे ही है जिनका वास्तविक रूप से हम अनुभव करते हैं, अत वे हमे रूप प्रदान करते है, साध्य बहुत दूर है और हो सकता है कि वहाँ तक हम कभी नही पहुँचें, इसलिये यह हमारे कार्यो के लिए नगण्य रह सकता है। इस प्रकार साधन साध्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगा, अगर वे बुरे है तो सबसे अच्छे साध्यो को भी वे खराब कर देंगे। मानवीय अपूर्णता हमे इस बात के लिए बाध्य कर सकती है कि हम दो अशुभ बातो मे कम अशुभ बात को चुनें, किन्तु अगर हम इस तथ्य से अवगत रहते है कि वे अशुभ है तो क्या हम नैतिकता को पुन प्रतिष्ठित करने की आशा कर सकते हैं ?

३ "शुभ" और "उचित" का भेद स्पष्ट करने से और सहायता मिलेगी और अन्तिम बात और भी स्पष्ट होगी। यह भेद आखिरी तौर पर स्थापित नही किया जा सकता, क्योकि दोनो सम्प्रत्ययो की परिभाषा विशेष स्थितियो मे ही दी जा सकती है, सामान्य रूप से नही। फिर भी विशेष स्थितियो मे उनका भेद स्पष्ट है। किसी बच्चे को दण्ड देना उचित हो सकता है, किन्तु क्या यह शुभ भी है ? कई लोग कहते हैं कि हत्यारे को फाँसी पर लटकाना उचित है, किन्तु कुछ ही लोग इस बात का दावा करेंगे कि फाँसी लटकाने का कार्य स्वय मे शुभ है। दूसरी ओर, किसी को दु ख देने के बदले झूठ बोलना शुभ हो सकता है, जैसाकि अभी हमने कहा है, किन्तु यह सम्पूर्ण रूप से उचित नही है।

हमने इस बात का उल्लेख किया कि मनुष्य अपने सम्बन्ध मे किये गये विचारो से कितना प्रभावित होता है,* अत यह प्रश्न पूछना अनिवार्य है।

यह प्रश्न न्यायसगत है। यह उस समय देखा जा सकता है जब हम धर्म का विवेचन करने की सम्भावना के साथ नैतिकता के विवेचन करने की सम्भावना की तुलना करते हैं। नैतिकता जैसाकि हमने कहा है, अक्सर धर्म का वह पक्ष समझा जाता है जिसके सम्बन्ध मे विवेचन† हो सके जिसका अर्थ यह होता है कि धर्म का उल्लेख किये बिना इस पर विचार किया जा सकता है। जब मैं किसी नैतिक धर्मादेश को शुद्ध रूप से अभिव्यक्त करता हूँ—जैसे "तुम अपनी तरह अपने पडौसी से प्रेम करो"—तब मैं यह आशा कर सकता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तरतम मे, उत्तर मे यह कहेगा और महसूस करेगा कि यह धर्मादेश मान्य है, चाहे वह इसे नापसन्द ही क्यो न करे या इसे अस्वीकार करता ही प्रतीत क्यो न हो। धार्मिक कथनो के सम्बन्ध मे इस प्रकार के सामान्य प्रत्युत्तर की आशा नही की जा सकती, क्योकि विश्वास मे विश्वास करने की आवश्यकता होती है, चाहे यह दावा कि ईश्वर का अस्तित्व है, इस कार्य के बिना निरर्थक ही क्यो न हो। नैतिकता और धर्म के बीच सम्भवत यही अन्तर इस बात की व्याख्या करता है कि महान धर्मो—यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, कनफ्यूशी धर्म, ताओ धर्म—की नैतिकता माँगें इतनी समान क्यो हैं जबकि स्वय इन धर्मो मे इतना भेद है। नैतिकता और धर्म दोनो भौतिक प्रमाणो के धर्म से परे हैं, किन्तु नैतिकता के कारण ही मुझे यह मानने का अधिकार है कि मेरी अपनी अनुभूतियाँ, प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होती हैं, अगर उचित रूप से इन्हे प्रतिपादित किया जाये और इनका परीक्षण किया जाये, अर्थात् वे सामान्य रूप से प्रामाणिक होने का ज्ञान देती हैं। धर्म का विवेचन, थोडा कम प्रत्यक्ष रूप से करना होगा, नैतिकता के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष रूप से प्रश्न करने की आवश्यकता है।

२ काण्ट के निष्काम नियोग की अन्तिम व्याख्या—"इस प्रकार कार्य करो कि तुम अपने लिए और अन्य व्यक्ति के लिए मानवता का प्रयोग हमेशा साध्य के रूप मे करो, साधन के रूप मे ही कभी नही,"[१]—हमे दूसरा परीक्षण देती है। हमारे जटिल समाज मे, इस परीक्षण का विशेष महत्त्व है, जहाँ अक्सर यह अनिवार्य हो जाता है कि—कुछ सन्दर्भो मे रखकर मनुष्यो के साथ यूनिट और साधन के रूप मे व्यवहार किया जाये—उदाहरण के लिए, जनगणना के सन्दर्भ

---

* देखिये पृष्ठ—२३

† देखिये पृष्ठ—६६-६७

मे यह माल के उत्पादक के रूप मे। परन्तु यह प्राय किया जाता है और यह साधारण बात है, चाहे मनुष्य की मानवता की उपेक्षा की जाय या नही (फिर भी, आसानी से इसका बहिष्कार नही किया जा सकता), अत हमे इस बात का हमेशा स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य को साधन के रूप मे ही समझना मूलत गलत है। इससे हमे यह पहचानने मे ही सहायता नही मिलेगी कि हम कहाँ गलती करते हैं बल्कि यह जानने मे भी हमे सहायता मिलेगी कि कहाँ अन्य लोग और सिद्धान्त नैतिकता के सम्बन्ध मे गलती करते है ?

इस नियोग का यह भी अर्थ है कि यह तत्त्वोक्ति, "साध्य साधन को न्यायोचित सिद्ध करता है", बुनियादी रूप से अनैतिक है। इसके अतिरिक्त इसके अनुसार हम कार्य करने से पूर्णतया बच भी नही सकते, कभी-कभी जब हम इस प्रकार झूठ बोलते हैं, कि उससे दु ख न हो तो इससे शुभ कार्य भी हो सकता है। फिर भी, विशुद्ध रूप से नैतिक दृष्टिकोण से, सबसे उदात्त साध्य भी अशुभ साधन को न्यायोचित सिद्ध नही कर सकता, अशुभ अशुभ ही रहता है, चाहे इसका उद्देश्य कुछ भी हो। अगर हम अनुभव से परामर्श लें तो हम व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह देख सकते है कि ऐसा क्यो होता है। साधन वे ही है जिनका वास्तविक रूप से हम अनुभव करते हैं, अत वे हमे रूप प्रदान करते हैं, साध्य बहुत दूर है और हो सकता है कि वहाँ तक हम कभी नहीं पहुँचें, इसलिये यह हमारे कार्यो के लिए नगण्य रह सकता है। इस प्रकार साधन साध्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगा, अगर वे बुरे हैं तो सबसे अच्छे साध्यो को भी वे खराब कर देंगे। मानवीय अपूर्णता हमे इस बात के लिए बाध्य कर सकती है कि हम दो अशुभ बातो मे कम अशुभ बात को चुनें, किन्तु अगर हम इस तथ्य से अवगत रहते हैं कि वे अशुभ है तो क्या हम नैतिकता को पुन प्रतिष्ठित करने की आशा कर सकते हैं ?

३ "शुभ" और "उचित" का भेद स्पष्ट करने से और सहायता मिलेगी और अन्तिम बात और भी स्पष्ट होगी। यह भेद आखिरी तौर पर स्थापित नही किया जा सकता, क्योंकि दोनो सम्प्रत्ययो की परिभाषा विशेष स्थितियो मे ही दी जा सकती है, सामान्य रूप से नही। फिर भी विशेष स्थितियो मे उनका भेद स्पष्ट है। किसी बच्चे को दण्ड देना उचित हो सकता है, किन्तु क्या यह शुभ भी है ? कई लोग कहते हैं कि हत्यारे को फाँसी पर लटकाना उचित है, किन्तु कुछ ही लोग इस बात का दावा करेंगे कि फाँसी लटकाने का कार्य स्वय मे शुभ है। दूसरी ओर, किसी को दु ख देने के बदले झूठ बोलना शुभ हो सकता है, जैसाकि अभी हमने कहा है, किन्तु यह सम्पूर्ण रूप से उचित नही है।

हमने इस बात का उल्लेख किया कि मनुष्य अपने सम्बन्ध मे किये गये विचारो से कितना प्रभावित होता है,* अत यह प्रश्न पूछना अनिवार्य है।

यह प्रश्न न्यायसगत है। यह उस समय देखा जा सकता है जब हम धर्म का विवेचन करने की सम्भावना के साथ नैतिकता के विवेचन करने की सम्भावना की तुलना करते हैं। नैतिकता जैसाकि हमने कहा है, अक्सर धर्म का वह पक्ष समझा जाता है जिसके सम्बन्ध मे विवेचन† हो सके जिसका अर्थ यह होता है कि धर्म का उल्लेख किये बिना इस पर विचार किया जा सकता है। जब मैं किसी नैतिक धर्मादेश को शुद्ध रूप से अभिव्यक्त करता हूँ—जैसे "तुम अपनी तरह अपने पडौसी से प्रेम करो"—तब मैं यह आशा कर सकता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तरतम मे, उत्तर मे यह कहेगा और महसूस करेगा कि यह धर्मादेश मान्य है, चाहे वह इसे नापसन्द ही क्यो न करे या इसे अस्वीकार करता ही प्रतीत क्यो न हो। धार्मिक कथनो के सम्बन्ध मे इस प्रकार के सामान्य प्रत्युत्तर की आशा नही की जा सकती, क्योकि विश्वास मे विश्वास करने की आवश्यकता होती है, चाहे यह दावा कि ईश्वर का अस्तित्व है, इस कार्य के बिना निरर्थक ही क्यो न हो। नैतिकता और धर्म के बीच सम्भवत यही अन्तर इस बात की व्याख्या करता है कि महान धर्मो—यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, कनफ्यूशी धर्म, ताओ धर्म—की नैतिकता माँगें इतनी समान क्यो हैं जबकि स्वय इन धर्मो मे इतना भेद है। नैतिकता और धर्म दोनो भौतिक प्रमाणो के धर्म से परे हैं, किन्तु नैतिकता के कारण ही मुझे यह मानने का अधिकार है कि मेरी अपनी अनुभूतियाँ, प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होती हैं, अगर उचित रूप से इन्हे प्रतिपादित किया जाये और इनका परीक्षण किया जाये, अर्थात् वे सामान्य रूप से प्रामाणिक होने का ज्ञान देती हैं। धर्म का विवेचन, थोडा कम प्रत्यक्ष रूप से करना होगा, नैतिकता के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष रूप से प्रश्न करने की आवश्यकता है।

२ काण्ट के निष्काम नियोग की अन्तिम व्याख्या—"इस प्रकार कार्य करो कि तुम अपने लिए और अन्य व्यक्ति के लिए मानवता का प्रयोग हमेशा साध्य के रूप मे करो, साधन के रूप मे ही कभी नही,"[1]—हमे दूसरा परीक्षण देती है। हमारे जटिल समाज मे, इस परीक्षण का विशेष महत्त्व है, जहाँ अक्सर यह अनिवार्य हो जाता है कि—कुछ सन्दर्भों मे रखकर मनुष्यो के साथ यूनिट और साधन के रूप मे व्यवहार किया जाये—उदाहरण के लिए, *जनगणना के सन्दर्भ*

---

* देखिये पृष्ठ—२३

† देखिये पृष्ठ—६६-६७

मे यह माल के उत्पादक के रूप मे। परन्तु यह प्राय किया जाता है और यह साधारण बात है, चाहे मनुष्य की मानवता की उपेक्षा की जाय या नही (फिर भी, आसानी से इसका वहिष्कार नही किया जा सकता), अत हमे इस बात का हमेशा स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य को साधन के रूप मे ही समझना मूलत गलत है। इससे हमे यह पहचानने मे ही सहायता नही मिलेगी कि हम कहाँ गलती करते हैं बल्कि यह जानने मे भी हमे सहायता मिलेगी कि कहाँ अन्य लोग और सिद्धान्त नैतिकता के सम्बन्ध मे गलती करते है ?

इस नियोग का यह भी अर्थ है कि यह तत्त्वोक्ति, "साध्य साधन को न्यायोचित सिद्ध करता है", बुनियादी रूप से अनैतिक है। इसके अतिरिक्त इसके अनुसार हम कार्य करने से पूर्णतया बच भी नही सकते, कभी-कभी जब हम इस प्रकार झूठ बोलते हैं, कि उससे दु ख न हो तो इससे शुभ कार्य भी हो सकता है। फिर भी, विशुद्ध रूप से नैतिक दृष्टिकोण से, सबसे उदात्त साध्य भी अशुभ साधन को न्यायोचित सिद्ध नही कर सकता, अशुभ अशुभ ही रहता है, चाहे इसका उद्देश्य कुछ भी हो। अगर हम अनुभव से परामर्श लें तो हम व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह देख सकते है कि ऐसा क्यो होता है। साधन वे ही हैं जिनका वास्तविक रूप से हम अनुभव करते हैं, अत वे हमे रूप प्रदान करते है, साध्य बहुत दूर है और हो सकता है कि वहाँ तक हम कभी नही पहुँचें, इसलिये यह हमारे कार्यों के लिए नगण्य रह सकता है। इस प्रकार साधन साध्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगा, अगर वे बुरे है तो सबसे अच्छे साध्यो को भी वे खराब कर देंगे। मानवीय अपूर्णता हमे इस बात के लिए बाध्य कर सकती है कि हम दो अशुभ बातो मे कम अशुभ बात को चुनें, किन्तु अगर हम इस तथ्य से अवगत रहते है कि वे अशुभ हैं तो क्या हम नैतिकता को पुन प्रतिष्ठित करने की आशा कर सकते है ?

३ "शुभ" और "उचित" का भेद स्पष्ट करने से और सहायता मिलेगी और अन्तिम बात और भी स्पष्ट होगी। यह भेद आखिरी तौर पर स्थापित नही किया जा सकता, क्योंकि दोनो सम्प्रत्ययो की परिभाषा विशेष स्थितियो मे ही दी जा सकती है, सामान्य रूप से नही। फिर भी विशेष स्थितियो मे उनका भेद स्पष्ट है। किसी बच्चे को दण्ड देना उचित हो सकता है, किन्तु क्या यह शुभ भी है ? कई लोग कहते हैं कि हत्यारे को फाँसी पर लटकाना उचित है, किन्तु कुछ ही लोग इस बात का दावा करेंगे कि फाँसी लटकाने का कार्य स्वय मे शुभ है। दूसरी ओर, किसी को दु ख देने के बदले झूठ बोलना शुभ हो सकता है, जैसाकि अभी हमने कहा है, किन्तु यह सम्पूर्ण रूप से उचित नही है।

क्या शुभ है और क्या उचित है, इनके बीच के तनाव से अभिज्ञ होने से हमारी सम्वेदनशीलता बढ़ेगी और हमारी अभिज्ञता तीव्र होगी, और मूल्यो के क्षेत्र मे इसका काफी महत्त्व है। वहाँ हम स्पष्ट नियम और परिभाषा नही पाते जो प्रत्येक अवसर पर लागू हो सके, हम देखेंगे कि उदाहरण के लिए, किसी के परिवार की माँगो और देश के प्रति किसी के कर्त्तव्य के बीच की द्वन्द्वात्मक निष्ठा का भी परिहार नही किया जा सकता। किन्तु मुझे अपने निष्कर्षों पर पहुँचना है और अपने से निर्णय करने हैं, मैं नैतिक रूप से तभी कार्य करता हूँ जब वह शुभ होता है क्योकि मैं इसे शुभ समझता हूँ। अत मुझे मूल्यो के प्रति अपने सम्वेदन का विकास करना है, और सभी स्पष्टतर विभेदीकरण इस उद्देश्य की पूर्ति मे योग देंगे। यह परिभाषा नही है जो महत्त्व रखती है, बल्कि विशेष स्थिति मे मेरी तात्कालिक प्रतिक्रिया का स्पष्टीकरण महत्त्व रखता है।

अगर हम निरपेक्ष नैतिकता को स्वीकार करते हैं तो हमे उस चीज का बोध होना चाहिये जिसे हम अस्वीकार कर रहे हैं। सकल्प स्वातन्त्र्य-वरण, निर्णय, क्रिया स्वातन्त्र्य से यह पृथक् नही किया जा सकता, और दूसरो के विषय मे सन्देह प्रकट किये बिना हम किसी एक को अस्वीकार नही कर सकते। परन्तु अगर हम निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र नही है तो हम उत्तरदायी नहीं हैं—अर्थात् उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है और अन्त करण का महत्त्व लुप्त हो जाता है। अत मनुष्यो के बीच विश्वास का आधार नष्ट हो जाता है। "शुभ" और "अशुभ" सम्प्रत्यय अपना पूर्ण अथ खो बैठते है, क्योकि अब वे कार्यो का निर्धारण नही करते, वे वस्तुत सौन्दर्यात्मक-कल्प-पद हो जाते हैं—अर्थात् नैतिकता की चर्चा के स्थान पर अधिमानो, वरण के यादृच्छिक आदर्शो, असम्बद्ध निर्णयो की चर्चा हो जाती है और यह आबन्धो की स्थापना नही करते। इस कथन का "यह कार्य शुभ है"—केवल यही अर्थ निकलता है कि "मैं इस कार्य को पसन्द करता हूँ"—क्योकि कोई यह कह सकता है कि "मैं इस प्राकृतिक दृश्य को पसन्द करता हूँ"—और नैतिकता के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण चर्चा निरर्थक हो जाती है।

हमने पहले यह कहा है कि निरपेक्ष नैतिकता की वाछनीयता इसके अस्तित्व का प्रमाण नही है, बल्कि इसके अस्वीकरण के परिणाम जानने से नैतिकता के स्वरूप के बारे मे किये गये हमारे निर्णय को वह महत्त्व प्राप्त होगा जो इस प्रकार के निर्णय के लिए आवश्यक है।

इन बातो को ध्यान मे रखकर, अब हम कुछ सिद्धान्तो की चर्चा की ओर मुडें जो इस बात की स्थापना करने का प्रयास करते हैं कि नैतिकता सापेक्ष है-

अर्थात् यह किसी और बात पर निर्भर करती है। परन्तु किसी प्रकार की गलत-फहमी से बचने के लिए मैं इस बात पर बल देना चाहूँगा कि मैं सम्पूर्ण रूप से इन सिद्धान्तो को अस्वीकार करना नही चाहता, उनमे से कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जिनमे तात्त्विक बातें है जिन्हे न्यायसगत सिद्ध किया जा सकता है और जो महत्त्वपूर्ण हैं, वे हमे यह भेद दिखलाने मे सहायक हो सकते हैं कि वास्तव मे नैतिक क्या है और नैतिक क्या नही है? मेरा सम्बन्ध इस प्रश्न से है कि क्या ये सिद्धान्त नैतिकता के कुछ पक्ष छोड देते हैं या नही? इस प्रकार यह एक प्रकार का अन्तर दिखलाते हैं जिसमे निरपेक्ष उचित प्रतीत होता है।

इन सिद्धान्तो मे जैविक सिद्धान्त सबसे कम महत्त्वपूर्ण है। आजकल के जीवविज्ञान की कसौटी जीने की योग्यता है, अत नैतिकता का निरपेक्ष होना या अन्तरध्यादेश होना तो दूर रहा, यह साधन के रूप मे देखी जाती है, जिसका विकास प्राकृतिक वरण से होता है—उदाहरण के लिए, यूथ प्रवृत्ति का विकास करके। तो भी यूथ के भीतर प्राकृतिक वरण सबसे बलवान व्यक्तियो को चुनता है, इस प्रकार जैविक अर्थ मे नैतिक व्यक्ति को अधिक बलवान होना होगा। परन्तु नैतिकता कई मामलो मे उत्तरजीविता के लिए खतरनाक है। किसी के शत्रु से प्रेम करना या दूसरा गाल सामने रखना, निस्सन्देह उच्चतम नैतिक माँगो मे स्थान रखते है, जिन्हे हमने प्राप्त किया है, और जीवन देकर भी इनका अनुसरण करना है। यह वह बल नही है जो उत्तरजीविता के जीवन-मरण सघर्ष के लिए आवश्यक है, जिसका काम निश्चय ही निष्ठुरता से अधिक अच्छी तरह चलता है, इसके लिए नैतिकता की अपेक्षा जीवनशक्ति अधिक अनिवार्य है। डार्विनवाद के किसी भी रूप को अनुकूल बनाने के लिए, अधिकाश नैतिक धर्मा-देशो की फिर से व्याख्या प्रस्तुत करने मे अत्यधिक कठिनाई होगी, और सच तो यह है कि शायद ही ऐसी कोई चीज छूटेगी जो नैतिक गुण सुझाती हो। नीट्शे ने यह दिखला दिया है कि "नवीन नैतिकता" जिसकी जरूरत है, उसके विपरीत है जिसे हमने नैतिकता कह कर पुकारा है। अत आगे इस सिद्धान्त पर विचार करने की आवश्यकता नही है।*

अधिक महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय सिद्धान्त है। इसका दावा है कि शुभ निरपेक्ष मूल्य नही है, बल्कि जो समाज के लिए शुभ है, अत इसके प्रभाव से

---

* यह सत्य है कि पौधो और पशुओ के जीवन में सहयोग और पारस्परिक सहायता को मुख्य सिद्धा त बनाने के प्रयास किये गये हैं, कि तु डार्विनवाद को बदलने या उस पर प्रभाव डालने में यह प्रयास असफल रहे हैं। इस प्रकार के तथ्य मिलते हैं, किन्तु इनका गौण महत्त्व है। बहरहाल नैतिकता की जैविक व्याख्या प्राय डार्विनवाद पर आधारित की जाती है

यह विकसित होता है । इस सिद्धान्त मे निश्चय ही अधिक सचाई है, हमे सामाजिक प्राणी बनने मे नैतिकता से सहायता मिलती है, जो जन्म से हम शायद ही है । सामाजिक प्रभावो के परिणामो को देखने से, नैतिकता और नैतिकता के प्रयोग मे भेद बतलाना आसान हो जायेगा । किन्तु अगर हम सामाजिक दृष्टिकोण से देखें तो नैतिकता के विकास मे कुछ ऐसी बातें है, जो बहुत ही आश्चर्यजनक हैं ।

शुभ की जानकारी प्राप्त करने मे हमारी जो मुख्य प्रगतियाँ हुई है, उनका कारण वे लोग हैं, जिन्होने समाज के विरुद्ध विद्रोह किया और इसके द्वारा जिनकी आलोचना हुई और जिन्हे प्राणदण्डित किया गया । जब मॉसेज ने लोगो के समक्ष दस धर्मादेश प्रस्तुत किये तो उन्होने इनका काफी विरोध किया, सुकरात ने शुभ के नवीन सम्प्रत्यय के लिए सघर्ष किया, जिसे अब हम उचित मानते है, किन्तु उसे प्राणदण्डित किया गया, ईसामसीह को क्रूस पर ठोक दिया गया । अगर नैतिकता उन्ही बातो का समर्थन करती जिनकी आवश्यकता समाज को थी तो ये बातें कैसे समझ मे आ सकती ?

सुकरात एक दार्शनिक था, अत दार्शनिक शब्दावली मे उसके भाग्य पर सबसे आसानी से विचार किया जा सकता है । आश्चर्य रूप से हम यह पाते है कि सामाजिक दृष्टिकोण से उसके जल्लाद सही थे । इस बात के दावे से कि एक प्रकार की नैतिकता थी, जो न केवल एथेंस के नागरिको के लिए, प्रत्युत् प्रत्येक व्यक्ति के लिए, गुलाम एव अन्य लोगो के लिए मान्य थी, वास्तव मे यूनानी नगर राज्य खतरे मे पड गया । इस प्रकार के दावे से इस विशेष समाज का सम्भजन निश्चय ही नष्ट होता, और नगर राज्यो के विनाश मे सम्भजन के अभाव का निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण स्थान था । फिर भी हम आज यह कह सकते हैं कि नैतिक रूप से सुकरात उचित था, उसने तत्त्वत शुभ सम्बन्धी हमारे ज्ञान की वृद्धि की है, और इस मामले मे, उसके उत्पीडक गलत थे । परन्तु इससे नैतिकता की निरपेक्षता सिद्ध होती दिखायी देती है, क्योकि समाजो का परिवर्तन होता है, और पुरानी नैतिकता, अगर यह किसी विशेष लुप्त समाज की देन है, हमारे लिए मान्य नही हो सकती । जब तक इसमे कोई ऐसा तत्त्व न हो, जो सभी युगो और मनुष्यो के लिए समरूप हो, हम यह नही कह सकते कि सुकरात उचित था, ऐतिहासिक सन्दर्भ मे, एक रुचिकर ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप मे ही हम उसके सम्बन्ध मे निर्णय कर सकते हैं । समाज किसी ऐसी उच्चतर नैतिकता का विकास नही करता, जो उसके बाहर की ओर सकेत करे,

इसके विपरीत, मॉसेज, सुकरात, ईसामसीह या बाद के कुछ गिरिजाघर के लोग, विधर्मी, सुधारक और दार्शनिक जैसे लोग, प्रचलित समाज के विरोध मे अक्सर उच्चतम नैतिकता का विकास करते हैं। उनमे से कुछ समाज के विरुद्ध सघर्ष करते हैं और कुछ तो, अधिक नैतिक मनोवृत्ति की सृष्टि करने के उद्देश्य से, अपना जीवन भी अर्पित कर देते हैं। हमेशा यही उच्चतर नैतिकता समाज को धीरे-धीरे वदलती है, और यह ऐसा इसलिये कर सकती है कि जब एक बार कोई इसका तत्त्व हाथ मे आ जाता है तो यह सभी परिस्थितियो मे उचित दिखलायी पड सकती है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक सिद्धान्त को तथ्यो के अनुरूप होने के लिए फिर से गूढ व्याख्या करने की आवश्यकता है। कहाँ तक इम प्रकार की व्याख्या की जा सकती है, उसका एक उदाहरण देखें डर्कहिम, जो थोडा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक है, निश्चयपूर्वक यह कहता है कि समाज को शुभ के सम्वन्ध मे एक अचेतन विचार है जिसकी आवश्यकता विकास की दूसरी अवस्था मे पडेगी। सवसे पहले व्यक्ति को इस विचार की चेतना होती है, जैसेकि सुकरात को हुई, किन्तु समाज को अभी भी इसकी चेतना नही है, अत यह व्यक्ति दुश्मन समझा जाता है। परन्तु वह इस विचार को प्रकट करता है और इस प्रकार वह इसकी वास्तविक आवश्यकता से समाज को इसलिये अवगत कराता है कि जब उसे सता लिया जाता है या उसकी हत्या कर दी जाती हैं, उसके बाद समाज इस विचार को स्वीकार करता है। क्या हम सचमुच मे समाज के मानवीकरण मे विश्वास कर सकते हैं? निरपेक्ष नैतिकता, जो इस व्याख्या को वदलने के लिए है, और उन तथ्यो मे जिन्हे हम जानते हैं, तथ्यो और समाज को अपने जिस भविष्य का बोध है, उनमे सामजस्य स्थापित करना काफी कठिन प्रतीत होता है।

फिर भी, नैतिकता मूलत वैयक्तिक है। समाज को सम्बोधित करने वाला कोई धर्मादेश नही है—अर्थात् समाज को ऐसा या वैसा करना चाहिये, "तुम" अनिवार्य है। तो भी अगर यह व्यक्ति के प्रति अपील है तो यह तथ्य आश्चर्यजनक प्रतीत नही होता कि पहले व्यक्ति इस अपील का अनुभव करता है और तव फिर वह समाज के विरुद्ध खडा होता है। निश्चय ही शिक्षा और दण्ड का काफी महत्त्व है, जिनके महत्त्व पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त वल देता है किन्तु वे मूल्यो पर आधारित है, नैतिक अभिशसन के पूर्व इस बात का निर्णय कर लेना है कि क्या दण्ड देना है? यही बात न्यायव्यवस्था पर भी लागू होती है, इसका उद्देश्य उस व्यवस्था को लागू करना है जो उचित समझी गयी, और

हालाँकि रीति-रिवाज और पूर्वग्रह धीरे-धीरे व्यवधान डालते है और सम्भवत प्रवल होते हैं, फिर भी हमारे नैतिक ज्ञान के प्रकाश मे इसका हमेशा उपचार करना चाहिये। यह नैतिकता समाज से स्वतन्त्र है। यह बात उस समय भी देखी जा सकती है, जब समाज का सचालन केवल भौतिक विचारो और सामाजिक आवश्यकताओ से होता है, उस समय नैतिकता का विकास नही किया जाता, प्रत्युत इसे दवाव या प्रोत्साहन से वदला जाता है। हम आज इस वात को समझ सकते है कि अगर व्यक्ति एक वार फिर समाज के विरुद्ध उठ खडा हो, जिससे नैतिक स्तर ऊँचा हो, तो कोई महत्त्वपूर्ण वात होगी। वे निश्चय ही समाज के शत्रु समझे जायेंगे। उदाहरण के लिए, हालाँकि हम पर्वत-प्रवचन के धर्मादेशो के प्रति दिखावटी प्रेम का प्रदर्शन करें, फिर भी राजनीति मे यह शायद ही स्वीकार्य हो।

सिद्धान्तो का दूसरा वर्ग मनोविज्ञान पर आधारित है। इस बात मे सन्देह नही कि इन सिद्धान्तो मे भी, काफी सच्चाइयाँ है, जिनसे इस बात के स्पष्टीकरण मे सहायता मिल सकती है। हम काफी हद तक उन प्रक्रियाओ की उपज हैं, जिनका मनोविज्ञान वर्णन करता है। अधिकाश मानवीय व्यवहार उन घटनाओ से निर्धारित होते है, जो अतीत मे घटे हैं, और उनसे अब परिवर्तन नही किया जा सकता, अवेचतन की खोज से एक तत्त्व प्रकाश मे आया है, जो वास्तविक और शक्तिशाली है। किन्तु मनोविज्ञान का लक्ष्य एक प्रकार की निश्चितता प्राप्त करना है, जिसे हम भौतिकी मे पाते है, इसका आदर्श इस बात को दिखलाने मे निहित है कि हम पूर्णरूप से अतीत काल के अनुभवो से निर्धारित होते हैं, जिस पर हमारा जोर नही होता, अर्थात् हम उन कारको के वश मे रहते हैं, जो हमारे व्यवहारो को कारणात्मक और साख्यिकीय रूप से—स्पष्ट कर सकते है और जो हमे स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने की सम्भावना नही रखते। इस दृढ कथन का प्रयोग नैतिकता को सापेक्ष रूप मे दिखलाने के लिए किया जाता है। क्या सम्पूण सत्य के रूप मे इसे स्वीकार किया जा सकता है ?

हमने कई बार मनोविज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध मे चर्चा की है,* अत फिर से हमे इस वादविवाद मे पडने की आवश्यकता नही है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध इन बातो से है कि हम कैसे विचार और अनुभव करते हैं, कैसे क्रिया और प्रतिक्रिया करते हैं, इसका सम्बन्ध उन मूल सम्प्रत्ययो से नही है, जिन्हे हम

---

* पृष्ठ सख्या ४, १३-१४, २४, ६-७ देखिये

प्रयोग मे लाते है, यह इस बात की व्याख्या करता है कि हम मूल्यो का उपयोग और दुरुपयोग कैसे करते है, यह मूल्यो की व्याख्या नही करता, यह निर्णय करने की प्रक्रियाओ की रूपरेखा प्रस्तुत करता है, उन मानदण्डो की रूपरेखा नही, जिनपर हम अपने निर्णयो को आधारित करते हैं । अत यद्यपि यह इस बात को तो दिखला सकता है कि हम कब स्वतन्त्र रूप से कार्य नही कर सकते, किन्तु यह उसी रूप मे स्वतन्त्रता के बारे मे कुछ कहने मे असमर्थ है ।* नैतिकता को अपेक्षा, स्पष्ट रूप से, कुछ और अधिक बाते हैं, जिनका पता मनोविज्ञान की विधियो द्वारा लगाया जा सकता है ।

मुख्यत मनोविज्ञान के कारण ही, हम "सुन्दर" और "असुन्दर" के रूप मे "शुभ" और "अशुभ" शब्दो का प्रयोग करेगे—अर्थात् अर्ध-सौन्दर्यात्मक तौर पर, जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं, दर्शक के रूप मे प्रयोग करेगे। परन्तु हमारी क्रियाओ के लिए जो भावानुभूति उत्तरदायी है, वह अन्तिम रूप से यह सिद्ध करती है कि यह अभिवृत्ति नैतिक क्षेत्र मे अपर्याप्त है ।

इसके अतिरिक्त प्राय यह कहा जाता है कि नैतिकता केवल रीति-रिवाजो का विषय है, अत इसमे हमेशा परिवर्तन होता रहता है, यह युग, राष्ट्र, भूगोल और जलवायु पर भी आश्रित है । यह बात नैतिकता को लागू करने और इसका प्रतिपादन करने के मामले मे तो सत्य है, किन्तु क्या उसी रूप मे नैतिकता के सम्बन्ध मे भी यह बात लागू होती है ? मैं इस बात को अवश्य स्वीकार करूँगा कि मैं इस दावे को समझने मे कभी समर्थ नही हुआ हूँ । मुख्य नैतिक धर्मादेश वास्तविक रूप मे शायद ही बदले है और बदले भी है तो अन्य वस्तु से कम बदले हैं । उदाहरण के लिए, अगर दस धर्मादेश या पर्वत–प्रवचन के ऐतिहासिक सन्दर्भ के सम्बन्ध मे हम विचार करते है तो देखते हैं कि इन दोनो ऐतिहासिक अवसरो पर जिन राज्यो और राष्ट्रो के साथ यहूदी सम्पर्क मे आये, वे पूण रूप से मिट गये, वे देश ही बदल गये, उपजाऊ जमीन, बजर जगली पहाडी इलाका बन गयी, जलवायु बदल गयी, वास्तव मे केवल वे ही कुछ वाक्य आजतक विद्यमान रहे है जो नैतिक धर्मादेश हैं ।† वे आज भी अपने मूल रूप मे

---

* पृष्ठ सख्या ५-६ देखिये ।

† लगभग यही बात निरपेक्ष मूल्यो के मूत रूपो—कविता, मूर्तिकला, चित्रकला, वस्तुकला ज्ञान की प्राचीन पुस्तको—के साथ भी लागू होती है, किन्तु चूँकि यहाँ हमारा इनसे सम्बन्ध नही है, अत हम इन्हे छोड सकते हैं । विस्तृत अध्ययन के लिए पाल० रुविचेक की पुस्तक, "थिंकिंग टुवाड्स रिलिजन" के अध्याय २ और ६ देखें ।

हालाँकि रीति-रिवाज और पूर्वग्रह धीरे धीरे व्यवधान डालते हैं और सम्भवत प्रबल होते हैं, फिर भी हमारे नैतिक ज्ञान के प्रकाश मे इसका हमेशा उपचार करना चाहिये। यह नैतिकता समाज से स्वतन्त्र है। यह बात उस समय भी देखी जा सकती है, जब समाज का सचालन केवल भौतिक विचारो और सामाजिक आवश्यकताओ से होता है, उस समय नैतिकता का विकास नही किया जाता, प्रत्युत इसे दबाव या प्रोत्साहन से बदला जाता है। हम आज इस बात को समझ सकते हैं कि अगर व्यक्ति एक बार फिर समाज के विरुद्ध उठ खडा हो, जिससे नैतिक स्तर ऊँचा हो, तो कोई महत्त्वपूर्ण बात होगी। वे निश्चय ही समाज के शत्रु समझे जायेगे। उदाहरण के लिए, हालाँकि हम पर्वत-प्रवचन के धर्मादेशो के प्रति दिखावटी प्रेम का प्रदर्शन करें, फिर भी राजनीति मे यह शायद ही स्वीकार्य हो।

सिद्धान्तो का दूसरा वर्ग मनोविज्ञान पर आधारित है। इस बात मे सन्देह नही कि इन सिद्धान्तो मे भी, काफी सच्चाइयाँ है, जिनसे इस बात के स्पष्टीकरण मे सहायता मिल सकती है। हम काफी हद तक उन प्रक्रियाओ की उपज हैं, जिनका मनोविज्ञान वर्णन करता है। अधिकाश मानवीय व्यवहार उन घटनाओ से निर्धारित होते है, जो अतीत मे घटे हैं, और उनसे अब परिवर्तन नही किया जा सकता, अवेचतन की खोज से एक तत्त्व प्रकाश मे आया है, जो वास्तविक और शक्तिशाली है। किन्तु मनोविज्ञान का लक्ष्य एक प्रकार की निश्चितता प्राप्त करना है, जिसे हम भौतिकी मे पाते है, इसका आदर्श इस बात को दिखलाने मे निहित है कि हम पूर्णरूप से अतीत काल के अनुभवो से निर्धारित होते हैं, जिस पर हमारा जोर नही होता, अर्थात् हम उन कारको के वश मे रहते हैं, जो हमारे व्यवहारो को कारणात्मक और साख्यिकीय रूप से—स्पष्ट कर सकते हैं और जो हमे स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने की सम्भावना नही रखते। इस दृढ कथन का प्रयोग नैतिकता को सापेक्ष रूप मे दिखलाने के लिए किया जाता है। क्या सम्पूण सत्य के रूप मे इसे स्वीकार किया जा सकता है ?

हमने कई बार मनोविज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध मे चर्चा की है,* अत फिर से हमे इस वादविवाद मे पडने की आवश्यकता नही है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध इन बातो से है कि हम कैसे विचार और अनुभव करते हैं, कैसे क्रिया और प्रतिक्रिया करते हैं, इसका सम्बन्ध उन मूल सम्प्रत्ययो से नही है, जिन्हे हम

* पृष्ठ सख्या ४, १३-१४, २४, ६-७ देखिये

प्रयोग मे लाते हैं, यह इस बात की व्याख्या करता है कि हम मूल्यो का उपयोग और दुरुपयोग कैसे करते हैं, यह मूल्यो की व्याख्या नही करता, यह निर्णय करने की प्रक्रियाओ की रूपरेखा प्रस्तुत करता है, उन मानदण्डो की रूपरेखा नही, जिनपर हम अपने निर्णयो को आधारित करते है । अत यद्यपि यह इस बात को तो दिखला सकता है कि हम कब स्वतन्त्र रूप से कार्य नही कर सकते, किन्तु यह उसी रूप मे स्वतन्त्रता के बारे मे कुछ कहने मे असमर्थ है ।* नैतिकता की अपेक्षा, स्पष्ट रूप से, कुछ और अधिक बातें है, जिनका पता मनोविज्ञान की विधियो द्वारा लगाया जा सकता है ।

मुख्यत मनोविज्ञान के कारण ही, हम "सुन्दर" और "असुन्दर" के रूप मे "शुभ" और "अशुभ" शब्दो का प्रयोग करेंगे—अर्थात् अर्ध-सौन्दर्यात्मक तौर पर, जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं, दर्शक के रूप मे प्रयोग करेंगे। परन्तु हमारी क्रियाओ के लिए जो भावानुभूति उत्तरदायी है, वह अन्तिम रूप से यह सिद्ध करती है कि यह अभिवृत्ति नैतिक क्षेत्र मे अपर्याप्त है ।

इसके अतिरिक्त प्राय यह कहा जाता है कि नैतिकता केवल रीति-रिवाजो का विषय है, अत इसमे हमेशा परिवर्तन होता रहता है, यह युग, राष्ट्र, भूगोल और जलवायु पर भी आश्रित है । यह बात नैतिकता को लागू करने और इसका प्रतिपादन करने के मामले मे तो सत्य है, किन्तु क्या उसी रूप मे नैतिकता के सम्बन्ध मे भी यह बात लागू होती है ? मै इस बात को अवश्य स्वीकार करूँगा कि मैं इस दावे को समझने मे कभी समर्थ नही हुआ हूँ । मुख्य नैतिक धर्मादेश वास्तविक रूप मे शायद ही बदले है और बदले भी है तो अन्य वस्तु से कम बदले हैं । उदाहरण के लिए, अगर दस धर्मादेश या पर्वत–प्रवचन के ऐतिहासिक सन्दर्भ के सम्बन्ध मे हम विचार करते हैं तो देखते हैं कि इन दोनो ऐतिहासिक अवसरो पर जिन राज्यो और राष्ट्रो के साथ यहूदी सम्पर्क मे आये, वे पूण रूप से मिट गये, वे देश ही बदल गये, उपजाऊ जमीन, बजर जगली पहाडी इलाका बन गयी, जलवायु बदल गयी, वास्तव मे केवल वे ही कुछ वाक्य आजतक विद्यमान रहे हैं जो नैतिक धर्मादेश हैं ।† वे आज भी अपने मूल रूप मे

---

* पृष्ठ सख्या ५-६ देखिये ।

† लगभग यही बात निरपेक्ष मूल्यो के मूर्त रूपो—कविता, मूर्तिकला, चित्रकला, वस्तुकला ज्ञान की प्राचीन पुस्तको—के साथ भी लागू होती है, किन्तु चूँकि यहाँ हमारा इनसे सम्बन्ध नही है, अत हम इन्हें छोड सकते हैं । विस्तृत अध्ययन के लिए पाल० रुबिचेक की पुस्तक, "थिंकिग टुवाड्र्स रिलिजन" के अध्याय २ और ६ देखें ।

प्रामाणिक है — अर्थात् अभी भी विद्यमान हैं और हमारे जीवन मे इनका वास्तविक महत्त्व है। इसके विपरीत विज्ञान की उन विधियो और विचारो मे उस समय से काफी परिवर्तन हुए है, जिन्हे हम अधिक विश्वसनीय समझते हैं, और प्रत्येक परिवर्तन से पहले के सिद्धान्त अमान्य ठहरा दिये गये हैं।

नैतिकता उतनी ही स्थायी है, जितनी हम सम्भवत किसी ऐसी वस्तु के स्थायी होने की कल्पना कर सकते हैं जो मानवीय इतिहास का अग है। ऐतिहासिक रूप से मनुष्य का जैसे-जैसे विकास होता है, हम पाते हैं कि पहले ऐतिहासिक अवस्थाओ के अनुसार नैतिकता का भी विकास होता है, प्रारम्भिक समय मे आदिम समाज मे, इसका अस्तित्व शायद ही इस रूप मे रहा होगा, जिस रूप मे हम इसकी चर्चा कर रहे है। फिर भी आश्चर्य की वात यह नही है कि इसका विकास उसी प्रकार से होता है जैसे प्रत्येक वस्तु का, प्रत्युत् आश्चर्य की वात तो यह है कि जव कभी या जहाँ कही भी यह विकास की अवस्था तक पहुँच जाती है यह सहसा स्थायी हो जाती है। यहूदी धर्म मे दस धर्मादेशो और बाद के पैगम्बरो तथा यूनान मे सुकरात के आगे के दार्शनिको के साथ यह बात होती है, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, कन्फ्यूशी धर्म मे यह वात होती है। उस समय से नैतिक उपलब्धियाँ स्थायी रहती हैं, जवकि लगभग प्रत्येक वस्तु मे परिवर्तन होता रहता है। क्या इससे इस बात का पता नही चलता कि किसी ऐसे सत् का उद्घाटन होता है, जो तत्त्वत मानव प्रकृति का है, जो रीति-रिवाज मात्र से भिन्न है? यह बात और भी अधिक सत्य है, क्योकि महान् धर्मों की नैतिक माँगे इतती समान हैं, कि अपने उद्भव काल मे भी विभिन्न देश एक दूसरे को प्रभावित नही कर सके। नैतिकता के अर्थ और प्रयोग मे परिवर्तन होने के बावजूद, यह विचित्र बात है कि नैतिकता स्थायी है।

रीति-रिवाजो को नैतिकता के बराबर दिखलाने का अर्थ यह भी होगा कि नैतिक प्रश्नो का निर्णय बहुमत से हो सकता है। अगर नैतिकता मे राष्ट्र के केवल रीति-रिवाज होते, तो विश्वसनीय ढग से बहुमत ही यह निर्णय कर सकता कि कौन-सा व्यवहार नैतिक है कौन अनैतिक? डेविड ह्यूम ने ही इस वात का दावा किया था कि जिन कार्यो को अधिकाश मानवजाति द्वारा नैतिक स्वीकृति मिल जाती है, वे उचित होते हैं। परन्तु जव डब्ल्यू० लिली, ह्यूम की बात का खण्डन करते हैं तो उनकी बात पर अधिक विश्वास होता है। वे कहते हैं, "निश्चय ही कुछ ऐसे मामले है, जहाँ कोई व्यक्ति किसी कार्य को उचित ठहराता है, हालाँकि वह जानता है कि अधिकाश मावनजाति और प्रत्येक वर्ग

के अधिकाश लोग इसे नापसन्द करते हैं और नैतिक रूप से उस कार्य को स्वीकार नही करते। वैयक्तिक अन्त करण की सबसे विशिष्ट अभिव्यक्तियो मे एक यह है कि वह ऐसे नैतिक निर्णय करता है, जो उस वर्ग के अधिकाश लोगो के नैतिक निर्णयो से भिन्न होते है, जिसमे वह है।"[१] और हमने देखा है कि सुकरात की तरह, व्यक्ति उचित हो सकता है, चाहे अधिकाश लोग उसके विरुद्ध ही क्यो न हो। अल्प सख्या और बहुसख्या महत्त्व नही रखते। आन्तरिक निश्चिति का महत्त्व होता है, क्योकि परमतत्त्व सभी मनुष्य और युगो मे एक ही होता है। अत जब कोई इस परमतत्त्व पर थोडा सा प्रकाश डालेगा तब धीरे-धीरे उसके ज्ञान की पहचान होगी और उसका ज्ञान सिद्ध होगा। इस प्रकार सख्या से नैतिक प्रश्नो का हल नही निकल सकता।

सिद्धान्तो का एक दूसरा वर्ग, विशुद्धत दार्शनिक ढग से प्रत्यक्ष रूप से नैतिक सापेक्षता को स्थापित करने का प्रयास करता है। यह दृढ कथन अनेक भिन्न रूपो मे अभिव्यक्त किया जा सकता है, किन्तु तह मे यह हमेशा इस बात को बतलाना चाहता है कि एक नैतिक सहिता दूसरी नैतिक सहिता की तरह ही कम न्यायोचित है, अर्थात् अगर हम एक को अधिक चाहते हैं और दूसरे को अस्वीकार करते हैं तो यह पसन्द की बात है। जनजातीय सहिता नरभक्षण की अनुमति देती है। यह उतना ही सुदृढ या निराधार होगी—जितना रोम का "स्टोइक दर्शन" या ईसाई नैतिकता। बर्टण्ड रसल कहते हैं कि दार्शनिक आधारो पर नीट्शे के उपदेश को अस्वीकार करना असम्भव है, क्योकि यह "आन्तरिक रूप मे स्वसगत है", उसका केवल यह कहने का अधिकार है कि वह इसे नापसन्द करता है।[२] निश्चय ही हम इस कथन के प्रति सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं, किन्तु क्या यह सही है ? क्या सचमुच मे दार्शनिक रूप से यह अन्तिम रूप से दिखलाना असम्भव है कि "स्वर्णाभिकेश पशु" के मूल्य ईसाई धर्म के प्रेम की अपेक्षा बहुत ही कम है ?

तर्कीय प्रत्यक्षवाद के अन्तर्गत ही इन सिद्धान्तो का मुख्य रूप से विकास हुआ और इस विचारधारा की अवनति के साथ ही अब इनका महत्त्व उतना नही रहा जितना पहले कभी था। किन्तु कई बाते है जो विचार करने लायक हैं, क्योकि उनसे उस बात का पता चलता है, जो किसी भी ऐसे सिद्धान्त मे हमेशा अन्तर्निहित होती है तथा जो नैतिकता को सापेक्ष बनाने का प्रयास करती है। यह सत्य है कि अगर नैतिकता केवल बाह्य अवस्थाओ पर निर्भर करती तो सबसे बुरी जनजातीय सहिता उसी प्रकार न्यायोचित होती जिस प्रकार अन्य सहिता।

प्रामाणिक है — अर्थात् अभी भी विद्यमान हैं और हमारे जीवन मे इनका वास्तविक महत्त्व है। इसके विपरीत विज्ञान की उन विधियो और विचारो मे उस समय से काफी परिवर्तन हुए है, जिन्हे हम अधिक विश्वसनीय समझते हैं, और प्रत्येक परिवर्तन से पहले के सिद्धान्त अमान्य ठहरा दिये गये हैं।

नैतिकता उतनी ही स्थायी है, जितनी हम सम्भवत किसी ऐसी वस्तु के स्थायी होने की कल्पना कर सकते है जो मानवीय इतिहास का अग है। ऐतिहासिक रूप से मनुष्य का जैसे-जैसे विकास होता है, हम पाते हैं कि पहले ऐतिहासिक अवस्थाओ के अनुसार नैतिकता का भी विकास होता है, प्रारम्भिक समय मे आदिम समाज मे, इसका अस्तित्व शायद ही इस रूप मे रहा होगा, जिस रूप मे हम इसकी चर्चा कर रहे हैं। फिर भी आश्चर्य की बात यह नही है कि इसका विकास उसी प्रकार से होता है जैसे प्रत्येक वस्तु का, प्रत्युत् आश्चर्य की बात तो यह है कि जब कभी या जहाँ कही भी यह विकास की अवस्था तक पहुँच जाती है यह सहसा स्थायी हो जाती है। यहूदी धर्म मे दस धर्मादेशो और बाद के पैगम्बरो तथा यूनान मे सुकरात के आगे के दार्शनिको के साथ यह बात होती है, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, कन्फ्यूशी धर्म मे यह बात होती है। उस समय से नैतिक उपलब्धियाँ स्थायी रहती हैं, जबकि लगभग प्रत्येक वस्तु मे परिवर्तन होता रहता है। क्या इससे इस बात का पता नही चलता कि किसी ऐसे सत् का उद्घाटन होता है, जो तत्त्वत मानव प्रकृति का है, जो रीति-रिवाज मात्र से भिन्न है ? यह बात और भी अधिक सत्य है, क्योकि महान् धर्मों की नैतिक माँगे इतनी समान हैं, कि अपने उद्भव काल मे भी विभिन्न देश एक दूसरे को प्रभावित नही कर सके। नैतिकता के अर्थ और प्रयोग मे परिवर्तन होने के बावजूद, यह विचित्र बात है कि नैतिकता स्थायी है।

रीति-रिवाजो को नैतिकता के बराबर दिखलाने का अर्थ यह भी होगा कि नैतिक प्रश्नो का निर्णय बहुमत से हो सकता है। अगर नैतिकता मे राष्ट्र के केवल रीति-रिवाज होते, तो विश्वसनीय ढग से बहुमत ही यह निर्णय कर सकता कि कौन-सा व्यवहार नैतिक है कौन अनैतिक ? डेविड ह्यूम ने ही इस बात का दावा किया था कि जिन कार्यों को अधिकाश मानवजाति द्वारा नैतिक स्वीकृति मिल जाती है, वे उचित होते हैं। परन्तु जब डब्ल्यू० लिली, ह्यूम की बात का खण्डन करते हैं तो उनकी बात पर अधिक विश्वास होता है। वे कहते हैं, "निश्चय ही कुछ ऐसे मामले है, जहाँ कोई व्यक्ति किसी कार्य को उचित ठहराता है, हालाँकि वह जानता है कि अधिकाश मानवजाति और प्रत्येक वर्ग

के अधिकाश लोग इसे नापसन्द करते हैं और नैतिक रूप से उस कार्य को स्वीकार नही करते। वैयक्तिक अन्त करण की सबसे विशिष्ट अभिव्यक्तियो मे एक यह है कि वह ऐसे नैतिक निर्णय करता है, जो उस वर्ग के अधिकाश लोगो के नैतिक निर्णयो से भिन्न होते है, जिसमे वह है।"[1] और हमने देखा है कि सुकरात की तरह, व्यक्ति उचित हो सकता है, चाहे अधिकाश लोग उसके विरुद्ध ही क्यो न हो। अल्प सख्या और बहुसख्या महत्त्व नही रखते। आन्तरिक निश्चिति का महत्त्व होता है, क्योकि परमतत्त्व सभी मनुष्य और युगो मे एक ही होता है। अत जब कोई इस परमतत्त्व पर थोडा सा प्रकाश डालेगा तब धीरे-धीरे उसके ज्ञान की पहचान होगी और उसका ज्ञान सिद्ध होगा। इस प्रकार सख्या से नैतिक प्रश्नो का हल नही निकल सकता।

सिद्धान्तो का एक दूसरा वर्ग, विशुद्धत दार्शनिक ढग से प्रत्यक्ष रूप से नैतिक सापेक्षता को स्थापित करने का प्रयास करता है। यह दृढ कथन अनेक भिन्न रूपो मे अभिव्यक्त किया जा सकता है, किन्तु तह मे यह हमेशा इस बात को बतलाना चाहता है कि एक नैतिक सहिता दूसरी नैतिक सहिता की तरह ही कम न्यायोचित है, अर्थात् अगर हम एक को अधिक चाहते हैं और दूसरे को अस्वीकार करते है तो यह पसन्द की बात है। जनजातीय सहिता नरभक्षण की अनुमति देती है। यह उतना ही सुदृढ या निराधार होगी—जितना रोम का "स्टोइक दर्शन" या ईसाई नैतिकता। बर्टण्ड रसल कहते है कि दार्शनिक आधारो पर नीट्शे के उपदेश को अस्वीकार करना असम्भव है, क्योकि यह "आन्तरिक रूप मे स्वसगत है", उसका केवल यह कहने का अधिकार है कि वह इसे नापसन्द करता है।[2] निश्चय ही हम इस कथन के प्रति सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं, किन्तु क्या यह सही है? क्या सचमुच मे दार्शनिक रूप से यह अन्तिम रूप से दिखलाना असम्भव है कि "स्वर्णाभिकेश पशु" के मूल्य ईसाई धर्म के प्रेम की अपेक्षा बहुत ही कम हैं?

तर्कीय प्रत्यक्षवाद के अन्तर्गत ही इन सिद्धान्तो का मुख्य रूप से विकास हुआ और इस विचारधारा की अवनति के साथ ही अब इनका महत्त्व उतना नही रहा जितना पहले कभी था। किन्तु कई बातें है जो विचार करने लायक हैं, क्योकि उनसे उस बात का पता चलता है, जो किसी भी ऐसे सिद्धान्त मे हमेशा अन्तर्निहित होती है तथा जो नैतिकता को सापेक्ष बनाने का प्रयास करती हैं। यह सत्य है कि अगर नैतिकता केवल बाह्य अवस्थाओ पर निर्भर करती तो सबसे बुरी जनजातीय सहिता उसी प्रकार न्यायोचित होती जिस प्रकार अन्य सहिता।

इस प्रकार के कथनो पर जो मुख्य आपत्ति लगायी जाती है वह स्पष्ट है–वे मानव बुद्धि के महत्त्व को नही समझते। अगर वे केवल रुचि की बातें होती तो उन पर सार्थक रूप से विचार नही किया जा सकता, किन्तु उन पर विचार किया जाता है और स्पष्ट रूप से किया जा सकता है और किया जाना चाहिये। तर्कीय प्रत्यक्षवाद मे यह कहा गया कि सभी मूल्य निर्णय इस कथन के सदृश्य है—"मैं चाय मे चीनी पसन्द करता हूँ"– जिस पर आगे विचार किये विना विश्वास करना है। किन्तु यह एक विशेप प्रकार का मूल्य निर्णय है, नैतिक निर्णय सम्पूर्णत भिन्न है। अगर अतिमहत्त्वपूर्ण प्रश्न—"मुझे क्या करना चाहिये" पर विचार नही किया जा सकता तो दर्शन का अभित्याग करना होगा। इस प्रकार का अभित्याग क्यो अनावश्यक है, उनके कारणो मे कई कारण सामान्य महत्त्व के हैं।

पहला—यह आवश्यक नही कि पसन्द और नापसन्द जिनका इस सन्दर्भ मे अक्सर उल्लेख किया गया है, मूल्य निर्णय के समरूप हो। हम किसी बच्चे को दण्ड देने की वात नापसन्द कर सकते है किन्तु फिर भी इसे अनुमोदित कर सकते हैं—यह एक ऐसी भिन्नता है जिससे "शुभ" और "उचित" के वीच, जिनका हमने उल्लेख किया है, पृथक्तता के सम्वन्ध मे हमारा ज्ञान वढा सकती है। सच तो यह है कि नैतिक माँगें इतनी कठोर होती हैं कि इन्हे पसन्द नही किया जा सकता, यही कारण है कि इनका शायद ही पालन होता है। फिर भी यह विश्वास करना समान रूप से गलत है, जैसा कि काण्ट ने किया, कि अगर कठिनाई से और अपनी प्रवृत्ति के विरुद्ध कोई अपना कर्त्तव्य करता है तो यह केवल प्रशसनीय है, कभी-कभी यह प्रशसनीय और सुखद दोनो हो सकता है। हमे विभिन्न अन्तर वतलाना आना चाहिये, पसन्द और नापसन्द को स्पष्ट रूप से नैतिक आवेगो से अलग करना चाहिये। इस प्रकार की भिन्नताएँ बतलाना अक्सर कठिन होता है, किन्तु वे सम्भव हैं। उदाहरण के लिए, वास्तविक अनुभूति मे, जो भाव किसी व्यक्ति के लिए उत्तरदायी है और जिस भाव के प्रति किसी व्यक्ति का आकर्षण है, उनमे भिन्नता वतलायी जा सकती है। भावावेश का सम्मोहक गुण, अन्त करण के सम्मोहक गुण से भिन्न है। प्रतीयमान समानताओ की खोज करके—कि सामाजिक हैं, या मनोवैज्ञानिक या विशुद्ध रूप से तार्किक—नैतिकता की विशिष्टता को कम करने के वदले, हमे इसके विशेष लक्षणो पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। चूंकि यहाँ हमारा सम्वन्ध भावो से है (हम उत्तरदायित्व के भाव को सही रूप से व्यक्त करते हैं और हम इस बात को मानते हैं कि अन्त करण की प्रतिक्रियाओ की अनुभूति होती है),

अत यह आवश्यक है कि इस प्रकार की भिन्नताओ की सहायता से हम अपनी सम्वेदनशीलता बढाये।

दूसरी आपत्ति इस बात पर निर्भर करती है कि अधिमान सम्बन्धी कथनो और नैतिकता सम्बन्धी कथनो मे जो विशिष्ट भिन्नताएँ हैं, उनकी खोज की जा सकती है और उन पर विचार-विमर्श हो सकता है। यह सत्य है कि अधिमान्यता, जैसे कुछ रगो की अधिमान्यता, केवल पसन्द की बात है, अगर कोई व्यक्ति लाल रग की टाई या पोशाक को अधिमान देता है और दूसरा व्यक्ति नीले रग की टाई या पोशाक को, तो इस सम्बन्ध मे उस समय तक आगे विचार-विमर्श करने की आवश्यकता नही है, जब तक अन्य रगो के साथ इसके ऐक्य मे किसी प्रकार की बाधा न पडती हो। किन्तु हम यह नही कह सकते कि सच बोलने की अपेक्षा झूठ बोलना हमेशा अच्छा होता है, यह कुछ विशेष अवसरो पर ठीक हो सकता है, किन्तु इसे हम नैतिक सिद्धान्त नही बना सकते और न हत्या को अनैतिक बतलाना ही पसन्द की चीज या विशुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ विचार है। कुछ मूल्य निर्णय पसन्द या वैयक्तिक अधिमान्यताओ पर आधारित है, किन्तु नैतिक निर्णय नही, क्योकि न तो उनका विलोम किया जा सकता है न दो विपरीत मत सत्य हो सकते है। अत विचार-विमर्श से हम अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकते है।

अत पूर्ण सशयवाद—जिसका प्रतिपादन भी इस सन्दर्भ मे हुआ है सचमुच मे अतर्कसगत है। इस प्रकार के सशयवाद का अर्थ यह होगा कि किसी भी व्यक्ति का नैतिक विचार पूर्णरूप से निजी होगा, क्योकि "उचित" और "शुभ" की परिभाषा नही दी जा सकती, जब उनका प्रयोग किया जायेगा तो प्रत्येक व्यक्ति इन्हे भिन्न अर्थ मे ग्रहण करेगा और सही अर्थ के सम्बन्ध मे कोई भी निर्णय सही नही होगा। हमने जो कुछ भी कहा है, उसके सन्दर्भ मे यह स्पष्ट रूप से असत्य है, हमे हत्या या चोरी या नैतिक धर्मादेशो के स्थायित्व के बारे मे सोचने की आवश्यकता है। किन्तु सशयवाद बहकाने वाला है, यह हमे उत्तरदायित्व से दूर रख सकता है, किन्तु अगर कोई व्यक्ति नैतिक विचारो को स्वीकार करता है तो वह इस आधार पर कभी कार्य नही करता, अत. अगर वह समस्त निहित कारको की सावधानी से सवीक्षा करने के बाद अपने निष्कर्षो पर पहुँचेगा तो उसे इस बात का विश्वास हो जायेगा कि उसके निष्कर्ष सामान्य रूप से प्रामाणिक है।

भी होना है, और मनुष्य एव "के प्रति उत्तरदायी" को अर्थ प्रदान करने मे उस समय तक असमर्थ है जब तक वह अपनी प्रकृति मे अनुभवातीत तत्त्वो की विद्यमानता स्वीकार न करे। यदृच्छा से नैतिकता की सृष्टि नही की जा सकती, इसमे आप्तवचन होना चाहिये।

परन्तु दैनिक जीवन मे, सबसे महत्त्वपूर्ण नैतिक सापेक्ष सिद्धान्त सम्भवत वह है, जो भौतिकवाद पर आधारित है—इतना कि अनेक लोग इसे शायद ही कोई सिद्धान्त मानेंगे, प्रत्युत इसे वास्तविक व्यवहार मानेंगे। फिर भी, इससे उन व्याख्याओ मे और भी भेद प्रकट होते है, जो नैतिकता को सापेक्ष बनाती है।

भौतिकवादी अधिकतम सख्या के लिए अधिकतम आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। यह प्रत्यायक प्रतीत होता है और मौलिक रूप से इसका उद्देश्य भी मानवोचित था, किन्तु सच तो यह है कि यह मुख्य प्रश्न से दूर रहता है, जिस आनन्द की इच्छा की गयी है, उसकी परिभाषा नही दी गयी है। हम भौतिकवादियो की तरह यह प्रयास कर सकते हैं कि हम अपना पैर जमाये रखे और वही वस्तु प्राप्त करना चाहे जो हमारे लिए लाभदायक हो, किन्तु हमारे वास्तविक लाभ की कौन-सी वस्तु है ? क्या हम स्वार्थी हो जायें और निर्लज्ज होकर अपने स्वार्थ का प्रदर्शन करें ? कम से कम हम यह बहाना करें कि हम किसी नैतिक सहिता का पालन कर रहे हैं, या अपने पडौसी से प्रेम कर रहे हैं, या यथार्थ रूप से हम उससे प्रेम करें और अपने प्रश्नो से घबडाकर, हम इस कथन की ओर लौट आ सकते हैं कि हम केवल प्रसन्न होना चाहते है। किन्तु हम किस प्रकार की प्रसन्नता चाहते हैं ? क्या हम अपने मन की हरेक बात पूरी करने मे समर्थ होना चाहते हैं, क्या हम यह चाहते हैं कि हमारे पास इतना धन हो कि हमारे मन की जो भी चाह हो वह पूरी हो ? किन्तु अगर हम ऐसा करते हैं तो हम पायेगे कि हमारी कुछ इच्छाएँ उन कार्यो को करने के लिए प्रेरित करेंगी जिनसे कोई सुख प्राप्त नही होगा और हमारे कुछ कार्य तुच्छ प्रतीत होगे। हमे कुछ और प्रतिमानो की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, हम मित्र चाहते है, एक सुखी पारिवारिक जीवन चाहते है। इसके लिए कम से कम आपसी विश्वास चाहिये, और इस दृढ विश्वास के बिना लोगो मे विश्वास उत्पन्न होना शायद ही सम्भव है कि अन्य लोग उन्ही प्रतिमानो के अनुसार कार्य करते हैं, जिनके अनुसार स्वय हम कार्य करते हैं। दूसरे शब्दो मे सद्भाव के निरपेक्ष मूल्य की आवश्यकता का बोध धीरे-धीरे स्वय होता है। केवल उपयोगिता से यह प्रश्न

तीसरी आपत्ति यह है कि नैतिक धर्मादेश केवल आदेशसूचक नही हैं, जैसाकि कुछ तर्कीय प्रत्यक्षवादियो का दावा है। इस मत के अनुसार, "यह कार्य शुभ है" का अर्थ केवल यह होगा कि "इस कार्य को करो।" यह सत्य है कि धर्मादेशो की अभिव्यक्ति हमेशा आदेशसूचक रूप मे की जाती है, फिर भी वे बाध्यकारी होते हैं। क्योकि वे मनुष्य प्रकृति के एक ऐसे तत्त्व के अनुरूप होते है, जिसे वे अपने आग्रह से स्पष्ट करते हैं। तार्किक रूप से यह कहना सही प्रतीत होता है कि जिन आदेशको मे "गा" या "चाहिये" का प्रयोग किया जाता है और जो इस प्रकार भावी सम्भाव्यताओ की ओर सकेत करते हैं, उनमे और उन वर्त्तमान तथ्यो से सम्बन्धित कथनो मे कोई सामान्य बात नही है, जिनकी अभिव्यक्ति भविष्यत क्रिया (टूवी) से हुई है अत नैतिकता कोई तथ्य नही है। किन्तु यह विशुद्ध तार्किक भेद भ्रामक है, अगर यह ऐसा नही होता तो हम इन धर्मादेशो को यदृच्छ कहकर अस्वीकार कर देते। किन्तु चूंकि वे बाध्यकारी हैं, अत उनका मूल उन तथ्यो मे होना चाहिये, जिन्हे इस प्रकार भी वे अभिव्यक्त करते है। फिर भी, ये धर्मादेश एकान्तिक रूप से भविष्य के सम्बन्ध मे ही विचार नहीं करते, वे हमे इस रूप मे भी समर्थ बनाते हैं कि हम भूतकालिक कार्यों के बारे मे निर्णय कर सके।

नैतिकता के सम्बन्ध मे अस्तित्ववादी सिद्धान्तो की हम बाद मे चर्चा करेंगे। उनमे से कुछ सिद्धान्त निरपेक्ष नैतिकता को स्वीकार नही करते हैं और वे इसके स्थान पर इस विचार की स्थापना करने का प्रयास करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपनी नैतिकता की सृष्टि करता है, उनके विचार मे, मनुष्य प्रकृति के तत्त्व, नैतिकता का निर्धारण नही करते, वह सम्पूर्ण रूप से यदृच्छ है। फिर भी, ये अस्तित्ववादी यह दिखलाने के लिए, उत्तरदायित्व की रक्षा करना चाहते हैं कि मनुष्य जो कुछ भी है, और जो कुछ भी करता है, उसके लिए, वह उत्तरदायी है। इस बात को दिखलाने मे वे असफल रहते हैं। उनके अनुसार, मनुष्य अपने कर्मो के लिए स्वय उत्तरदायी है, किन्तु चूंकि प्रदत्त नैतिकता नही है, अत वह उन सिद्धान्तो को हमेशा बदल सकता है, जिनपर वह अपने कर्मो को आधारित करता है। हालांकि अधिकाश अस्तित्ववादी इसे अस्वीकार करते हैं, फिर भी इससे हम एक बार फिर निरपेक्ष की अवधारणा की ओर अग्रसर होते है, क्योंकि सार्थक होने के लिए, उत्तरदायित्व किसी ऐसी अनुभवातीत सत्ता पर आश्रित होने की माँग करता है, जो निरपेक्ष हो। सार्थक होने के लिए उत्तर-दायित्व को न केवल "के लिए उत्तरदायी" होना है बल्कि "के प्रति उत्तरदायी"

भी होना है, और मनुष्य एव "के प्रति उत्तरदायी" को अर्थ प्रदान करने मे उस समय तक असमर्थ है जब तक वह अपनी प्रकृति मे अनुभवातीत तत्त्वो की विद्यमानता स्वीकार न करे। यदृच्छा से नैतिकता की सृष्टि नही की जा सकती, इसमे आप्तवचन होना चाहिये।

परन्तु दैनिक जीवन मे, सबसे महत्त्वपूर्ण नैतिक सापेक्ष सिद्धान्त सम्भवत वह है, जो भौतिकवाद पर आधारित है—इतना कि अनेक लोग इसे शायद ही कोई सिद्धान्त मानेंगे, प्रत्युत इसे वास्तविक व्यवहार मानेगे। फिर भी, इससे उन व्याख्याओ मे और भी भेद प्रकट होते है, जो नैतिकता को सापेक्ष बनाती है।

भौतिकवादी अधिकतम सख्या के लिए अधिकतम आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। यह प्रत्यायक प्रतीत होता है और मौलिक रूप से इसका उद्देश्य भी मानवोचित था, किन्तु सच तो यह है कि यह मुख्य प्रश्न से दूर रहता है, जिस आनन्द की इच्छा की गयी है, उसकी परिभाषा नही दी गयी है। हम भौतिकवादियो की तरह यह प्रयास कर सकते हैं कि हम अपना पैर जमाये रखें और वही वस्तु प्राप्त करना चाहे जो हमारे लिए लाभदायक हो, किन्तु हमारे वास्तविक लाभ की कौन-सी वस्तु है ? क्या हम स्वार्थी हो जायें और निर्लज्ज होकर अपने स्वार्थ का प्रदर्शन करें ? कम से कम हम यह बहाना करें कि हम किसी नैतिक सहिता का पालन कर रहे हैं, या अपने पडोसी से प्रेम कर रहे हैं, या यथार्थ रूप से हम उससे प्रेम करे और अपने प्रश्नो से घबडाकर, हम इस कथन की ओर लोट आ सकते हैं कि हम केवल प्रसन्न होना चाहते हैं। किन्तु हम किस प्रकार की प्रसन्नता चाहते है ? क्या हम अपने मन की हरेक बात पूरी करने मे समर्थ होना चाहते हैं, क्या हम यह चाहते हैं कि हमारे पास इतना धन हो कि हमारे मन की जो भी चाह हो वह पूरी हो ? किन्तु अगर हम ऐसा करते हैं तो हम पायेंगे कि हमारी कुछ इच्छाएँ उन कार्यों को करने के लिए प्रेरित करेंगी जिनसे कोई सुख प्राप्त नही होगा और हमारे कुछ कार्य तुच्छ प्रतीत होगे। हमे कुछ और प्रतिमानो की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, हम मित्र चाहते है, एक सुखी पारिवारिक जीवन चाहते हैं। इसके लिए कम से कम आपसी विश्वास चाहिये, और इस दृढ विश्वास के बिना लोगो मे विश्वास उत्पन्न होना शायद ही सम्भव है कि अन्य लोग उन्ही प्रतिमानो के अनुसार कार्य करते हैं, जिनके अनुसार स्वय हम कार्य करते हैं। दूसरे शब्दो मे सद्भाव के निरपेक्ष मूल्य की आवश्यकता का बोध धीरे-धीरे स्वय होता है। केवल उपयोगिता से यह प्रश्न

आसानी से उठता है कि वास्तविक रूप से "कौन सा ऐसा काम है जो करने लायक है ?" अर्थात् वास्तविक रूप से शुभ क्या है—जबकि किसी विशेष साध्य के लिए कोई साधन चुनने की बात न हो, प्रत्युत् विभिन्न साध्यो मे कोई साध्य चुनने की बात हो, जैसे विभिन्न प्रकार के जीवको मे कोई जीवक चुनने की बात हो। किसी को अपने काम मे, केवल इस बात से शायद ही सन्तोष का आश्वासन मिल जाये कि इस काम मे धन कमाने की अधिक सम्भावना है।

निस्सन्देह भौतिकवादी भौतिक सम्पत्तियो पर बल देता है, किन्तु इन्हे प्राप्त करने के लिए, उसे भौतिकवादी दर्शन की मौलिक प्रेरणा को दबाना पडता है—जिसका सम्बन्ध, मनुष्यो की समानता, शोषित वर्ग के लोगो के प्रति प्रेम और प्रत्येक व्यक्ति के लिए न्याय को स्थापना करने की इच्छा से था। पूरब मे अधिनायकतन्त्र और पश्चिम मे अनुरूपवाद के दबाव के कारण, इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि भौतिक उपलब्धियो का सबसे अधिक महत्त्व हो सुख प्राप्त करने के कई तरीको मे केवल इसी तरीके को स्वीकार किया जाता है और भौतिकवादियो की जो शक्ति है, वे इसे लागू करने के लिए करते हैं। यान्त्रिक प्रगति, उत्पादन मे वृद्धि और इनके परिणामस्वरूप, धन मे वृद्धि होने से मनुष्य का दरजा धीरे-धीरे घट गया है। वह केवल रोटी पर ही जीवित नहीं रह सकता। कोई भी व्यक्ति दोनो तरीको से इसे प्राप्त नही कर सकता या तो शुभत्व भौतिक उद्देश्यो से श्रेष्ठ है या मनुष्य की मर्यादा नष्ट हो जाती है।

अन्त में, नैतिकता के सम्बन्ध मे कुछ आदर्शवादी सिद्धान्त है। इनसे इसकी निरपेक्षता पहचानने मे कुछ सहायता मिली है, किन्तु चूंकि वे पूर्ण रूप से सहायता नही करत, अत यह सिद्धान्त भी अनिर्णायिक रह जाते है। आदर्शवादी, सामान्यत तीन पारम्परिक मूल्यो—सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्—को चरम तथ्य के रूप मे स्वीकार करता है। वह इस बात की जाँच-पडताल नहीं करता कि इनका उद्भव कहाँ से हुआ है। धर्म को अस्वीकार करते समय मानवतावाद की स्थापना करने के प्रयासो मे यह एक प्रयास है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए, आदर्शवादी सहज ही यह प्रश्न करते हैं क्या किसी ईसाई की अपेक्षा मानवतावादी प्राय अधिक मर्यादित ढग से व्यवहार नही करता ?—और इसका उत्तर "हाँ" मे ही होना है। किन्तु कुछ लोगो की शक्ति और अन्य लोगो की कमजोरी के सिवा और कुछ क्या सचमुच मे सिद्ध होता है ? अधिक सगत प्रश्न तो यह होगा, जैसाकि ईसाइयो का दावा है कि क्या सचमुच मे मानवतावाद ईसाई

धर्म का परिणाम है ? और अगर ईसाई धर्म समाप्त हो जाये तो यह भी नही रहेगा । न तो यह नाज़ी जर्मनी मे रहा, न साम्यवादी रूप मे, और स्पष्ट रूप से हमारे अपने समाज मे इससे सकट उत्पन्न हो गया है किन्तु चूँकि हम भविष्य के बारे मे नही जानते, अत इतिहास हमे स्पष्ट युक्तियाँ नही दे सकता ।

फिर भी अगर हम अपने अनुभव का परामर्श लें तो हम देखते है कि निरपेक्ष मूल्यो तक रुक जाना हमारे लिए अनुचित क्यो है ? शुभ सार्थक कार्य, कठिन परिस्थितियो मे "मात्र नैतिकता" की अपेक्षा कुछ और की माँग करते हैं—अर्थात् अमूर्त सम्प्रत्ययो पर आधारित नैतिकता से कुछ और अधिक की माँग करते हैं । वे उत्साह, पूर्ण आत्मसमर्पण उत्सर्ग की चाह, सम्भवत अपने जीवन का उत्सर्ग करने की चाह की भी, माँग करते हैं और उनसे एक विशेष प्रकार का आनन्द, परमानन्द प्राप्त होता है । केवल नैतिक नियम के पालन से ही यह सब भावनाएँ नही जग सकती और न उसी रूप मे निरपेक्ष मूल्यो से, प्रत्युत, इनका उद्भव किसी ऐसे गहनतर स्रोत से होना चाहिये जो नैतिक नियम से परे की ओर सकेत करे । नैतिकता का उद्भव प्रेम से होना चाहिये, और कीर्केगार्ड ने युक्तियुक्त रूप से यह दिखला दिया है, जैसाकि हमने देखा है कि किसी पडौसी से प्रेम करने का धर्मादेश, अनुभवातीत सत्ता की अनुभूति की पूर्वकल्पना करना है, चाहे किसी की भावनाएँ कुछ भी हो ।* इस बात की पुष्टि दूसरी बात से होती है, जिनका पहले ही हमने उल्लेख किया है—कि जब विधिसम्मतता के लिए ही नैतिक नियमो का पालन किया जाता है, नैतिकता खतरे मे पड जाती है ।† फ्रान्सीसियो का प्रत्यक्ष उदाहरण है, अपनी धर्मनिष्ठा के कारण उन्होने अधिक से अधिक सूत्रबद्ध किये जिनसे अनैतिक कार्यो पर रोक लग सके, ये नियम कडे नियम मे परिणत हो गये और आप से आप समाप्त हो गये, नैतिकता के सैद्धान्तिक प्रयोग से प्रेम का स्रोत नष्ट हो गया । ईसामसीह की प्रत्यक्ष पापियो की अपेक्षा उनकी, अधिक कटु आलोचना करनी पडी, क्योकि इस प्रकार के पालन से वे अहकारी और निष्ठुर हो गये । यह बर्डेव के शब्दो मे "सद्गुण की असहनीय मन्दता" की ओर भी अग्रसर कर सकता है ।

निरपेक्ष मूल्यो को आत्मनिर्भर बनाने के लिए, आदर्शवादी भी—चेतन रूप से या अचेतन रूप से—नैतिकता को सापेक्ष बनाते हैं, उनके विश्वास इस विश्वास

---

* पृ० ६६ देखिये ।

† पृ० ६३ देखिये ।

पर निर्भर करते हैं कि मनुष्य मूलत अच्छा है और उसकी बुराई कम महत्त्व रखती है। किन्तु सच तो यह है कि मनुष्य मे अच्छी और बुरी सम्भाव्यताएं हैं, और यह निश्चय करना कठिन है कि कौन अधिक सबल है, नैतिकता को चाहिये कि वह दोनो का बोध कराये, जिससे शुभ के लिए सुदृढ आधार ढूढने मे हमे सहायता मिले। सम्भव है कि आदर्शवाद अशुभ की वास्तविकता को कम करके निराशा की ओर अग्रसर हो, क्योकि जब अशुभ की वास्तविक शक्ति आदर्शवादी के सामने उपस्थित होती है, तो उसे यह स्वीकार करना होता है कि मनुष्य की मूलभूत शुभत्व मे विश्वास करना अतर्कसगत है, किन्तु तब किसी ऐसे विश्वास के नष्ट होने से नैतिकता मे विश्वास कमजोर पड जायेगा, जिस पर नैतिकता निर्भर नही करती।

जो सिद्धान्त नैतिकता को सापेक्ष मानते है, वे कैसे विभिन्न निष्कर्षों के लिए गुजाइश छोड जाते है, उसके यह कुछ उदाहरण हैं। पर्यविलोकन को सक्षिप्त होना था, किन्तु मुझे आशा है कि जो मैंने कहा है वह इस बात के लिए पर्याप्त होगा कि हम अब इसका सार प्रस्तुत करें कि यह सभी व्याख्याएँ नैतिकता के साथ न्याय क्यो नही करती ?

जब मनुष्य स्वय का अवलोकन करता है तो अपने भीतर एक नैतिक व्यवस्था के साथ सयोजन से भी अवगत हो जाता है, चाहे वह चाहे या न चाहे। अनुभव मे, नैतिकता न तो स्वेच्छाचारी है न अन्य कारको पर आश्रित, हालाँकि आत्मनिष्ठ रूप से इसका अनुभव किया जाता है, फिर भी यह एक वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध, एक अप्रतिरोध्य व्यवस्था को मानने के लिए हमे बाध्य करती है। यह तथ्य कि नैतिकता से कई समस्याएँ उठती हैं, वस्तुत इसलिये उत्पन्न होता है कि यह निरपेक्ष है, अन्यथा इस पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नही होती। हम अपने अन्त करण को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता निरन्तर क्यो महसूस करते हैं, यह अनुभव इतना तीव्र क्यो होता है कि हमारे द्वारा इसे कम महत्त्व देने और इस पर ध्यान नही देने के बावजूद, यह हमे स्वय को अनुभूत करता है ? अगर यह अनुभव मनुष्य या मनुष्यो पर निर्भर करता तो किसी बाह्य शक्ति के अभाव मे इसकी आसानी से उपेक्षा की जा सकती। किन्तु चूँकि यह एक वस्तुनिष्ठ व्यवस्था की अपेक्षा करता है, अत पसन्द, नापसन्द और प्रथा से भिन्न नैतिक प्रश्नो के सम्बन्ध मे सोद्देश्य विचार विमर्श किया जा सकता है। हालाँकि विभिन्न स्थितियो मे नैतिक नियम को लागू करना व्याघातपूर्ण है और इससे हम विभिन्न निर्णयो पर पहुँचते हैं—यह एक ऐसी कठिनाई है जिसके

सम्बन्ध मे हम अभी विचार करेंगे, फिर भी हम यह महसूस करते हैं कि नैतिक व्याघात दूर हो जायेंगे।

वस्तुनिष्ठ व्यवस्था की अभिव्यक्ति होने के कारण नैतिक "कर्त्तव्य" की अनुभूति निरुपाधिक रूप मे होती है। इसे अन्य दावो की तरह सोपाधिक रूप मे सूत्रवद्ध नही किया जा सकता, जैसे, "अगर तुम वायलिन अच्छा बजाना चाहते हो तो तुम्हे प्रत्येक दिन इसका अभ्यास करना चाहिये।" इसमे "अगर" का कोई स्थान नही, इस प्रकार की मोहक उपाधि प्रस्तुत करने के सभी प्रयासो ने–जो प्राय इस जीवन मे या अगले जीवन मे, आशाजनक पुरस्कार या दण्ड का रूप ले लेते हैं–नैतिकता को नुकसान पहुँचाया है, क्योकि इन्होने सापेक्षता का मार्गप्रशस्त किया है। यह प्रश्न भी "मुझे नैतिक क्यो होना चाहिये ?" पहले से ही अनैतिक है, क्योकि यह एक ऐसे दावे के लिए अनुरोध है जो नैतिकता की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है।

जिस सत्ता से नैतिक धर्मादेश उद्भूत होते हैं, वह अनादि और निरुपाधिक भी है। अगर इसकी पूण रूप से अनुभूति होती है, तो यह समस्त आयोजित तथा इच्छित साध्यो को अभिभूत कर सकती है, यह किसी के स्वहित के विरुद्ध, उस परिवार या राजनीतिक सत्ता की माँगो के विरुद्ध जिसके समक्ष हमे प्रतीयमानत झुकना पडता है, कार्य कर सकती है। एच० एच० फार्मर ने नैतिक माँग को अपरिहार्य दावे[1] की सज्ञा दी है। यह कोई आदेश नही है, प्रत्युत् एक दावा है, क्योकि हम इसे अस्वीकार कर सकते है और अन्तर्विवेक की आवाज को दबाने का प्रयत्न कर सकते हैं, अगर हम अधिक समय तक अन्तर्विवेक की अवहेलना करें तो हम इसकी शक्ति को काफी कम भी कर सकते हैं। फिर भी दावा अपरिहार्य है। एक बार जब यह पूरी तरह से समझ मे आ गया तो हम इससे बच नही सकते, चाहे हम इसकी अवहेलना या इसे अस्वीकार करने का कितना ही प्रयास क्यो न करें। हम जानते है कि हमे इसका पालन करना चाहिये। किसी अन्य सत्ता के सकेत के बिना इसकी अनुभूति होती है, दावे की सत्ता अनादि है। यह स्वय माँग की निजी अनुभूति पर आधारित है–जैसा कि हमने "तुम"* की चर्चा करते समय देखा है।

साथ ही, माँग की निरपेक्षता का साक्ष्य इस तथ्य से प्राप्त होता है कि कोई भी स्थिति, जिसमे हम अपने को पाते हैं, अगर नैतिकता की दृष्टि से देखी जाये तो पूर्ण रूप से बदल जाती है, यह एक नया अर्थ प्राप्त कर लेती है। हम अनुभव करते है कि हमारे सामने केवल व्यावहारिक विचार ही नही है और

---

* देखिये पृष्ठ ६४-६।

अवसरवादिता से हमारा काम नही चलेगा, उत्तरदायित्व का भाव सबसे प्रबल होता है। इसका कारण यह है कि नैतिक रूप से जिस स्थिति की अनुभूति होती है, वह स्वतन्त्रता की अनुभूति हो जाती है। चूँकि नैतिक माँग निरुपाधिक है, अत इसका अर्थ यह होता है कि मुझे जो करना चाहिये उसे मैं वास्तविक रूप से करने मे समर्थ हूँ, और चूँकि मैं इस योग्यता की अनुभूति सचमुच मे कर सकता हूँ, अत अब आगे मैं अपने उत्तरदायित्व को छोटा नही समझ सकता। अगर नैतिक माँग निरुपाधिक नही होती तो इसका सम्बन्ध 'अगर" और प्रतिबन्धो से जोडना होता। यह सत्य है कि वाह्य और आभ्यन्तर वाध्यताएँ प्राय इतनी सबल होती है कि मुझे उस काम को करने से रोकती है जो मुझे करना चाहिये। फिर भी, निरपेक्ष माँग न्यायोचित है, हालाँकि मुझे कोई काम करने से रोका जा सकता है, जैसे, जेल मे बन्द कर दिया जा सकता है या शारीरिक रूप से पगु बना दिया जा सकता है, लेकिन अगर मैं अन्तिम खतरा मोल लेने के लिए तैयार हूँ अर्थात् अपने जीवन का उत्सर्ग करने के लिए तैयार हूँ तो कोई भी मुझे उस काम को करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता, जिसे मैं नही करना चाहता। सुकरात पर वाध्यता का जोर नही चला, क्योकि उसने झुकने की अपेक्षा मरना अच्छा समझा।

आज कोई सम्भवत इस विश्वास पर आपत्तियाँ उठा सकता है और कुछ समय पहले इसकी कल्पना भी नही की जा सकती थी कि नयी दवाइयाँ और शल्योपचार मनोवैज्ञानिक अनुकूलन हैं, जो मनुष्य के स्वभाव को बदल सकते हैं और उसे उस काम को करने के लिए बाध्य कर सकते हैं, जिसे वह नही करना चाहता है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि बाह्य बाध्यता के सामने अपनी स्वतन्त्रता का दावा करने की कोई सम्भावना समाप्त हो गयी है। फिर भी सच तो यह है कि इस प्रकार की नवीन सम्भावना से इस युक्ति को और अधिक बल मिलता है अर्थात् अगर कोई परिस्थिति नैतिकता के प्रकाश में देखी जाये तो स्वतन्त्रता की अनुभूति होकर अधिक गम्भीरता प्राप्त होती है। इसके दो कारण है, पहला, अगर इन सामर्थ्यों को हम व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखें तो इनके निहितार्थों की पूर्ण रूप से सराहना नही की जायेगी और उनका दुरुपयोग होगा, जैसाकि उनमे से कुछ का नाजी जर्मनी मे हुआ, इस नवीन परिस्थिति को समझने के लिए, हमे यह मानना है कि एक गम्भीर नैतिक समस्या, एक महान् उत्तरदायित्व का प्रतिनिधित्व करती है। हमारे सामने इसके सिवा कोई विकल्प नही रह जाता कि निरपेक्ष नैतिकता पर विचार करें, क्योकि सापेक्ष नैतिकता

ऐसे व्यवहारो के प्रयोग के कुछ मामलो की रक्षा करने की हमे हमेशा अनुमति देगी, जिससे हम अपरिहार्य रूप से उन मर्यादाओ को दूषित करने की ओर बढेंगे जो कम बुराई के रूप मे रक्षणीय होगी। दूसरा, अगर हम यह समझते है कि हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा मृत्यु का वरण करके कर सकते है तो हमारे सामने मृत्यु का प्रश्न चला आता है, जिसका अर्थ होता है व्यक्तित्व का इतना पूर्ण परिवर्तन कि व्यक्ति के रूप मे हम जीवित ही नही रहते। इसके अतिरिक्त कोई भी प्रेक्षक इस बात का मर्मस्पर्शी रूप से अनुभव करेगा कि प्रत्येक वस्तु को जो "मानव" कहलाने योग्य है, नष्ट होने का खतरा है।

उन सभी सिद्धान्तो की असफलता से भी इस बात का पता चलता है कि नैतिकता के साथ कोई धार्मिक मत, न्याय क्यो नही कर सकता, जो नैतिकता को सापेक्ष मानते हैं। लेकिन 'धर्म" शब्द को इसी सन्दर्भ मे समझना है जैसाकि कीर्केगार्ड के अस्तित्ववाद मे है, सैद्धान्तिक कथनो और नैतिक नियमो की प्रणाली के रूप मे नही, प्रत्युत जिस सत्ता की हम अनुभूति करते है उसके यथार्थवादी वर्णन के रूप मे।

नैतिकता मे एक तत्त्वमीमासीय दृष्टिकोण की अपेक्षा होती है मनुष्य को स्वतन्त्र होना चाहिये, उसके वैयक्तिक कार्य महत्त्व रखते हैं। किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त मे मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए कभी स्थान नही रहा है, और न यह दिखला सकता है कि उसके कार्य चाहे बाह्य रूप से यह कितने भी नगण्य क्यो न हो, महत्त्व रखते हैं—अर्थात् "निरपेक्ष सत्ता के साथ उसके निरपेक्ष सम्बन्ध" के बारे मे सक्षिप्त सा प्रकाश डालते हैं। फिर भी किसी भी दृष्टिकोण से यह स्पष्ट करना कठिन है कि नगण्य व्यक्तियो के नगण्य कार्य कुछ अधिक सार्थक हैं और न, जैसाकि हम देख चुके हैं, नैतिकता ही अब अलग रहकर वहाँ तब तक पहुँचने मे समर्थ है, जब तक कि यह अपने मे पाप* की अवधारणा शामिल न कर ले। अगर अस्पष्ट रूप मे भी इसकी अनुभूति की जाये, फिर भी नैतिकता अपने से परे की ओर इगित करती है।

नैतिकता भी एक ऐसे आवेग की अपेक्षा रखती है, जो मानवीय प्रकृति से परे की किसी वस्तु से उद्भूत हो। निरपेक्ष मूल्यो का कोई आधार होना चाहिये, उनका अद्भव कही से होना चाहिये और यह "कही" प्रकृति और मनुष्य की [illegible]ेक्षा अधिक महान् होना चाहिये क्योकि उनकी व्याख्या करने के लिए यह [illegible] नही है, वे अनुभवातीत स्रोत से प्रभाव प्रकट करते हैं। उत्तरदायित्व

*[illegible]ए पृष्ठ ६१-२

अवसरवादिता से हमारा काम नही चलेगा, उत्तरदायित्व का भाव सबसे प्रबल होता है। इसका कारण यह है कि नैतिक रूप से जिस स्थिति की अनुभूति होती है, वह स्वतन्त्रता की अनुभूति हो जाती है। चूँकि नैतिक माँग निरुपाधिक है, अत इसका अर्थ यह होता है कि मुझे जो करना चाहिये उसे मै वास्तविक रूप से करने मे समर्थ हूँ, और चूँकि मैं इस योग्यता की अनुभूति सचमुच मे कर सकता हूँ, अत अब आगे मैं अपने उत्तरदायित्व को छोटा नही समझ सकता। अगर नैतिक माँग निरुपाधिक नही होती तो इसका सम्बन्ध 'अगर" और प्रतिबन्धो से जोडना होता। यह सत्य है कि बाह्य और आभ्यन्तर बाध्यताएँ प्राय इतनी सबल होती है कि मुझे उस काम को करने से रोकती हैं जो मुझे करना चाहिये। फिर भी, निरपेक्ष माँग न्यायोचित है, हालाँकि मुझे कोई काम करने से रोका जा सकता है, जैसे, जेल मे बन्द कर दिया जा सकता है या शारीरिक रूप से पगु बना दिया जा सकता है, लेकिन अगर मैं अन्तिम खतरा मोल लेने के लिए तैयार हूँ अर्थात् अपने जीवन का उत्सर्ग करने के लिए तैयार हूँ तो कोई भी मुझे उस काम को करने के लिए बाध्य नही कर सकता, जिसे मैं नही करना चाहता। सुकरात पर बाध्यता का जोर नही चला, क्योकि उसने झुकने की अपेक्षा मरना अच्छा समझा।

आज कोई सम्भवत इस विश्वास पर आपत्तियाँ उठा सकता है और कुछ समय पहले इसकी कल्पना भी नही की जा सकती थी कि नयी दवाइयाँ और शल्योपचार मनोवैज्ञानिक अनुकूलन हैं, जो मनुष्य के स्वभाव को बदल सकते हैं और उसे उस काम को करने के लिए बाध्य कर सकते हैं, जिसे वह नही करना चाहता है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि बाह्य बाध्यता के सामने अपनी स्वतन्त्रता का दावा करने की कोई सम्भावना समाप्त हो गयी है। फिर भी सच तो यह है कि इस प्रकार की नवीन सम्भावना से इस युक्ति को और अधिक बल मिलता है अर्थात् अगर कोई परिस्थिति नैतिकता के प्रकाश में देखी जाये तो स्वतन्त्रता की अनुभूति होकर अधिक गम्भीरता प्राप्त होती है। इसके दो कारण है, पहला, अगर इन सामर्थ्यो को हम व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखें तो इनके निहितार्थो की पूर्ण रूप से सराहना नही की जायेगी और उनका दुरुपयोग होगा, जैसाकि उनमे से कुछ का नाज़ी जर्मनी मे हुआ, इस नवीन परिस्थिति को समझने के लिए, हमे यह मानना है कि एक गम्भीर नैतिक समस्या, एक महान् उत्तरदायित्व का प्रतिनिधित्व करती है। हमारे सामने इसके सिवा कोई विकल्प नही रह जाता कि निरपेक्ष नैतिकता पर विचार करें, क्योकि सापेक्ष नैतिकता

ऐसे व्यवहारो के प्रयोग के कुछ मामलो की रक्षा करने की हमें हमेशा अनुमति देगी, जिससे हम अपरिहार्य रूप से उन मर्यादाओ को दूषित करने की ओर बढ़ेंगे जो कम बुराई के रूप मे रक्षणीय होगी। दूसरा, अगर हम यह समझते है कि हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा मृत्यु का वरण करके कर सकते है तो हमारे सामने मृत्यु का प्रश्न चला आता है, जिसका अर्थ होता है व्यक्तित्व का इतना पूर्ण परिवतन कि व्यक्ति के रूप मे हम जीवित ही नही रहते। इसके अतिरिक्त कोई भी प्रेक्षक इस बात का मर्मस्पर्शी रूप से अनुभव करेगा कि प्रत्येक वस्तु को जो "मानव" कहलाने योग्य है, नष्ट होने का खतरा है।

उन सभी सिद्धान्तो की असफलता से भी इस बात का पता चलता है कि नैतिकता के साथ कोई धार्मिक मत, न्याय क्यो नही कर सकता, जो नैतिकता को सापेक्ष मानते हैं। लेकिन 'धर्म" शब्द को इसी सन्दर्भ मे समझना है जैसाकि कीर्केगार्ड के अस्तित्ववाद मे है, सैद्धान्तिक कथनो और नैतिक नियमो की प्रणाली के रूप मे नही, प्रत्युत जिस सत्ता की हम अनुभूति करते हैं उसके यथार्थवादी वर्णन के रूप मे।

नैतिकता मे एक तत्त्वमीमासीय दृष्टिकोण की अपेक्षा होती है मनुष्य को स्वतन्त्र होना चाहिये, उसके वैयक्तिक कार्य महत्त्व रखते हैं। किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त मे मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए कभी स्थान नही रहा है, और न यह दिखला सकता है कि उसके कार्य चाहे बाह्य रूप से यह कितने भी नगण्य क्यो न हो, महत्त्व रखते हैं—अर्थात् "निरपेक्ष सत्ता के साथ उसके निरपेक्ष सम्बन्ध" के बारे मे सक्षिप्त मा प्रकाश डालते हैं। फिर भी किसी भी दृष्टिकोण से यह स्पष्ट करना कठिन है कि नगण्य व्यक्तियो के नगण्य कार्य कुछ अधिक सार्थक हैं और न, जैसाकि हम देख चुके हैं, नैतिकता ही अब अलग रहकर वहाँ तब तक पहुँचने मे समर्थ है, जब तक कि यह अपने मे पाप* की अवधारणा शामिल न कर ले। अगर अस्पष्ट रूप मे भी इसकी अनुभूति की जाये, फिर भी नैतिकता अपने से परे की ओर इगित करती है।

नैतिकता भी एक ऐसे आवेग की अपेक्षा रखती है, जो मानवीय प्रकृति से परे की किसी वस्तु से उद्भूत हो। निरपेक्ष मूल्यो का कोई आधार होना चाहिये, उनका अद्भव कही से होना चाहिये और यह "कही" प्रकृति और मनुष्य की अपेक्षा अधिक महान् होना चाहिये क्योकि उनकी व्याख्या करने के लिए यह पर्याप्त नही है, वे अनुभवातीत स्रोत से प्रभाव प्रकट करते हैं। उत्तरदायित्व

के स्वरूप से इसकी पुष्टि हो गयी है, जिसके बारे मे हम विचार कर चुके हैं, यह केवल "के लिए उत्तरदायित्व" नही हो सकता, प्रत्युत "के प्रति उत्तरदायित्व" भी होना चाहिये, और यथार्थ रूप मे यह सार्थक तभी होता है जब यह मनुष्य से महत्तर किसी वस्तु के प्रति उत्तरदायित्व होता है।* अत यह हमे पार्थिव जगत् से परे ले जाता है। नीति-शास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण रूप मे इसी जगत् से नही है।

नैतिकता के इन पक्षो को ध्यान मे रखने से, धर्म नैतिक मूल्यो को वस्तुनिष्ठता प्रदान करता है। चूंकि यह मूल्य वैयक्तिक हैं और यथार्थ होने के लिए यह वैयक्तिक सहभागिता की माँग करते हैं हमे हमेशा यह आशका होती है कि वे "केवल आत्मनिष्ठ"—सन्देहास्पद, अर्थात्, अथवा अनुचित हैं। यह इस बात के लिए अतिरिक्त कारण प्रस्तुत करता है कि धर्म वाछनीय है, यद्यपि जैसाकि हमने कहा है, इसे स्वीकार करने का यह पर्याप्त कारण नही है। फिर भी, चूँकि नैतिकता के यह पक्ष हमारी वास्तविक अनुभूति के पक्ष हैं, अत इनकी वाछनीयता स्वीकार करने की एक दूसरी कसौटी भी है और वह है नैतिकता मे उस वस्तुनिष्ठ व्यवस्था का स्थान होना, जिसकी अभिव्यक्ति धर्म होती है।† धर्म और नैतिकता मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

नैतिकता के इस वैयक्तिक गुण मे इस अन्योन्याश्रय की जड जमी है। हम नैतिकता का अनुभव, इस रूप मे नही करते कि यह अवैयक्तिक नियम की माँग है, बल्कि वैयक्तिक निष्ठा की भावना मे करते हैं, चूँकि नैतिक धर्मादेश मुझे सम्बोधित करता है, अत यह एक वैयक्तिक आवन्ध है, और सम्भवत इसकी तीव्र अनुभूति तब होती है, जब इसका पालन नही किया जाता। हमे कई बार इस बात पर बल देना पडा है कि नियमो के लिए ही उनका पालन करने का तर्क अपर्याप्त है। जो कार्य उचित है, उसे ही करने की आवश्यकता नही है, प्रत्युत् हमे उसे उचित अभिप्रेरणा से भी करना चाहिये, टी० एस० इलियट के शब्दो मे

> दि लास्ट टेम्पटेशन इज दि ग्रेटेस्ट ट्रेजन
> टु डू दि राइट डीड फॉर दि रोग रीज़न।

---

* पृष्ठ ८६-७ देखिये।

† पृष्ठ ६०-१ देखिये।

लेकिन हम अपनी अभिप्रेरणा ही पहचान सकते हैं, दूसरो की अभिप्रेरणा के बारे मे कहने का हमेशा ढोग रचा जा सकता है। (हम अपने वारे मे भी ढोग रच सकते है, किन्तु इस स्थिति मे नैतिकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है) हमे अपने हितो के विरुद्ध भी गलत धारणा को समाप्त करने के लिए तैयार रहना चाहिये। इस श्रमसाध्य सत्यवादिता का केवल बोध हो सकता है क्योकि व्यक्ति के रूप मे हमारा सामना उस सत्ता से होता है जो धर्म मे वस्तुनिष्ठ हो जाता है।

यह सत्य है कि उनसे जो नैतिक व्याघात और सघर्ष उत्पन्न होगे उनका परिहार हम नही कर सकते। नैतिक नियमो का विनियोग विभिन्न परिस्थितियो मे करना है और यह आवश्यक नही कि इसका विनियोग सभी अवसरो पर स्पष्ट हो। इसका विस्तार इस रूप मे नही हो सकता कि यह प्रत्येक परिस्थिति को ध्यान मे रखे, क्योकि इससे हमारी वैयक्तिक सहभागिता का बहिष्कार होगा। वैयक्तिक निर्णय के लिए अनिश्चय का कुछ स्थान होना चाहिये, नैतिक निर्णय हमारा अपना निर्णय होना चाहिये, जिससे हम इस बात का निश्चय कर सकें कि सही कारण के लिए हम सही कार्य करते है। इस प्रकार हम परस्पर विरोधी निष्ठाओ या कर्त्तव्यो का अनुभव कर सकते हैं, इस प्रकार का विरोध जैसे हमारे परिवार के प्रति हमारे आबन्धो, जिनमे थोडी बहुत स्वार्थपरता की आवश्यकता होती है, और हमारे पडौसी के प्रति हमारे आबन्धो के बीच, जिनमे काफी नि स्वार्थता की आवश्यकता होती है, या अपने देश को बचाने के लिए अप्रतिरोध्य कर्त्तव्य और इस निरपेक्ष आदेश के वीच विरोध – "तुम हत्या नही करो।" लेकिन जब कभी हम इस प्रकार के किसी गम्भीर विरोध का अनुभव करते हैं – जैसे, जब कभी सच्चे रूप से दशभक्ति और शान्तिवाद के सम्भावित औचित्यो का विरोध करते हैं—हम उस सत्ता के अस्तित्व का भी अनुभव करते हैं, जिसके सम्बन्ध मे धर्म विचार करने का दावा करते हैं। अन्यथा हमे इस प्रकार के विरोधो मे इतनी तीव्र अनुभूति क्यो होती, हम या तो झुक जाते या सबसे आसान रास्ता ढूंढ लेते ? अवसरवाद के परोक्ष मे जो प्रभाव है, वे हमसे अधिक शक्तिशाली प्रतीत होते हैं, और फिर भी हम उचित निर्णय पर पहुँचने के लिए भीषण सघर्ष करते हैं, चाहे अन्त मे हमारा निर्णय अधिकाश लोगो का ही निर्णय क्यो न हो। नैतिकता के अन्दर जो विरोध है, उनका परिहार नही किया जा सकता और हम इस बात की प्रत्याशा कर सकते हैं कि

के स्वरूप से इसकी पुष्टि हो गयी है, जिसके बारे मे हम विचार कर चुके हैं, यह केवल "के लिए उत्तरदायित्व" नही हो सकता, प्रत्युत "के प्रति उत्तरदायित्व" *भी होना चाहिये, और यथार्थ रूप मे यह सार्थक तभी होता है जब यह मनुष्य* से महत्तर किसी वस्तु के प्रति उत्तरदायित्व होता है।* अत यह हमे पार्थिव जगत् से परे ले जाता है। नीति-शास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण रूप मे इसी जगत् से नही है।

नैतिकता के इन पक्षो को ध्यान मे रखने से, धर्म नैतिक मूल्यो को वस्तु-निष्ठता प्रदान करता है। चूँकि यह मूल्य वैयक्तिक है और यथार्थ होने के लिए यह वैयक्तिक सहभागिता की माँग करते है हमे हमेशा यह आशका होती है कि वे "केवल आत्मनिष्ठ"—सन्देहास्पद, अर्थात्, अथवा अनुचित हैं। यह इस बात के लिए अतिरिक्त कारण प्रस्तुत करता है कि धर्म वाछनीय है, यद्यपि जैसाकि हमने कहा है, इसे स्वीकार करने का यह पर्याप्त कारण नही है। फिर भी, चूँकि नैतिकता के यह पक्ष हमारी वास्तविक अनुभूति के पक्ष हैं, अत इनकी वाछनीयता स्वीकार करने की एक दूसरी कसौटी भी है और वह है नैतिकता मे उस वस्तु-निष्ठ व्यवस्था का स्थान होना, जिसकी अभिव्यक्ति धर्म होती है।† धर्म और नैतिकता मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

नैतिकता के इस वैयक्तिक गुण मे इस अन्योन्याश्रय की जड जमी है। हम नैतिकता का अनुभव, इस रूप मे नही करते कि यह अवैयक्तिक नियम की माँग है, बल्कि वैयक्तिक निष्ठा की भावना मे करते हैं, चूँकि नैतिक धर्मादेश मुझे सम्बोधित करता है, अत यह एक वैयक्तिक आबन्ध है, और सम्भवत इसकी तीव्र अनुभूति तब होती है, जब इसका पालन नही किया जाता। हमे कई बार इस बात पर बल देना पडा है कि नियमो के लिए ही उनका पालन करने का तर्क अपर्याप्त है। जो कार्य उचित है, उसे ही करने की आवश्यकता नही है, प्रत्युत् हमे उसे उचित अभिप्रेरणा से भी करना चाहिये, टी० एस० इलियट के शब्दो मे

> दि लास्ट टेम्पटेशन इज़ दि ग्रेटेस्ट ट्रेजन
> टु डू दि राइट डीड फॉर दि रोग रीज़न।

---

* पृष्ठ ८६-७ देखिये।

† पृष्ठ ६०-१ देखिये।

लेकिन हम अपनी अभिप्रेरणा ही पहचान सकते हैं, दूसरो की अभिप्रेरणा के बारे मे कहने का हमेशा ढोग रचा जा सकता है। (हम अपने वारे मे भी ढोग रच सकते है, किन्तु इस स्थिति मे नैतिकता से हमारा सम्वन्ध टूट जाता है) हमे अपने हितो के विरुद्ध भी गलत धारणा को समाप्त करने के लिए तैयार रहना चाहिये। इस श्रमसाध्य सत्यवादिता का केवल बोध हो सकता है क्योकि व्यक्ति के रूप मे हमारा सामना उस सत्ता से होता है जो धर्म मे वस्तुनिष्ठ हो जाता है।

यह सत्य है कि उनसे जो नैतिक व्याघात और सघर्प उत्पन्न होगे उनका परिहार हम नही कर सकते। नैतिक नियमो का विनियोग विभिन्न परिस्थितियो मे करना है और यह आवश्यक नही कि इसका विनियोग सभी अवसरो पर स्पष्ट हो। इसका विस्तार इस रूप मे नही हो सकता कि यह प्रत्येक परिस्थिति को ध्यान मे रखे, क्योकि इससे हमारी वैयक्तिक सहभागिता का वहिष्कार होगा। वैयक्तिक निर्णय के लिए अनिश्चय का कुछ स्थान होना चाहिये, नैतिक निर्णय हमारा अपना निर्णय होना चाहिये, जिससे हम इस बात का निश्चय कर सकें कि सही कारण के लिए हम सही कार्य करते हैं। इस प्रकार हम परस्पर विरोधी निष्ठाओ या कर्त्तव्यो का अनुभव कर सकते हैं, इस प्रकार का विरोध जैसे हमारे परिवार के प्रति हमारे आवन्धो, जिनमे थोडी वहुत स्वार्थपरता की आवश्यकता होती है, और हमारे पडौसी के प्रति हमारे आवन्धो के बीच, जिनमे काफी नि स्वार्थता की आवश्यकता होती है, या अपने देश को वचाने के लिए अप्रतिरोध्य कर्त्तव्य और इस निरपेक्ष आदेश के बीच विरोध – "तुम हत्या नही करो।" लेकिन जव कभी हम इस प्रकार के किसी गम्भीर विरोध का अनुभव करते हैं – जैसे, जव कभी सच्चे रूप से दशभक्ति और शान्तिवाद के सम्भावित औचित्यो का विरोध करते हैं—हम उस सत्ता के अस्तित्व का भी अनुभव करते है, जिसके सम्बन्ध मे धर्म विचार करने का दावा करते है। अन्यथा हमे इस प्रकार के विरोधो मे इतनी तीव्र अनुभूति क्यो होती, हम या तो झुक जाते या सवसे आसान रास्ता ढूंढ लेते ? अवसरवाद के परोक्ष मे जो प्रभाव है, वे हमसे अधिक शक्तिशाली प्रतीत होते हैं, और फिर भी हम उचित निर्णय पर पहुँचने के लिए भीपण सघर्ष करते हैं, चाहे अन्त मे हमारा निर्णय अधिकाश लोगो का ही निर्णय क्यो न हो। नैतिकता के अन्दर जो विरोध है, उनका परिहार नही किया जा सकता और हम इस बात की प्रत्याशा कर सकते हैं कि

यह तथ्य नैतिकता और धर्म दोनो को अमान्य करने के लिए पर्याप्त है, लेकिन इसके स्थान पर ऐसे विरोधो से उनकी शक्ति प्रकट होती है।

नैतिकता और धर्म के घनिष्ठ सम्बन्ध की समालोचना एक भिन्न दृष्टिकोण से भी की जा सकती है। एक ओर तो नीतिशास्त्र, अर्थात् केवल नैतिकता का खतरा है, नियमों का अनुसरण करने के लिए नियमो का अनुसरण करना। अगर यह किया जाता है तो विशुद्ध निषेधात्मक धर्मादेश जैसे 'तुम हत्या नही करोगे" — भावात्मक धर्मादेशो की अपेक्षा जैसे "तुम प्यार करोगे" अधिक प्रमुख हो जाते हैं, क्योकि हम उन कार्यों के सम्बन्ध मे सुस्पष्ट रूप से कह सकते हैं जो हमेशा नियम के विरुद्ध होते हैं जबकि भावात्मक धर्मादेश इस प्रकार से निश्चित रूप से अभिव्यक्त नही किये जा सकते क्योकि उन्हे निजी निर्णयो के लिए स्थान छोडना चाहिये। लेकिन इस प्रकार की नैतिकता, निषेधो का एक मृत सग्रह हो जाती है। अगर नैतिकता को जीवन प्रदान करना है तो इसे उस अनुभवातीत जगत् की पूर्णता की आवश्यकता पडती है जिससे इसकी उत्पत्ति होती है। दूसरी ओर धर्म का खतरा यह है कि यह तत्त्वमीमासीय ध्यान मे परिणत हो जाता है, जिसमे सबल मानवीय कल्पनाओ या अमूर्त ईश्वरपरक चिन्तन का प्रमुख स्थान होता है, और इस प्रकार मनुष्य के जीवन से इसका सम्बन्ध टूट जाता है निर्मल और जीवित रहने के लिए नैतिकता और धर्म एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। जॉन ओमैन ने इन पक्तियो मे उनके यथार्थ को बडे ही सुन्दर ढग से व्यक्त किया है, "अगर नैतिकता के बिना धर्म मे धरातल का अभाव है तो धर्म के बिना नैतिकता मे उस विस्तृत स्वर्ग का अभाव है जहाँ वह श्वास ले सकता है।"[१] नैतिकता के बिना धर्म को सदा जीवन से विमुख होने तथा अनुचित अभिकथनो का शिकार बनने का खतरा बना रहता है, धर्म के बिना नैतिकता को अनम्यता मे या यहाँ तक कि निर्ममता मे विकृत होने का सदा खतरा रहता है। उनके यथार्थ सम्बन्ध को बार-बार विकृत किया गया है किन्तु यह इतना सबल है कि इसे बार-बार जीर्णोद्धार भी किया गया है।

नैतिकता पर विचार-विमर्श करते समय हमने कहा है कि हम भौतिक या वैज्ञानिक प्रमाणो पर भरोसा नही रख सकते, फिर भी अगर हम अनुभव को प्रमाण के रूप मे स्वीकार करें, जैसाकि हमे करना चाहिए क्योकि अनुभव से ही नैतिकता बोधगम्य बनती है, तो निरपेक्ष नैतिकता मे विश्वास करना ही तथ्यो के अनुकूल है।

* * *

६ :

कीर्केगार्ड और अस्तित्ववाद

अस्तित्ववादी दार्शनिक मनुष्य को इस रूप मे समझने का प्रयास करता है, ैसाकि वह वास्तविक रूप मे है, जैसाकि अपनी विशिष्ट, ऐतिहासिक स्थिति मे वह स्वय का अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त उनमे से कुछ ऐसे अस्तित्ववादी जो अतिवादी नही है—जो मेरे विचार मे सबसे अच्छे हैं—और कुछ दार्शनिक जो अस्तित्ववाद से प्रभावित हैं, मानवीय सम्बन्धो पर विचार करते हैं और मनुष्यो मे मनुष्य को रखकर उसे देखते हैं, उनसे पृथक् करके नही। हाल के दर्शन के विकास मे ये प्रयास सम्भवत सबसे अधिक आशाजनक लक्षण है। यह सत्य है कि प्राचीन तत्त्वमीमासीय प्रणालियो मे भी व्यक्ति प्रधान था, किन्तु अमूर्त सत्ता के रूप मे, उसका अर्थात् मानवीय मन का एक सामान्य विचार था जो विश्व का सामना करते हुए पाया गया। इसके स्थान पर, अव हम अपने को और अपनी समस्याओ को प्रमुख स्थान पर पाते है, जो हमे अपने जीवन मे परेशान करती हैं।

इस वल का स्थान बदलने मे "आत्मनिष्ठ विधि" की प्रयुक्ति की आवश्यकता होती है। इस प्रकार जो कठिनाई उत्पन्न होती है वह "आत्मनिष्ठ" शब्द की अस्पष्टता से निर्दिष्ट होती है। जबकि "वस्तुनिष्ठ" शब्द का प्रयोग आगे विना किसी व्याख्या के किया जा सकता है, "आत्मनिष्ठ" शब्द का अर्थ अक्सर "पूर्वाग्रह

से ग्रसित, झुठलाया हुआ" समझा जाता है या कभी तो यह अभिलाषानुसारी विचार पर्याय माना जाता है। किन्तु विशेष रूप से जब हम "आत्मनिष्ठ विधि" के सम्बन्ध मे चर्चा करते है तो इसका अर्थ केवल एक विशेष उपागम से होना चाहिये जो वस्तुनिष्ठ विधि के समान प्रामाणिक हो और इसका प्रयोग वहाँ किया जाना चाहिये जहाँ वस्तुनिष्ठता अपर्याप्त है—अर्थात् कोई भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए जहाँ वैयक्तिक सहभागिता की आवश्यकता हो। हमने देखा है कि जब हम वैयक्तिक अनुभूतियो, नैतिकता तथा मूल्यो की आस्था के सम्बन्ध मे विचार करते हैं तो यही बात होती है। अत इसका अर्थ यह होता है कि आत्मनिष्ठ विधि अपने ढग से उतनी ही विश्वसनीय होनी चाहिये जितनी कि वस्तुनिष्ठ विधि—जैसाकि वैज्ञानिक विधि—वास्तविक रूप से है। किन्तु क्या 'आत्मनिष्ठ विधि" और "विश्वसनीय विधि" का सयोग 'वदतोव्याघात' प्रतीत नही होता ?

इस प्रकार विश्वसनीयता प्राप्त करना कठिन है, क्योकि एक बार जब हम अपनी अनुभूति से प्राप्त प्रमाण को स्वीकार कर लेते है तो पक्षपात और पूर्वाग्रह आसानी से घुस आ सकते हैं और इनसे उचित भेद-बोध होना कठिन हो जाता है क्योकि इस विधि की शताब्दियो से उपेक्षा की गयी है। अस्तित्ववाद का प्रारम्भिक पूर्ववर्त्ती पास्कल ने तीन सौ वर्ष पहले ही यह महसूस कर लिया था कि वह किसी चेतन प्रयास के बिना इस प्रकार की स्पष्टता प्राप्त नही कर सकता। ज्योही वह यह कहता है कि "हृदय के अपने तर्क हैं जिनके बारे मे तर्कबुद्धि नही जानती," वह यह भी स्वीकार करता है कि "मनुष्य प्राय अपनी कल्पना को हृदय समझता है।" उसे हमेशा इस बात का भय होता है कि हृदय का स्थान कल्पना न ले ले, क्योकि "हृदय अपूर्ण है।" किन्तु उसे इस बात का कभी सन्देह नही होता कि "हम न केवल तर्कबुद्धि से सत्य को जानते है, प्रत्युत हृदय से भी जानते हैं, और इसी हृदय से हमे प्रथम सिद्धान्तो का ज्ञान होता है, और तर्कबुद्धि, जिसका इसमे कोई स्थान नही होता, व्यर्थ मे उनका प्रतिवाद करने का प्रयास करती है।"[1] अपनी मुख्य कृति समाप्त करने के पहले उसकी मृत्यु हो गयी और इस प्रकार वह एक उपयुक्त विधि कार्यान्वित करने मे असमर्थ रहा। यह कार्य कीर्केगार्ड पर छोड दिया गया जो केवल यह नही दिखलाता—जैसाकि हमने चौथे अध्याय मे देखा है—कि कितने लाभदायक रूप से इस विधि का प्रयोग किया जा सकता है, प्रत्युत वह इसकी कुछ मुख्य विशेषताओ को भी दिखलाता है और इस प्रकार वह हमे इसका सही प्रयोग करने मे सहायता प्रदान करता है।

वह ज्ञान और आस्था के भेद से आरम्भ करता है—इस सन्दर्भ में (और हमेशा इस अध्याय मे) ज्ञान का अर्थ उस ज्ञान मे है जो चिन्तन के ज्ञात प्रयास से प्राप्त होता है। उसकी स्थिति यह है कि प्रत्येक ऐसी वस्तु मे विश्वास करना असम्भव है, जिसके बारे मे हम जान सकते है। यह अतिशयोक्ति-सा प्रतीत हो सकता है, किन्तु उसका अभिप्राय क्या है, यह हम देख सकते है। क्योकि अपने प्रयासो से हमे प्रत्येक ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती, जिसकी हमे आवश्यकता है, हमे व्यवहार मे अन्य लोगो पर भी अक्सर विश्वास करना होगा, फिर भी सिद्धान्तत· हम वस्तुनिष्ठ विधि पर आधारित प्रत्येक ज्ञान का स्वय परीक्षण कर सकते है। उदाहरण के लिए, हम स्वय वैज्ञानिक प्रयोग करना सीख सकते है, ताकि हम इस बात का निर्णय कर सकें कि क्या उन पर आधारित निष्कर्ष स्वीकार्य हैं या हमे उन लिखित प्रमाणो की खोज करनी होगी जिनसे हम यह जान सकें कि क्या इस प्रकार के कथन कि—"कीर्केगार्ड का जन्म १८१३ मे हुआ—तथ्यो के अनुरूप है।" विश्वास का केवल गौण, व्यावहारिक महत्त्व है। फिर भी आस्था सहित विश्वास महत्त्वपूर्ण है, क्योकि यह उस दिव्य-क्षेत्र की ओर सकेत करता है जो असीम रूप से मनुष्य के अनुभव से परे है, अत यह पूर्ण रूप से जाना नही जा सकता। यहाँ हमे आस्था रखने का कार्य करना होता है, हमे सतत् रूप से नवीकृत तत्परता की आवश्यकता होती है जिससे हम उस चीज को स्वीकार कर सकें, जिसका प्रमाण नही दिया जा सकता, हमे अगाध गर्त्त मे छलाँग मारने का खतरा मोल लेना होगा, जो केवल अनुवर्त्ती परिणाम से न्याय-सगत सिद्ध किया जा सके, इसके परिणाम के पूर्ववर्ती ज्ञान से नही।* अत आस्था जैसाकि अक्सर माना जाता है, ज्ञान का निर्बल स्थानापन्न नही है, जिसे कम से कम समय मे प्रतिस्थापित होना है, ये दोनो आधारभूत रूप से भिन्न हैं।

हमे दो भिन्न प्रकार की सत्यता को स्वीकार करना होगा। ज्योही हम किसी विश्वकोश के बारे मे सोचते हैं, उनका भेद स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार की कृति मे बहुत सारे सही कथन होते है, जो ज्ञान पर आधारित हैं, लेकिन हम शायद ही उस सत्यना की खोज करने के लिए इसकी सहायता लेंगे, जिसके द्वारा हम जीते हैं। आत्मनिष्ठ-विधि को एक ऐसा सत्य उद्घाटित करना है जो वास्तविक जानकारी की तुलना मे वैयक्तिक अनुभूति का विषय हो सके और

* पृष्ठ ५६-६१ देखिये।

उसके द्वारा, हम जिस चीज मे विश्वास करते हैं और जो हम करते हैं, उस पर गहरा प्रभाव पडे—वह प्रभाव, जैसाकि किसी प्रकार की आस्था से पडता है।

उस सत्य की खोज करने के लिए जिसके द्वारा हम जीते है, हमे वैयक्तिक अनुभूति से आरम्भ करना होगा और अपने विचारो को इस पर आधारित करना होगा, इसके विपरीत नही। यह उन सभी अस्तित्ववादियो के लिए प्रमुख शर्त्त है, जो इस बात पर बल देना नही छोडते कि "व्यक्ति ही वास्तविक है।" कीर्केगार्ड इस बात पर बल देता है कि "विचार से अस्तित्व का अनुमान करने का प्रयास व्याघात है", क्योकि विचार अस्तित्व को वास्तविकता से दूर ले जाता है और इसके बारे मे इसकी वास्तविकता को निराकृत करके असम्भव के क्षेत्र मे इसे परिणित करके विचार करता है।"[1] वह उस समबाहु त्रिभुज का विवेचन करते हुए इस बात को समझाता है जो सृष्टि की पूर्ण ज्यामितीय नियमितता मे कभी पाया नही जाता, इस प्रकार की नियमितता तभी प्राप्त की जाती है जब समस्त वास्तविक प्राकृतिक अवस्थाओ की अवहेलना की जाती है। अमूर्त सम्प्रत्ययो को प्राप्त करने के क्षेत्र मे भी हम इसका विस्तार कर सकते है क्योकि कीर्केगार्ड जिस विचार की ओर सकेत करता है उसके ये सम्प्रत्यय आधार है। उदाहरण के लिए, अगर हम "टेबुल" सम्प्रत्यय पर पहुँचते हैं तो यथार्थ टेबुल की समस्त विशेषताओ—रग, भार, आकार आदि विशेषताओ को अलग कर दिया जाता है, जिससे हम किसी भी टेबुल के सम्बन्ध मे इस सप्रत्यय का प्रयोग करने मे समर्थ हो सकें। हमने "वास्तविकता को निराकृत करके" इस सप्रत्यय का निर्माण किया है और "असम्भव के क्षेत्र मे इसे परिणत किया है" क्योकि विशेषताओ के बिना इस टेबुल का अस्तित्व नही है। अत "अस्तित्व अनुमान" करने के लिए अमूर्त सम्प्रत्ययो से आरम्भ करना गलत होगा। फिर भी अमूर्त तत्त्वमीमासीय प्रणालियो मे ठीक यही किया गया है, जैसाकि काण्ट ने पहले दिखलाया था और काण्ट के होते हुए भी, फिर वही आलोचना करनी होगी, क्योकि अपने दर्शन के आधार के रूप मे हेगेल अमूर्त सम्प्रत्यय "चित्त" शापेनहावर "सकल्प" भौतिकवादी "भौतिक द्रव्य" का प्रयोग करता है। कीर्केगार्ड की अस्तित्ववादी आलोचना काण्ट की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष रूप से सन्देह दूर करती है। हमे अस्तित्व की अपनी वैयक्तिक अनुभूति से आरम्भ करना चाहिये।

इस प्रकार का आरम्भ इस बात की अपेक्षा रखता है कि हम आत्मनिष्ठ विधि का निरन्तर और सही रूप से प्रयोग करें। कीर्केगार्ड इसकी कठिनाइयों से

अवगत है। यह सामान्य रूप से माना जाता है कि आत्मनिष्ठ होने के लिए किसी कला या निपुणता की आवश्यकता नही होती। सच तो यह है कि प्रत्येक प्राणी एक अर्थ मे विषय का एक अश है। लेकिन पहले से जो वह है, उसे अब वह बनने का प्रयास करने के लिए, कौन इस काम को पूरा करने के लिए अपना समय नष्ट करने का कष्ट उठायेगा, जिसमे आत्मसमर्पण की अधिकतम मात्रा शामिल है? लेकिन केवल इसी कारण से यह बहुत ही कठिन काम है, सच तो यह है कि यह सभी कामो मे सबसे अधिक कठिन है।[1]

इस कार्य के विस्तार से हमे अवगत कराने के लिए, वह बार-बार यह दिखलाता है कि इसमे कितने साहस की आवश्यकता होती है, तब स्ववचन निबद्धता के खतरे से बचने के लिए अवचनबद्ध अमूर्त चिन्तन की निश्चितता का परित्याग करता है, और इस प्रकार अपने उदाहरणो को पूर्ण रूप से समझने के लिए वह अपने पाठको को तैयार करता है। उसे जॉब या अब्राहम के "भय और कम्पन" का सामना करना पडता है, जिसकी हमने चर्चा की है, निरपेक्ष निश्चिति पाने की आशा मे उसे मन की ऐसी अवस्था सहने के लिए तैयार होना होता है जहाँ सारी निश्चिति समाप्त हो गयी है।

स्वय इस विधि का क्या अर्थ है, इस पर कीर्केगार्ड ने सबसे अच्छा प्रकाश डाला है। वह कहता है "ईसाई धर्म की वस्तुनिष्ठ स्वीकृति या तो पैगन-मत है या विचारहीनता।" ईसाई धर्म जीवन का एक साधन है, किन्तु इस पर चले बिना, एक रोचक विचारधारा के रूप मे, विश्व की एक निरपेक्ष व्याख्या के रूप मे या कर्मकाण्ड के रूप मे इसे स्वीकार करना, निरर्थक-सा है। आत्मनिष्ठ विधि हमेशा पहले पन्थ, जीवन और कर्म मे सम्बन्ध स्थापित करती है। पन्थ को वास्तविकता प्रदान करने मे यह विधि हमे अपने परिणामो मे आवेष्ठित कर देती है। हम जिस चीज मे विश्वास करते हैं, उसके अनुसार कार्य करने का हममे सकल्प होना चाहिये, जिससे प्राप्त होने वाली इसकी वास्तविक अनुभूति से हम इसके अर्थ को समझ सकें।

अगर कर्म सत् अभिवृत्तियो पर आधारित हो तो वे सत् प्रकार की आत्मनिष्ठ अन्तर्दृष्टि उत्पन्न कर सकते हैं। कीर्केगार्ड इस अभिवृत्ति की अपेक्षा रखता है जब वह यह कहता है कि अधिकाश मनुष्य अपने प्रति आत्मनिष्ठ होते हैं, जबकि अन्य सभी लोगो के सामने वस्तुनिष्ठ होते हैं, और कभी-कभी तो वे घोर वस्तुनिष्ठ होते हैं—किन्तु वास्तविक कार्य तो ठीक इसके विपरीत है अर्थात् सभी लोगो के

उसके द्वारा, हम जिस चीज मे विश्वास करते हैं और जो हम करते हैं, उस पर गहरा प्रभाव पडे—वह प्रभाव, जैसाकि किसी प्रकार की आस्था से पडता है।

उस सत्य की खोज करने के लिए जिसके द्वारा हम जीते है, हमे वैयक्तिक अनुभूति से आरम्भ करना होगा और अपने विचारो को इस पर आधारित करना होगा, इसके विपरीत नही। यह उन सभी अस्तित्ववादियो के लिए प्रमुख शर्त्त है, जो इस बात पर बल देना नही छोडते कि "व्यक्ति ही वास्तविक है।" कीर्केगार्ड इस बात पर बल देता है कि "विचार से अस्तित्व का अनुमान करने का प्रयास व्याघात है", क्योकि विचार अस्तित्व को वास्तविकता से दूर ले जाता है और इसके बारे मे इसकी वास्तविकता को निराकृत करके असम्भव के क्षेत्र मे इसे परिणित करके विचार करता है।"[1] वह उस समबाहु त्रिभुज का विवेचन करते हुए इस बात को समझाता है जो सृष्टि की पूर्ण ज्यामितीय नियमितता मे कभी पाया नही जाता, इस प्रकार की नियमितता तभी प्राप्त की जाती है जब समस्त वास्तविक प्राकृतिक अवस्थाओ की अवहेलना की जाती है। अमूर्त सम्प्रत्ययो को प्राप्त करने के क्षेत्र मे भी हम इसका विस्तार कर सकते है क्योकि कीर्केगार्ड जिस विचार की ओर सकेत करता है उसके ये सम्प्रत्यय आधार हैं। उदाहरण के लिए, अगर हम "टेबुल" सम्प्रत्यय पर पहुँचते है तो यथार्थ टेबुल की समस्त विशेषताओ—रग, भार, आकार आदि विशेषताओ को अलग कर दिया जाता है, जिससे हम किसी भी टेबुल के सम्बन्ध मे इस सप्रत्यय का प्रयोग करने मे समर्थ हो सकें। हमने "वास्तविकता को निराकृत करके" इस सप्रत्यय का निर्माण किया है और "असम्भव के क्षेत्र मे इसे परिणत किया है" क्योकि विशेषताओ के बिना इस टेबुल का अस्तित्व नही है। अत "अस्तित्व अनुमान" करने के लिए अमूर्त सम्प्रत्ययो से आरम्भ करना गलत होगा। फिर भी अमूर्त तत्त्वमीमासीय प्रणालियो मे ठीक यही किया गया है, जैसाकि काण्ट ने पहले दिखलाया था और काण्ट के होते हुए भी, फिर वही आलोचना करनी होगी, क्योकि अपने दर्शन के आधार के रूप मे हेगेल अमूर्त सम्प्रत्यय "चित्त" शापेनहावर "सकल्प" भौतिकवादी "भौतिक द्रव्य" का प्रयोग करता है। कीर्केगार्ड की अस्तित्ववादी आलोचना काण्ट की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष रूप से सन्देह दूर करती है। हमे अस्तित्व की अपनी वैयक्तिक अनुभूति से आरम्भ करना चाहिये।

इस प्रकार का आरम्भ इस बात की अपेक्षा रखता है कि हम आत्मनिष्ठ विधि का निरन्तर और सही रूप से प्रयोग करें। कीर्केगार्ड इसकी कठिनाइयो से

अवगत है। यह सामान्य रूप से माना जाता है कि आत्मनिष्ठ होने के लिए किसी कला या निपुणता की आवश्यकता नही होती। सच तो यह है कि प्रत्येक प्राणी एक अर्थ मे विषय का एक अश है। लेकिन पहले से जो वह है, उसे अव वह वनने का प्रयास करने के लिए, कौन इस काम को पूरा करने के लिए अपना समय नष्ट करने का कष्ट उठायेगा, जिसमे आत्मसमर्पण की अधिकतम मात्रा शामिल है ? लेकिन केवल इसी कारण से यह वहुत ही कठिन काम है, सच तो यह है कि यह सभी कामो मे सवसे अधिक कठिन है।[1]

इस कार्य के विस्तार से हमे अवगत कराने के लिए, वह वार-वार यह दिखलाता है कि इसमे कितने साहस की आवश्यकता होती है, तव स्ववचन निवद्धता के खतरे से वचने के लिए अवचनवद्ध अमूर्त चिन्तन की निश्चितता का परित्याग करता है, और इस प्रकार अपने उदाहरणो को पूर्ण रूप से समझने के लिए वह अपने पाठको को तैयार करता है। उसे जॉव या अव्राहम के "भय और कम्पन" का सामना करना पडता है, जिसकी हमने चर्चा की है, निरपेक्ष निश्चिति पाने की आशा मे उसे मन की ऐसी अवस्था सहने के लिए तैयार होना होता है जहाँ सारी निश्चिति समाप्त हो गयी है।

स्वय इस विधि का क्या अर्थ है, इस पर कीर्केगार्ड ने सवसे अच्छा प्रकाश डाला है। वह कहता है "ईसाई धर्म की वस्तुनिष्ठ स्वीकृति या तो पैगन-मत है या विचारहीनता।" ईसाई धर्म जीवन का एक साधन है, किन्तु इस पर चले बिना, एक रोचक विचारधारा के रूप मे, विश्व की एक निरपेक्ष व्याख्या के रूप मे या कर्मकाण्ड के रूप मे इसे स्वीकार करना, निरर्थक-सा है। आत्मनिष्ठ विधि हमेशा पहले पन्थ, जीवन और कर्म मे सम्वन्ध स्थापित करती है। पन्थ को वास्तविकता प्रदान करने मे यह विधि हमे अपने परिणामो मे आवेष्ठित कर देती है। हम जिस चीज मे विश्वास करते हैं, उसके अनुसार कार्य करने का हममे सकल्प होना चाहिये, जिससे प्राप्त होने वाली इसकी वास्तविक अनुभूति से हम इसके अर्थ को समझ सकें।

अगर कर्म सत् अभिवृत्तियो पर आधारित हो तो वे सत् प्रकार की आत्मनिष्ठ अन्तर्दृष्टि उत्पन्न कर सकते हैं। कीर्केगार्ड इस अभिवृत्ति की अपेक्षा रखता है जव वह यह कहता है कि अधिकाश मनुष्य अपने प्रति आत्मनिष्ठ होते हैं, जवकि अन्य सभी लोगो के सामने वस्तुनिष्ठ होते हैं, और कभी-कभी तो वे घोर वस्तुनिष्ठ होते हैं—किन्तु वास्तविक कार्य तो ठीक इसके विपरीत है अर्थात् सभी लोगो के

प्रति आत्मनिष्ठ होना ।[1] हमे अन्य लोगों के प्रति कठोर और दूसरे लोगो के प्रति मृदुल होने की सहज प्रवृत्ति से दबना नही चाहिये, क्योकि हम अन्य लोगो को तभी समझ सकते हैं जब हम उन्हे उनके अन्तर को समझने का प्रयास करें, उनकी अनुभूतियो को अपनी अनुभूति बनाने का प्रयत्न करें। लेकिन जब हम स्वय का सामना करते हैं तब हमे एक प्रकार की अनासक्ति की आवश्यकता होती है, जिससे हम पूर्वाग्रह को उस आत्मा से भिन्न करने मे समर्थ हो सकें, जो सभी मनुष्यो मे सामान्य रूप से पाया जाता है, लेकिन जो केवल वैयक्तिक अनुभूति से सुगम हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, हमे वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता के वैषम्य की आवश्यकता होती है, अत हमे अपने बाहर, जहाँ वस्तुनिष्ठता अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है और अपने भीतर, जहाँ पूर्वाग्रह ग्रसित आत्मनिष्ठता हमे अन्धकार की ओर ले जाती है, दोनो के विषय मे सचेत होना पडता है। हमे कर्मों की आवश्यकता होती है क्योकि उनसे बाहर और भीतर के बीच सम्बन्ध की सृष्टि होती हैं और अगर हमारी वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ अभिवृत्तियाँ उचित हैं तो उनसे हमारा ज्ञान बढ़ेगा। कीर्केगार्ड के अनुसार ईश्वर ही "निरपेक्ष आत्मनिष्ठता" है और उसके लिए बाहर और भीतर एक है, और जो चीज हमे वस्तुनिष्ठ प्रतीत होती है और इस प्रकार वह बाहर की लगती है, उसके बारे मे उसे भीतर से पूर्ण रूप से जानकारी है। हमे आत्मनिष्ठ विधि के लिए वस्तुनिष्ठता को सहायक बनाना है।

इस प्रकार, कीर्केगाड जिसे "अधिकतम अवाप्ति" मानता है, उसे हम प्राप्त कर सकते हैं—अर्थात् हम निरपेक्ष साध्य का निरपेक्ष सम्बन्ध और सापेक्ष साध्यो का सापेक्ष सम्बन्ध बनाये रख सकते हैं। यह कहा जाता है कि यह स्पष्ट मालूम पड सकता है, लेकिन किसी सापेक्ष वस्तु को हम जिस रूप मे ग्रहण करते है, उससे अधिक गम्भीरता से हमे निरपेक्ष को ग्रहण करना चाहिये, लेकिन यह अत्यधिक कठिन है। उदाहरण के लिए, अगर किसी ऐसे अवसर पर विशाल धनराशि खो जाय या समाज-सहिता का कोई अतिक्रमण हो जाय जो हमारे जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है तो उस भारी पाप की अपेक्षा वह अधिक हमे परेशान करता है जिसकी जानकारी दूसरे लोगो को नही होती या जिसे समाज क्षमा कर सकता है। हम उस भूल की अपेक्षा हृदय की अकर्मण्यता के लिए अधिक आसानी से अपने को क्षमा कर देते हैं जिसके व्यावहारिक परिणाम क्षति पहुँचाने वाले होते हैं। लेकिन एक बार जब हम उस अनासक्ति से सापेक्ष साध्यो को देखने मे वास्तविक रूप से समर्थ हो जायें, जिसका इतने सुन्दर ढग से सामाजिक भेदो

की चर्चा करते समय वर्णन किया है—जैसे एक लवादा जिसे छोड देना होता है*—और साथ ही निरपेक्ष के अटूट बन्धन मे बँध जायें तो उचित दिशा मे हमारे दर्शन का विकास शुरू होगा।

सामान्य दार्शनिक उपागम और अस्तित्ववादियो के उपागम का भेद सक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। अधिकाश अनास्तित्ववादी दार्शनिक वस्तुओ से आरम्भ करते है, उसके बाद वे व्यक्ति को शामिल कर लेते है, किन्तु केवल एक अमूर्त अस्तित्व के रूप मे, एक अमूर्त विचारक के रूप मे कर लेते है और वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे फिर वस्तुओ पर लौट आते हैं। कीर्केगार्ड व्यक्ति से आरम्भ करता है, फिर वैयक्तिक अनुभूति प्राप्त करने तथा इसे स्पष्ट करने के उद्देश्य से फिर वह वस्तुओ को शामिल करता है, और फिर वह व्यक्ति पर चला आता है, जिससे वह उचित प्रकार से आत्मनिष्ठता प्राप्त कर सके। वह हमारा ध्यान आन्तरिक अनुभूति की ओर मोडना चाहता है, उसका लक्ष्य आभ्यन्तरता है।

लेकिन इन दोनो विधियो मे एक दूसरा वैषम्य है। जिस विश्वसनीयता से प्रत्येक विधि प्राप्त कर सकती है, वह भिन्न है, क्योकि यह दो भिन्न प्रकार की निश्चिति पर आधारित है।

आत्मनिष्ठ विधि के परिणामो का परीक्षण हो सकता है, उन्हे सिद्ध किया जा सकता है और एक बार जब वे सिद्ध हो जाते हैं तो वे सन्तोषजनक रूप से दूसरो तक पहुँचाये जा सकते है, क्योकि आगे जाँच-पडताल किये बिना उन्हे स्वीकार किया जा सकता है। फिर भी वे कभी अन्तिम नही होते। हालाँकि तथ्यो मे परिवर्त्तन नही होता, फिर भी उनके अर्थ मे परिवर्त्तन होता है, जैसाकि विज्ञान के विकास से पता चलता है और नये तथ्यो की खोज से निरन्तर उनमे परिवर्त्तन होता रहता है या पूर्ण रूप से विज्ञान के सिद्धान्त बदल जाते हैं। विश्वसनीयता महान् है, अत इससे विज्ञान का तकनीकी प्रयोग सम्भव हो जाता है, लेकिन इसे कभी निरपेक्ष निश्चिति के रूप मे ग्रहण नही करना चाहिये क्योकि इससे आगे के विकास मे बाधा उत्पन्न होगी।

आत्मनिष्ठ विधि हमेशा नयी अनुभूतियो पर निर्भर रहती है, इसके परिणामो को हमेशा के लिए स्वीकार नही किया जा सकता, क्योकि हमे हमेशा उन्हे अपनी अनुभूति मे परिणत करना होता है। चूंकि वैयक्तिक सहभागिता की आवश्यकता

* पृष्ठ ६९ देखिये।

होती है, अत अनिश्चिति का क्षेत्र खाली रखना चाहिये, जैसाकि हम देख चुके हैं, जिससे वैयक्तिक निर्णयो को स्थान दिया जा सके।* इस प्रकार इस विधि का प्रयोग हमेशा कठिनाइयो और खतरो से घिरा होता है, इसके किसी भी परिणाम को अन्तिम रूप से ग्रहण नही किया जा सकता। फिर भी एक वार जव निश्चिति प्राप्त हो जाती है तो वह निरपेक्ष हो जाती है। उदाहरण के लिए, जब हम शुभत्व की पूर्ण रूप से अनुभूति करते हैं तव फिर हमे इस वात मे कभी सन्देह नही हो सकता कि हमने एक ऐसी सत्ता का उल्लेख किया है जिसे बिना शर्त्त स्वीकार करना होगा, अगर हमे अपनी अनुभूति के साथ न्याय करना है। अत आत्म-निष्ठ विधि के परिणामो मे "टेन कमाण्डमेण्ड्स" या "सरमन ऑन दी माउण्ट"† का स्थायित्व है- यह एक ऐसा स्थायित्व है जो वस्तुनिष्ठ विधि के क्षेत्र मे नही मिलता — यह परिणाम अन्तिम हैं। फिर भी उनका पूर्णरूप से सम्प्रेषण नही हो सकता, अगर उन पर अपना दृढ विश्वास उत्पन्न करना है और उन्हे हमारे जीवन का अग बनना है तो उन्हे बार-बार हमारी अपनी अनुभूति मे आना होगा। अत हमेशा एक खतरा बना रहता है, गलत निर्णय करने से हमे कोई नही रोकता। किन्तु यह खतरा मोल लेने योग्य है, क्योकि विज्ञान हमारे जीवन के वाह्य रूप का फिर से निर्माण तो कर सकता है, लेकिन आत्मनिष्ठ विधि के सम्भावित भावात्मक परिणाम हमारे आन्तरिक वैयक्तिक विकास के लिए गहरा अर्थ रखते है।

कीर्केगार्ड के साथ भी कठिनाइयाँ और खतरे समाप्त नही हो जाते। हमने पहले सम्भावित आलोचनाओ का उल्लेख किया है।** उनके विचार मे ईसाई धर्म सवसे अधिक निरर्थक है, क्योकि कोई भी तर्कनावादी कभी यह विश्वास नही कर सकता कि ईश्वर मनुष्यो मे सबसे अधिक दीन हो गया था और उसे फाँसी पर चढा दिया गया, लेकिन वह यह मानता है कि इससे ईसाई-धर्म सबसे अच्छा धर्म वन जाता है, क्योकि इस प्रकार इसमे आस्था की सबसे समर्थ क्रिया की आवश्यकता होती है। फिर भी ईसाई-धर्म हालाँकि तर्क बुद्धि के परे खो जाता है, लेकिन निश्चित रूप से इसकी भी सहायता ले सकता है। कीर्केगार्ड ईश्वर और मनुष्य मे पूर्ण वैषम्य देखता है, जो निरर्थकता की खाई द्वारा पूर्ण रूप से पृथक् है, फिर भी "अगाध गर्त मे छलाँग मारने" का खतरा उठाने की चाह उत्पन्न करने के लिए, मनुष्य मे कम से कम दैवी अश तो होना ही चाहिये।

* पृष्ठ ७५-६, ६५ देखिये।

† पृष्ठ ८१-२ देखिये।

** पृष्ठ १०-११ और ६०-६१ देखिये।

अविवेकशील विरोधाभास पर उसके बल देने मे भी तर्क-बुद्धि का पूर्ण रूप से बहिष्कार हो जाता है, और इसके भावात्मक पक्षो के होते हुए भी उसकी नैराश्य की निरन्तर मांग से शुभ समाचार के रूप मे शुभ-सन्देश और आनन्द के महत्त्व पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है।

सम्भवत सबसे बाधक कमजोरी यह है कि वह हमसे इस बात की अपेक्षा रखता है कि हम अपने विचार मे अपनी ऐतिहासिक स्थिति को शामिल कर ले, क्योकि इस प्रकार वह अपने काल पर काफी आश्रित हो जाता है। वह कहता है "किसी विद्यमान व्यक्ति के लिए भावावेश अस्तित्व का चरमोत्कर्ष है"[1] और उसने अपने उस युग को खराब कहकर उसकी आलोचना की, जिस युग मे वह रहता था क्योकि इसमे भावावेश का अभाव था। उसका भावावेश और आभ्यन्तरता का तादात्म्य शायद ही आज कोई स्वीकार करता है। हमारे समय के राष्ट्रवादी तथा सैद्धान्तिक आन्दोलनो से यह पता चला है कि भावावेश उस अनुत्साह की अपेक्षा अधिक विनाशकारी हो सकता है, जिसकी कीर्केगार्ड आलोचना करता है, स्पष्टतर भेद आवश्यक है। यह सत्य है कि वह अपने युग की महत्त्वहीनता को इतने स्पष्ट रूप से पहचानता है कि उसकी कई कटु आलोचनाएँ आज भी सत्य है, जैसेकि जब वह यह कहता है "हमारा युग आस्था के साथ, अर्थात् जल को शराब मे परिणत करने के इस चमत्कार के साथ, रुकना नही चाहता, यह आगे जाता है, यह शराब को जल मे परिणत करता है।"[2] लेकिन भावावेश पर हानिकर रूप से अधिक बल देना बार-बार प्रकट हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब वह इस बात का दावा करता है कि अगर कोई गैर ईसाई उसकी मूर्तियो मे भावावेश मे विश्वास करता है, जबकि एक ईसाई का निरुत्साहित विश्वास है तो यह गैर ईसाई है जो विश्वास करता है, ईसाई नही, जैसाकि कोई विश्वास कर सकता है। हमे निश्चय ही दोनो की आवश्यकता है, उचित प्रकार की भावना की और उचित विश्वास की। स्वय कीर्केगार्ड हमे इस बात से सावधान करता है कि किसी तर्कवाक्य की सत्यता कोई वस्तु नही है जिसे निश्चयपूर्वक सदा के लिए कहा जा सके, प्रत्युत यह इसके हिमायती के अभिप्राय का सापेक्ष है और अन्त मे यह उस तर्कवाक्य पर निर्भर करता है जो इसके विरुद्ध कहा गया है। यह सामान्य रूप से सही नही भी हो सकता है लेकिन उसके उपदेश के कुछ पक्षो के साथ इसके सम्बन्ध को हमे ध्यान मे रखना है।

लेकिन चूंकि आत्मनिष्ठ विधि को वैयक्तिक निर्णय के लिए स्थान छोडना चाहिये, अत महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इसे इस बात का सुनिश्चय करना

चाहिये कि हम उचित दिशा मे बढे। अगर यह बात है तो किसी भी त्रुटि से आगे स्पष्टीकरण होगा, केवल जब हम पूर्ण रूप से गलत दिशा मे बढेंगे तभी दर्शन काफी भ्रामक होगा। कीर्केगार्ड कभी भी अपनी वह दिशा नही खोता जिस ओर उसे बढना चाहिये। हम इसे उसके जीवन मे देख सकते हैं, और अगर हम इस पर विचार करें तो उसके विचारो की कमियो द्वारा हम शायद ही भ्रम मे पडें।

स्वय कीर्केगार्ड के लिए, इन खतरो का कोई महत्त्व नही था, ईसाई धर्म मे पैर जमे होने के कारण, वह अपनी स्थिति को सक्षेप मे समझाने मे समर्थ हुआ। उन्होने अपने को न तो कोई पैगम्बर के रूप मे देखा, न उस धर्म प्रचारक के रूप मे जो अधिकार से, ईश्वर से कुछ लाते है, प्रत्युत एक चिरयातनाग्रस्त के रूप मे देखा, "मेरा काम आधिकारिक रूप से स्थान बनाना नहीं है, प्रत्युत यातना सहकर स्थान बनाना है।" वह यह भी जानता था कि "यह आसान है कि मैं ईसाई हो जाऊँ जबकि मैं ईसाई नही हूँ, लेकिन यह आसान नही है कि मै ईसाई हो जाऊँ जबकि मैं ईसाई हूँ।"[१] शायद ही उस अवमिश्रित ईसाई धर्म का इतने सुगठित रूप से वर्णन किया जा सके जिससे हम बचपन से ही अनुप्राणित हैं। किन्तु उसने यह स्वीकार किया कि उसके लिए यह एकदम असम्भव है कि वह किसी व्यक्ति को किसी मत, धारणा या विचार को स्वीकार करने के लिए बाध्य करे। किन्तु एक काम मैं कर सकता हूँ, "मैं उन्हें ध्यान देने के लिए बाध्य कर सकता हूँ।"[२] इसी काम मे उसने अपने जीवन को लगाया और अपने दर्शन को जीवित रखा और शालीनता और साहस दोनो का प्रदर्शन किया, जिनकी इसमे आवश्यकता थी।

उसके सबसे अधिक दुखद सघर्षो मे से एक सघर्ष मे उसकी यातना स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उसके जन्म-स्थान कॉपेनहेगेन से एक व्यग्यात्मक पत्रिका निकलती थी, जिसका नाम था **कारसेयर**। इसमे लब्धप्रतिष्ठित व्यक्तियो की खिल्ली इतने विद्वेषपूर्ण ढग से उडायी जाती थी कि अधिकाश उत्तरदायी लोग इसकी भर्त्सना करते थे, लेकिन किसी ने भी इसकी आलोचना करने का साहस नही किया, किन्तु इसने इसकी आलोचना की। कीर्केगार्ड इसके परिणामो से पूर्ण रूप से अवगत था। वह जानता था कि उसके प्रकाशनो की लोकप्रियता, उस पत्रिका की लोकप्रियता का मुकाबला नही कर सकती और कई महीनो तक सारे शहर मे वह उपहास-पात्र बन जायेगा, और वास्तव मे वर्षों तक सडको पर उसे लोगो ने खूब तग किया। किन्तु जो वह प्राप्त करना चाहता था वह उसे मिल गया—उसने लोगो को ध्यान देने पर बाध्य किया। यह सत्य है कि

अधिकाश लोगो ने उसका मजाक उडाया, लेकिन कुछ लोगो ने उसे समझा और उसकी कृतियो और स्मृति को सँभाल कर रखा। सक्षेप मे, उसने लोगो को गुस्सा दिलाया सचमुच मे यह एक आधुनिक प्राणोत्सर्ग है।* केवल उसकी आन्तरिक महानता और निश्चिति ने उसे इसका सामना करने का वल दिया और उसकी डायरी से इस वात का पता चलता है कि घोर व्यथा और दु ख की कीमत पर उसने इसे प्राप्त किया। उसे प्राणसकट का भय नही हुआ।

अपने सभी सघर्षो मे उसने अपने पुरुष को अपने सन्देश से गौण समझा। अपने जीवन के अन्त मे, कई वर्षो तक हिचकने के बाद, उसने एक दूसरी आलोचना करने का खतरा मोल लिया—अर्थात् उसने सुप्रतिष्ठित डेनिश लुथरन चर्च की आलोचना की। उसने इसके पदाधिकारियो पर यह आरोप लगाया कि वे दूसरे लोगो को तो ईसाई सद्‌गुणो का उपदेश देते है, लेकिन स्वय अधिकार का प्रयोग करते हैं और काफी आराम से रहते है। फिर महान् कष्ट उठाकर, उसने लोगो को ध्यान देने के लिए वाध्य किया, अर्थात् उसने इस वार सम्भवत और अधिक स्पष्ट रूप से यह दिखला दिया कि ईसाई होने का मतलव क्या होता है। ४२ वर्ष की आयु मे उसकी मृत्यु हुई—अपने समय से पूर्व वूढा, जवकि उसने बैंक से सारे रुपये निकाल लिये थे और साथ ही अपने मतो के प्रसार मे वह अपना स्वास्थ्य और वित्तीय साधन समाप्त कर चुका। लेकिन वह शान्ति से मरा और उसे उस समय इस वात की जानकारी थी कि उसे जो मिल सकता था, मिल गया और वह इस आशा मे मरा कि जीवित रहने वाले लोग उस व्यक्ति के शब्दो को अधिक तत्परता से सुनेंगे जिसकी मृत्यु हो चुकी है—यह एक ऐसी आशा थी, जो काफी हद तक पूरी हुई। लेकिन उसने एक भूल की। उसका विश्वास था कि व्यक्ति या तो अनन्त अमूर्तकरण के चक्कर मे फँस जाता है या धर्म की सत्ता से सदा के लिए वच जाता है—इस वात पर उसका ध्यान नही गया कि मनुष्य अस्तित्ववाद के चक्कर मे भी फँस सकता है।

---

*सघर्ष का यह वृत्तात कीर्कगार्ड का अपना है, लेकिन श्री ई० एल० व्रेड्म्डॉर्फ ने हाल मे यह वताया है कि आरम्भ में कीर्केगार्ड सम्भवत उस यातना की प्रत्याशा नही करता था, जिसके लिए पश्च-दर्शन में, अपनी आलोचना द्वारा प्रयत्न करता प्रतीत होता है। किन्तु चूँकि कीर्केगार्ड ने इसके यथार्थ अर्थ (पृष्ठ ११८ देखिये) को पाने के लिए अपने अतीत को हमेशा पुनर्जीवित किया, फिर भी उसकी आगे की समझ-वूझ—कि क्या उसने किया—सगत और विश्वसनीय प्रतीत होती है।

अभी तक हमने अस्तित्ववाद के भावात्मक पक्षो पर मुख्य रूप से ध्यान केन्द्रित किया है और अब हम उन पर लौट आयेंगे, क्योकि इस पुस्तक का उद्देश्य यही दिखलाना है कि हमे उन निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए यह दर्शन कैसे सहायक है, जिन्हे हम स्वीकार कर सकते हैं। किन्तु भावात्मक उपलब्धियो की सही रूप से समीक्षा करने मे समर्थ होने के लिए, हमे इसके दोषो से भी अवगत होना चाहिये। कीर्कगार्ड के लिए जिन खतरो का कम महत्त्व है, उनका विस्तार समकालीन अस्तित्ववाद मे भिन्न है, और ऐसा क्यो है, यह हम देख सकते हैं। नैतिकता और ईसाई धर्म को जीवित रखने के लिए कीर्कगार्ड एक विधि के रूप मे अस्तित्ववादी उपागम का प्रयोग करता है, वह अस्तित्व (मनुष्य की वास्तविक अनुभूति) और तत्त्व (बाह्य सत्ता और अनुभवातीत सत्ता के साथ मानव-प्रकृति का सम्बन्ध) मे सन्तुलन स्थापित करता है।* लेकिन एक बार जब स्वय साध्य के रूप मे अस्तित्ववाद का अनुशीलन किया जाता है तो केवल अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है और तत्त्व की अवहेलना कर दी जाती है—अर्थात् मानव प्रकृति मे जो भी प्रतिबन्ध और सीमाएँ अन्तर्निहित होती हैं, उन सब की उपेक्षा की जाती है और अनुभूति का सही रूप मे मार्गदर्शन नही हो पाता। इस प्रकार कीर्कगार्ड के उपदेश के प्रच्छन्न खतरो मे काफी वृद्धि हो जाती है और वे सामने आ जाते हैं।

अस्तित्ववाद के इस रूपान्तरण और इसके कुछ आधुनिक प्रतिनिधियो के सम्बन्ध मे हम दूसरे अध्याय मे विचार-विमर्श करेंगे। लेकिन इसके भावात्मक तत्त्वो के साथ सम्पर्क न समाप्त हो जाये, इसके लिए पहले मैं इस बात पर विचार करना चाहूँगा कि अस्तित्ववादी विचारधारा की कुछ अतिवादी अभिव्यक्तियो का भी कीर्कगार्ड की महान् उपलब्धियो के अधिक कठिन पक्षो के साथ कैसे सम्बन्ध है। अत अगला विश्लेषण सभी अस्तित्ववादियो की ओर निर्देश नही करता है, प्रत्युत मैं कहूँगा कि निरपेक्ष अस्तित्व की ओर करता है, अर्थात् उन अस्तित्ववादियो के सिद्धान्तो की ओर निर्देश करता है जिनका यह विश्वास है कि अस्तित्व विविक्ति मे समझा जा सकता है और इसे विविक्ति करके हम निरपेक्ष, चरम ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

कीर्कगार्ड की मुख्य माँग यह है कि हमे "अगाध गर्त्त मे छलाँग मारने" का जोखिम तो उठाना ही चाहिये, मनुष्य एक विशाल खाई द्वारा ईश्वर से पृथक्

---

*अस्तित्व और तत्त्व के बीच भेद के लिए पृष्ठ ११-२ देखिये।

है, अत अपने प्रयासो से न तो वह शुभत्व को प्राप्त कर सकता है न आस्था को, उमे अज्ञात मे छलाँग मारने का जोखिम उठाना होगा।* फिर भी चूँकि मनुष्य और ईश्वर के बीच एक खाई है, अत अगर जोखिम उठाया जाता है तो इसका अपना पुरस्कार मिल सकता है, क्योकि ईश्वर के साथ यह सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। लेकिन एक बार जब ईश्वर को अस्वीकार कर दिया जाता है, क्योकि वह उस निरपेक्ष अस्तित्ववाद के अनुसार है जिसे निरीश्वर-वादी होना चाहिये, तो सच तो यह है कि खाई का और किनारा लुप्त हो जाता है, वह खाई-रिक्तता अर्थात् पूर्ण शून्य-मात्र रह जाती है। इस प्रकार अवस्तुता (Le Néant das Nichts) मुख्य अनुभूति हो जाती है, और चूँकि यह प्रधान है, अत उत्कट रूप से इसे ग्रहण किया जाता है। मनुष्य अज्ञात मे छलाँग मारने का जोखिम उठाने के बदले अवस्तुता मे गोता लगाता है, क्योकि इस प्रकार वह ईमानदारी से अपने भाव के अभ्यन्तर का सामना करता प्रतीत होता है।

अवस्तुता की यह स्वीकृति सम्भव हो जाती है क्योकि विसगति सम्प्रत्यय का एक भिन्न अर्थ हो जाता है। कीर्केगार्ड सबसे समर्थ आस्था-कृत्य उत्पन्न करने के लिए विसगति पर बल देता है, उसके अनुसार जीवन या ईसाई धर्म की विसगति से पूर्ण रूप से अवगत होना, उनकी सबसे अधिक सार्थक अनुभूति का तरीका है। कीर्केगार्ड का विश्वास है कि अस्तित्व की विसगति को जानकर ही हम सभी सामान्य विचार को पीछे छोडते हैं और अपने भीतर उस सत्ता की खोज करते हैं जो धर्म का आधार और औचित्य है। लेकिन एक बार जब अनुभवातीत सत्ता को एकदम अस्वीकार किया जाता है, स्वय विसगति अन्तिम लक्ष्य बन जाती है, क्योकि इससे इस बात की पुष्टि होती प्रतीत होती है कि हम ईमानदार हैं, अर्थात् भ्रमो के सामने झुके बिना हम यथार्थ रूप से सत्ता का सामना कर रहे हैं। विसगति पर पहुँचना जीत है, और इसे सार्थक बनाने के लिए और आगे प्रयास नही किया जा सकता। विसगति और गूढता मे तादात्म्य स्थापित कर दिया जाता है।

निरपेक्ष विरोधाभास मे इसी प्रकार का रूपान्तरण होता है। कीर्केगार्ड के अनुसार यह आशा को वास्तविक अर्थ प्रदान करता है, उन सब विभीषाओ के बावजूद जिनकी प्रतीयमान निरर्थकता सृष्टि करती है, अनुभूति मे एक गूढ भावात्मक तत्त्व है, यह तत्त्व विरोधाभास दूर नही कर सकता, क्योकि इसकी

---

* इसके, और आगे के लिए पृष्ठ ५६-६० देखिये।

अनुभूति की जा सकती है, इसे अभिव्यक्त नही किया जा सकता, लेकिन यह विरोधाभास भावात्मक अनुभूति का मार्ग बन जाता है। विसगति की विरोधाभासी प्रकृति से ही इस पर विजय प्राप्त की जाती है, क्योकि इस बात का श्रेय विरोधाभास को प्राप्त है कि विभीषा और विसगति दोनो उस सामजस्य की ओर अग्रसर कर सकते है जो तर्कबुद्धि से परे है। लेकिन एक बार जब विसगति को स्वीकार कर लिया जाता है और स्वय इसके लिए इसका उपयोग किया जाता है तो कोई भी चीज जो विरोधाभासी है, उसका स्वागत किया जाता है, क्योकि इन विरोधाभासो से इस बात की पुष्टि होती प्रतीत होती है कि हम विचार के सबसे अधिक निर्णायक परिणामो पर पहुँच गये हैं। इस प्रकार अनुभवातीत को अतर्कबुद्धि मे परिणत कर दिया जाता है। अन्तिम अध्याय मे इसके विभिन्न पक्षो पर हम विचार करेंगे, लेकिन अभी हम यह देख सकते हैं कि अतर्कबुद्धि पर बल देने का तात्पर्य क्या है। स्वय इस सम्प्रत्यय का यह अर्थ है कि जो तर्कबुद्धि से परे है, लेकिन दो मुख्य तरीको से इसका अर्थ स्पष्ट किया जा सकता है। यह या तो रहस्य के रूप मे देखा जा सकता है, जो उस समय तर्कबुद्धि से परे अर्थ प्रकट करता है जब इसकी अनुभूति की जाती है—और यही है जो कीर्केगार्ड अर्थ लगाता है—या तर्कबुद्धि के पूर्ण निरर्थक विनाश के रूप मे देखा जा सकता है, जिस रूप मे निरपेक्ष अस्तित्ववादी इसे देखते हैं। यह विचारक हर जगह इसकी खोज करते हैं और वह जब इसे पा लेते हैं तो इस पर अत्यधिक बल देते हैं, जिससे तर्कबुद्धि का प्रभाव सम्पूर्ण रूप से समाप्त हो जाय।

इसके परिणामस्वरूप उनके दर्शन मे हमारा सामना एक ऐसी अस्तित्ववादी स्थिति से हो जाता है जो कीर्केगार्ड की अस्तित्ववादी स्थिति के लगभग विपरीत है। अवस्तुता, विसगति, अनुभूति के विरोधाभासी स्वरूप और अतर्कबुद्धि को भग्नाशा की ओर भी अवश्य ले जाना चाहिये। लेकिन जबकि कीर्केगार्ड हमे भग्नाशा का सामना करने के लिए बाध्य करता है, क्योकि उसका विश्वास है कि इसकी गूढता से इस बात का पता चलेगा कि मनुष्य का सत्यता मे विश्वसनीय आधार है, निरपेक्ष अस्तित्ववादी स्वय निरर्थक भग्नाशा एक साध्य और मन की एक वाछित अवस्था के रूप मे भी देखता है। इसमे सन्देह नही कि उनकी भग्नाशा सच्ची है, लेकिन इसे अपने मार्ग पर नही चलने दिया जाता, इसे दार्शनिक रूप से प्रस्तुत करने को आधार बना लिया जाता है। फिर भी, इस प्रकार इसकी अतिरिक्त गूढता समाप्त कर दी जाती है।

विचार और अनुभूति के अन्तिम परिणाम के रूप मे, भग्नाशा का तात्पर्य यह है कि भय और कम्पन "ऐइन्स्ट", मनुष्य के अस्तित्व के सबसे अधिक आधार-भूत गुण हो जाते है। इस प्रकार की विभीषा एक आवश्यक उपलब्धि के रूप मे देखी जाती है, क्योकि इसी के द्वारा मनुष्य अस्नित्व के स्वरूप की पूर्ण समीक्षा करने मे समर्थ होता है। मन की इस स्थिति मे जो लोग नही रहते, वे सभी सत्यता से विच्छिन्न समझे जाते हैं। अब कई व्यक्तियो के लिए यह निश्चय ही सत्य है कि भय उनकी सबसे मूल अनुभूति है और इस पर बल देना एक चुनौती हो सकती है जो हमारी वर्त्तमान स्थिति मे विशेष महत्त्व रखती है। आत्मसन्तोष जितना आज खतरनाक है, उतना शायद ही कभी रहा है। लेकिन विभीषा पर बल देने से हम एकपक्षता की ओर अग्रसर होते है, क्योकि ईसाई या किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसमे आस्था है, विश्वास और आशा, मन की अधिक आधार-भूत स्थितियाँ है। कीर्केगार्ड की भग्नाशा इन भावनाओ का मार्ग खुला रखती है, लेकिन अतिवादी अस्तित्ववाद इस मार्ग को रोकता है और इस प्रकार मनुष्य की प्रकृति के महत्त्वपूर्ण अगो का बहिष्कार करता है। इसके बदले मे, हम अक्सर उन विकर्षी विषयो का विकल्प पाते हैं—विशेष रूप से सार्त्र और उसके कुछ अनुयायियो मे—जो हमे केवल घृणित वस्नु देखने देते हैं और इस प्रकार भग्नाशा को स्पष्ट रूप से एक ऊपरी आधार देते हैं। इस बात का तो अनुभव होगा ही कि भग्नाशा का वरण एक आसान मार्ग के रूप मे भी किया जा सकता है, अगर प्रत्येक वस्तु निराशाजनक है तो हमे किसी प्रकार का कष्ट उठाने की आवश्यकता नही, हम आत्मसमर्पण कर सकते हैं।

सामान्य रूप मे, हालाँकि सम्पूर्ण रूप मे नही, अस्तित्ववाद इस खतरे से बच जाता है, क्योकि भग्नाशा इसके परिणाम होने की अपेक्षा इसका स्रोत है। मुख्य रूप से इस दर्शन का विकास दो युद्धो के बीच के समय मे हुआ और चूंकि मानवजाति पर मँडराते हुए महाविपत्ति के बादल यह अस्तित्ववादी बडी स्पष्टता से देखते हैं, अत मनुष्य की सन्देहास्पद स्थिति और उसकी कमजोरी से वे परि-चित हैं। यह सत्य है कि नरम पड जाने का खतरा हमेशा बना हुआ है—उदा-हरण के लिए, जब हीडेगर नाजीवाद के सामने झुका और सार्त्र साम्यवादी हो गया—किन्तु यह अन्तिम नही है। चूँकि अस्तित्ववाद भग्नाशा से उत्पन्न होता है, अत ऐतिहासिक स्थिति के प्रतीयमान दावे, मनुष्य की कमजोरी की जान-कारी—मृत्यु की जानकारी के पूरे हो जाते है।

इसमे कोई सन्देह नही कि भग्नाशा के निरन्तर सम्बलीकरण और मृत्यु पर केन्द्रित होने से विकृति उत्पन्न होती है और उन लक्ष्यो के लिए सघर्ष करने, जिन्हे वाछनीय समझते है, से अपने जीवन को सार्थक वनाने की दृढता जाती रहती है। फिर भी मृत्यु का रहस्य—जन्म से भी अधिक रहस्यात्मक—उन सभी गलत धारणाओ को अवश्य ही अमान्य ठहरायेगा जो तर्कवुद्धि युग से चली आ रही हैं और जिनकी हमने चर्चा की है। * विशुद्ध तर्कनापरक विचार वैज्ञानिक तरीके से मृत्यु के कारणो की व्याख्या तो कर सकता है, लेकिन इस तथ्य का कारण कभी वता नही सकता कि किसी भी क्षण हमारी मृत्यु हो सकती है और हम ऐसे प्राणी हैं जो आज नही तो कल अवश्य ही मरेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे जीवन की अवधि एकदम मनमाने ढग से निश्चित कर दी गयी है और यह अवोधगम्य है जिससे तर्कबुद्धि की शक्तियाँ विफल हो जाती है। तर्कबुद्धि-वादी को मृत्यु की या तो उपेक्षा करनी पडी या इसके महत्त्व को अस्वीकार करना पडा। मृत्यु पर वल देना कीर्केगार्ड और वाद के अस्तित्ववादियो के लिए सामान्य बात है। कीर्केगार्ड के अनुसार भी, हमारा भाव, मृत्यु की ओर उन्मुख एक अस्तित्व है, यह एक बीमारी है जो मृत्यु की ओर ले जाकर ही छोडेगी। लेकिन फिर भी एक तात्विक अन्तर है। कीर्केगार्ड के अनुसार मृत्यु एक प्रकार की चुनौती है, क्योकि शाश्वत और अनन्त-काल से हमे इसकी अवश्यभाविता का ज्ञान रहा है, जिससे निरन्तर हमे अपना ध्यान अनुभवातीत सत्ता की ओर लगाने के लिए वाध्य होना पडता है। अतिवादी अस्तित्ववादियो के अनुसार, मृत्यु उन सभी अभावात्मक अनुभूतियो का समर्थन करती है, जिन पर वे सकेन्द्रित करते हैं, यह इस बात का अन्तिम प्रमाण है कि जीवन निरर्थक है।

निरपेक्ष अस्तित्ववादियो को, जैसाकि हमने उन्हे सज्ञा दी है, आत्मनिष्ठ विधि का सही प्रयोग करने से रोका जाता है, क्योकि वे वस्तुनिष्ठता का पूर्ण वहिष्कार करते हैं और भावना द्वारा सत्ता को सम्पूर्ण रूप से वदल डालते हैं। वे जिसे—अवस्तुता को अस्तित्व का केन्द्र मानते हैं, वह निश्चय ही एक भावना है जिसकी तीव्र अनुभूति होती है। हम रिक्तता अर्थात् अपने भीतर पूर्ण शून्यता की अनुभूति कर सकते हैं और यह ऐसी भग्नाशा की ओर ले जा सकती है कि विनाश को छोडकर और कोई चीज सार्थक प्रतीत नही होती। फिर भी अवस्तुता के इस भाव को भूल से वाह्य सत्ता के सम्बन्ध मे कथन नही समझ बैठना चाहिये। वाह्य सत्ता मे हम केवल किसी वस्तु का अनुभव कर सकते है, रिक्तता एक

---

* अध्याय १ देखिये।

ऐसे दिक् के रूप मे ग्रहण की जाती है, जो वस्तुओ द्वारा मीमित है और उनके वैषम्य मे है। अगर सचमुच मे कोई वस्तु नही है तो इमका अर्थ है कि हम किसी वस्तु को ग्रहण नही करते। यह घिसी-पिटी वात लगती है, लेकिन यह भूल कि अवस्तुता को वाह्य तथ्य के रूप मे ग्रहण कर सकते है, अधिकाश अस्तित्व-वादी विचारधारा की जड मे है।

बाह्य सत्ता और आन्तरिक अनुभूति मे निषेध के भिन्न कार्य है। भौतिक जगत् अथवा मनुष्य के ऐतिहासिक वृत्तान्त मे निषेध का (जिमसे "अवम्तुता" शब्द-निर्माण मे सहायता मिलती है) विशुद्ध तार्किक कार्य ह, यह अनास्तित्व की ओर कभी सकेत नही करता, प्रत्युत् वह हमेशा किसी ऐसी वस्तु की ओर सकेत करता है जिसका अस्तित्व है। उदाहरण के लिए, इस कथन को समझने के लिए, कि "वर्ग-वृत्त का अस्तित्व नही होता", मनुष्य को वर्गो और वृत्तो, दोनो की जानकारी प्राप्त करनी होती है, अगर दृढतापूर्वक कोई यह कहता है कि "निर-पेक्ष लोकतन्त्र का अस्तित्व नही होता", तो सिद्धान्त और व्यवहार मे लोकतन्त्र के ज्ञान की पूर्व कल्पना की जाती है। लेकिन आन्तरिक अनुभूति मे, निषेध किसी ऐसी वस्तु की ओर सकेत करता है, जो वास्तव मे है, अस्ति और नास्ति मूल्य होते हैं, जैसे शुभ और अशुभ सौन्दर्य और कुरूपता दोनो समान रूप से सत्य हैं, भावात्मक तथा अभावात्मक भावनाओ मे वैषम्य होता है, जैसे हर्ष और शोक, अभिरुचि और तटस्थता, हमे पूर्ण जीवन की भी अनुभूति हो सकती है, सज्ञाहीन रिक्तता की भी हो सकती है, भग्नाशा उतना ही सत्य है, जितना सन्तोष। निषेध तो इतना सत्य हो सकता है कि यह समस्त भावात्मक निश्चि-तियो को भी नष्ट कर दे। अस्तित्ववादी अपनी आन्तरिक अनुभूति को ब्राह्य जगत् की चीज और इसकी व्याख्या के रूप मे प्राय देखते हैं, वे जगत् मे अपनी भग्नाशा का प्रक्षेपण करते हैं और प्रत्येक वस्तु को इसके अग के रूप मे देखते है। चूंकि वस्तुनिष्ठता को अस्वीकार किया जाता है और किसी भी ऐसी वस्तु की उपेक्षा की जाती है जो वस्तुनिष्ठ रूप से समझी जा सकती है, अत विश्व, मनुष्य, और निरपेक्ष सत्ता की वे सभी विशेषताएँ लुप्त हो जाती हैं, जो उन्हे वास्तविक बनाती है, अवस्तुता का विकास तब तक होता रहता है जब तक यह प्रत्येक वस्तु को निगल न जाय जैसाकि नीट्शे ने भविष्यवाणी की और हीडेगर इसकी पुष्टि करता है। अवस्तुता को छोडकर और कुछ नही रह जाता।

फिर भी अस्तित्ववाद की भावात्मक जडो के साथ यह सम्बन्ध सम्पूर्ण रूप से नष्ट नही होता। अवतुस्ता-बोध के विकास की तीव्र अनुभूति होती है, और

यह इतनी तीव्र अनुभूति होती है कि किसी भावात्मक उपलब्धि के लिए यह उत्कट इच्छा उत्पन्न करती है। इसकी अनुभूति एक धमकी के रूप मे होती है जिसका सामना करना है। अत सार्त्र और हीडेगर दोनो एक वास्तविक जीवन की माँग करते है अर्थात् एक ऐसी जीवन-पद्धति की माँग करते हैं जो हमारी सभी प्रकार की अज्ञानता और सहज कुतक-विश्वास के परे है और जो इस धमकी का सामना करती है। भग्नाशा और अवस्तुता की बढती हुई अनुभूति को हमे एक ऐसे जीवन की ओर ले जाना चाहिये जो सचमुच मे भावात्मक हो और जीने योग्य हो, तो निषेधात्मक या उन भयानक अनुभूतियो और अन्तर्दृष्टियो से छिन्न-भिन्न न हो सके, जिनसे, अगर हम ईमानदार है तो बच नही सकते।

यह सत्य है कि यह जीवन-पद्धति प्राप्त नही हो सकती और शायद ही, स्वय निरपेक्ष अस्तित्ववादियो ने इसके बारे मे बताया। फिर भी अपनी विचार-धारा के अन्तिम परिणामो को दिखला करके, वे उस तर्कबुद्धि युग के अति-रजित तर्कबुद्धिवाद का सामना करते है, जो अतिरजित अतर्कबुद्धि के साथ अभी भी हमारे साथ है और इस प्रकार वे हमे उन दोनो अतियो से अवगत कराते है, जिनसे हमें बचना होगा। हम निरपेक्ष तर्कबुद्धि और निरपेक्ष अतर्कबुद्धि के बीच से मार्ग बनाने मे समर्थ बना दिये गये हैं और कुछ कम अतिवादी अस्तित्ववादी, कीर्केगार्ड का अधिक निकटता से अनुसरण करते हुए, मार्ग बतलाना शुरू करते हैं। आगामी दो अध्यायो मे पहले हम निरपेक्ष अस्तित्ववाद पर विस्तार से विचार-विमर्श करेंगे और फिर मार्टिन ब्यूबर की ओर मुड जायेंगे, जिससे अस्तित्ववाद के एक दूसरे भावात्मक रूप को दिखलाया जा सके।

* * *

सात

फ्रेन्च और जर्मन अस्तित्ववाद के कुछ रूप

समकालीन अस्तित्ववादी दर्शन का विकास कई प्रकार से हुआ है। फ्रास मे, जॉ पाल सार्त्र और उनके अनुयायी निरीश्वरवादी हैं, जैब्राइल मार्शल एक रोमन कैथोलिक है और अलबर्ट कामू का मानवतावाद सार्त्र के मानवतावाद से बिल्कुल भिन्न है। जर्मनी मे मार्टिन हीडेगर और उसका सम्प्रदाय निरीश्वरवादी है, (कम से कम सभी व्यावहारिक उद्देश्यो से, वे भविष्य मे एक नये धर्म की सम्भावना को स्वीकार करते हैं) लेकिन हीडेगर ने ईसाई विचारको को काफी प्रभावित किया है जैसे रोमैने गार्डिनी को, और कार्ल जैस्पर्स ईश्वरवादी है और सामान्य रूप मे धार्मिक, हालॉकि वे ईसाई नही हैं। इग्लैण्ड मे हर्बर्ट फार्मर, डोनॉल्ड मैक किनान, जान मैक मुर्रे जैसे मुख्य ईसाई विचारको ने अस्तित्ववाद पर ध्यान दिया है। मार्टिन ब्यूबर अपने दर्शन को यहूदी विचारधारा पर आधारित करते हैं, निकोलस बर्डिव ईसाई तो हैं लेकिन सबसे स्वच्छन्द प्रकार के ईसाई है। यह सक्षिप्त नाम-निर्देशन, हालाँकि किसी भी तरह सर्वाङ्गपूर्ण नही है, फिर भी यह बतलाने के लिए तो पर्याप्त है कि प्राय अस्तित्ववाद अव्यवस्थित तो रहा है, पर इसने एक नया मार्ग प्रशस्त किया है।

अस्तित्ववाद के विस्तृत क्षेत्र का विचार प्रस्तुत करने के लिए मैं एक बार फिर चाहता हूँ कि मैं निरपेक्ष अस्तित्ववाद पर अपने ध्यान को केन्द्रित करूँ अर्थात्

मुख्य रूप से मै सार्त्र और हीडेगर के सम्प्रदायो पर अपना ध्यान एकाग्र करूँगा। हालाँकि मैं कुछ अन्य विचारको, विशेष रूप से जैस्पर्स की ओर भी सकेत करूँगा। जो ईसाई या धार्मिक है, वे सभी कम से कम कीर्केगार्ड की विचारधारा के कुछ अश को उसी रूप मे स्वीकार करते हैं। चूँकि हमने पहले ही उसके मत के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श कर लिया है, अत उसके दूसरे सिरे के सम्ब.ध मे विचार-विमर्श करने से, इस दर्शन के गूढ अर्थों को बतलाने मे सहायता मिलेगी। यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि सम्पूर्ण अस्तित्ववाद का एक सामान्य आधार है, क्योकि जिन कुछ तत्त्वो का उल्लेख किया गया है, वे फिर प्रकट होगे। अगर हम इसके सामान्य आधार और इससे उत्पन्न कुछ सबसे अधिक व्याघाती निष्कर्षो से अवगत हैं तो हम अस्तित्ववादी चिन्तन-विधि को समझने मे समर्थ होगे और इस प्रकार हम उन विचारो को भी समझेंगे जो यहाँ शामिल नही किये जा सकते। इसके अतिरिक्त निषेधात्मक अतिवादी विचारो से उन भावात्मक उपलब्धियो को अच्छी तरह समझने मे हमे सहायता मिलेगी जिनकी चर्चा हमने पहले की है और जिस पर हम दूसरे अध्याय मे विचार करेंगे।

हमारी परिभाषा के अनुसार निरपेक्ष अतिस्ततत्ववाद केवल अस्तित्व को दर्शन और चरमज्ञान का आधार बनाने का प्रयास है। इसका आधार यह विश्वास है, जैसाकि कई अस्तित्ववादी इसे इस प्रकार कहते है,—"तत्त्व के पहले अस्तित्व आता है और इस विश्वास से कई निष्कर्ष निकलते है।"

आरम्भ मे यह कथन स्वाभाविक रूप से व्यक्ति के जन्म, उसके अस्तित्व की उत्पत्ति के रहस्य की ओर, जिसका हमने उल्लेख किया है,* हमारा ध्यान आकर्षित करता है और समस्त युगो के समस्त प्राणियो के सामान्य तत्त्व पर एकाग्र करने से सहज हमारे ध्यान से निकल जाता है। अधिकाश अस्तित्ववादी पास्कल और कीर्केगार्ड के सम्भ्रम को ही प्रतिध्वनित करते हैं और इसे और अधिक बल प्रदान करते है। तर्कनावाद को और भी अस्वीकार्य बना दिया जाता है लेकिन इस मूल्य पर कि जिन समस्याओ पर दर्शन सामान्यत विचार करने का दावा करता है उनमे किसी भी समस्या का समाधान करने मे यह असमर्थ बना दिया जाता है, अतर्कबुद्धिवाद एक सिद्धान्त की क्षमता वहन करने का साहस करता है, और निरर्थकता और भग्नाशा का मार्ग तैयार करता है। इस प्रकार, सार्त्र का एक अनुयायी जार्जस बैटली कहता है

---

* पृष्ठ ९६ देखिये।

अगर मैं इस विश्व मे आने का विचार करूँ—जहाँ जन्म हो और फिर, पुरुष और स्त्री का मिलन हो, और मिलन की इस घडी मे—एक विलक्षण सयोग इस आत्मा की सम्भावना का निश्चय करता है कि मैं हूं, सचमुच मे यह मात्र सत्ता की अविवेचित असम्भाव्यता है, जिसके विना मेरे लिए, किसी भी वस्तु का अस्तित्व नही रहेगा। उस श्रृंखला मे थोडा भी परिवर्त्तन करने से, जिसकी मैं सज्ञा हूँ और उस आत्मा के स्थान पर जिसके लिए मैं स्वय उत्सुक हूं, कुछ और ही होना, और जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, केवल अवस्तुता रह जाती, उसी प्रकार पूर्ण, जिस प्रकार कि मेरी मृत्यु हो गयी होती।

मैंने कुछ हद तक यह दिखलाने के लिए उद्धरण प्रस्तुत किया है कि इस विचार मे भावात्मक तत्त्व—जिससे हम जन्म के रहस्य से अवगत होते हैं और अल्पज्ञता से बचते हैं—किस प्रकार धीरे-धीरे उन विरोधाभापी तत्त्वो से अत्यधिक प्रभावित हो जाता है, जो तार्किक तो है, लेकिन शायद ही इनका कुछ अर्थ निकलता हो। सुस्पष्ट रूप से मैं केवल अपने अस्तित्व के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श कर सकता हूँ न कि अपने अनास्तित्व के सम्बन्ध मे, क्योकि अगर मेरा अस्तित्व नही है तो मैं "मैं" नही कह सकता। अगर किसी और के मूल्य पर अस्तित्व की महत्ता वढानी है तो महत्ता के ऐसे गुप्त स्थान के परिवर्त्तन होने अनिवार्य है। चूँकि इसमे अन्तर्वस्तु का अभाव है अत अपरिहार्य रूप से यह प्रतीत होता है कि यह कुछ रहस्यात्मक गुण प्राप्त कर लेता है। किन्तु चूँकि किसी भी यथार्थ रहस्यवाद के एकमात्र सम्भावित स्रोत अर्थात् अनुभवातीत सत्ता का बहिष्कार किया जाता है अत यह रहस्यवाद अस्पष्ट और अनिश्चित होगा। रहस्यवाद मे कोई अन्तर्वस्तु होनी चाहिये, जो प्रतिपल से अनुभवातीत हो, विरोधाभासो की सहायता से, एक ही प्रकार के भाव का केवल आह्वान करना अपर्याप्त है।

अस्तित्व की विविक्ति सामान्य रूप से इस बात की अपेक्षा करती है कि एक व्यक्ति पर एकान्तिक रूप से ध्यान दिया जाय। विश्व के साथ हमारा तत्त्वत सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध सामान्य मानवीय प्रकृति और उन सामान्य नियमो से है जिन पर हम विश्वास कर सकते हैं। साथ ही, यह भी सत्य है कि आन्तरिक अनुभूति पर आधारित हमारी प्रकृति के पूण ज्ञान से वैयक्तिक सहभागिता की आवश्यकता होती है और इस प्रकार हमारे लिए सत्ता सम्पूर्ण रूप से सत्य होती है। हमे बार-बार इस दावे की ओर सकेत करना पडता है कि "व्यक्ति सत्य है।" लेकिन निरपेक्ष अस्तित्ववाद मे इस दावे का रूपान्तरण "व्यक्ति ही

सत्य है" मे हो जाता है और यह दावा किया जाता है कि मैं अपने अस्तित्व के सिवा और कुछ नही जान सकता। फिर भी यह स्पष्ट रूप से गलत है, अगर यह गलत न हो तो आन्तरिक अनुभूतियाँ असम्भव हो जाएँ। हम दूसरो के साथ मिलने से अर्थात्—"तुम" मे मिलने से, अपने अस्तित्व अर्थात् "मैं" से अभिन्न हो जाते है जैसाकि हम दूसरे अध्याय मे देखेगे, क्योकि हमारी आत्मचेतना अन्य व्यक्तियो और वस्तुओ की अनुभूति से जागृत होती है, इसलिए वे सभी हमारे लिए एक साथ यथार्थ हो जाते हैं। अगर पूर्ण विवक्ति मे हमारा विकास हो तो हम मानवीय मन का विकास नही कर सकते और हमारा अस्तित्व अचेतना मे हमारे लिए अवगुण्ठित रहेगा—अर्थात् यह अज्ञात हो जायगा। विकसित चेतना की अवस्था मे भी हमारा अस्तित्व अन्य कई अनुभूतियो की अपेक्षा अधिक रहस्यात्मक रहता है, उदाहरण के लिए, नैतिकता को समझना अधिक कठिन हो जाता है। उस वैयक्तिक महत्ता का, जो हमारी अनुभूति को निर्दिष्ट करने के लिए महत्त्वपूर्ण है उस समय विरूपण हो जाता है जब किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु के अस्तित्व से व्यक्ति को पृथक् करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

लेकिन इस महत्ता के भावात्मक पक्ष से हमे और भी बहुमूल्य ज्ञान प्राप्त होता है। जन्म के रहस्य से इस बात का पता चलता है कि हम अपने अस्तित्व को चुनने मे असमर्थ हैं, यह हम पर लादा गया है। फिर भी अस्तित्व की पूर्व-वर्तिता मे आस्था को न्यायोचित बनाने के लिए, अस्तित्ववादियो को चाहिये कि वे इसे किसी अर्थ मे अपने वरण की वस्तु बनाएँ और वे इस बात को विश्वसनीय रूप से दिखलाते हैं कि हमारे अस्तित्व का कितना अश यथार्थ रूप से हमारे ऊपर निर्भर करता है। सार्त्र यह उदाहरण प्रस्तुत करता है "वरण के बिना मैं अशक्त हो सकता हूँ, लेकिन जिस रूप मे मैं अपनी अशक्तता मानता हूँ उस रूप मे मैं अशक्त नही हो सकता, (जैसे 'असहिष्णुता,' 'नम्रता', 'प्रच्छन्न होना', 'सबके सामने प्रदर्शित करना' आदि) मैं अपनी सत्ता मे स्वय का वरण नही करता, प्रत्युत सत्ता बनने की रीति मे वरण करता हूँ।" वह कहता है कि "मेरे अतीत के साथ भी यही बात है, यह निर्विकार रूप से निर्धारित प्रतीत होता है, लेकिन इसके प्रति जो मैं अभिवृत्ति ग्रहण करता हूँ, उससे मैं इसे रूपान्त-रित कर सकता हूँ।" यह बाह्य वस्तुओ के प्रति कीर्केगार्ड की अभिवृत्ति का स्मरण कराता है, जैसे सामाजिक भेद, जिन्हे अर्थ निर्णय से ही सार्थक बनाना होगा, जो एक ऐसी क्रिया है जिसे "पुनरावृत्ति" शब्द के विशेष प्रयोग से इस दावे मे व्याख्या करने में उसे सहायता मिलती है कि हमे अपने अतीत को

निरन्तर रूप से दोहराना चाहिये जिससे पिछली अनुभूतियो के प्रकाश मे इमे रूपान्तरित किया जा सके और इस प्रकार निरन्तर रूप से इसे अधिक से अधिक अर्थ प्रदान किया जा सके।

फिर भी चरम सत्ता के बारे मे कहने की इच्छा भी यहाँ एक अडचन है। सार्त्र किसी के अस्तित्व के बारे मे अर्थ प्रतिपादन करने की सम्भावना इस प्रकार व्यक्त करता है "पहले मनुष्य है—उसके बाद ही वह कुछ है। मनुष्य को अपने तत्त्व का स्वय निर्माण करना होगा।" या इसे और भी अधिक स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है "मनुष्य नही है प्रत्युत वह स्वय का निर्माण करता है।"[1] सक्षेप मे वह इस बात का दावा कर रहा है कि हम अपनी मानवीय प्रकृति के विभिन्न पक्षो को अधिकाधिक रूप से समझ करके अपने व्यक्तियो का केवल विकास नही कर रहे है, प्रत्युत सम्पूर्ण रूप से और स्वेच्छा से स्वय का निर्माण कर रहे हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि अपने अस्तित्व की अपेक्षा अपने तत्त्व के *सम्बन्ध मे वरण करने का हमारा कुछ अधिक अधिकार है, हम मानववाणी के* रूप मे कार्य करते है, चाहे हम कुछ भी करें। हम अपने अन्दर या तो मानवता का विकास करते है, उसे शक्ति प्रदान कर सकते हैं और उसे शुद्ध कर सकते है, या इसे निम्नीकृत कर सकते है और इसे प्राय समाप्त कर सकते है, लेकिन जैसाकि फ्रासीसी आलोचक प्राय कहते हैं, हम किसी भी प्रयास से स्ट्रावेरी या मटर या बिल्ली नही बन सकते।

यह भूल उसी प्रकार की है जिस प्रकार कि हम तर्कना को निरपेक्ष समझने की करते हैं, जिसके सम्बन्ध मे हमने प्रथम व्याख्यान मे विचार-विमर्श किया है। तर्कबुद्धि युग ने ज्ञान की सीमाओ की उपेक्षा की, और वे सब अधिक उपेक्षा करते हैं जो अभी भी इससे चिपके हैं, निरपेक्ष अस्तित्ववादी भी इन सीमाओ की उपेक्षा करते हैं और इनके अतिरिक्त मानवीय क्रियाओ के सम्भावित क्रियाओ की भी उपेक्षा करते हैं। चूँकि वे तर्कबुद्धि को अस्वीकार करते हैं, अत जिन लोगो ने तर्कबुद्धि को अनावश्यक महत्त्व दिया है उन लोगो की अपेक्षा अपनी शक्तियो की सभी वर्त्तमान सीमाओ को समाप्त करना वे आसान समझते है। निरपेक्षता को प्राप्त करने के लिए गलत प्रकार का प्रयास करने से हम सभी वास्तविक वस्तुओ, विचार भाव और कार्य की वर्त्तमान स्थितियो से दूर चले जायेगे, उचित प्रकार के प्रयास से, कीर्केगार्ड की तरह, हमे उनसे निरपेक्ष सत्ता की अनुभूति का अवसर प्राप्त होगा और इस पर विचार करते समय उन्हे मार्गदर्शन का

साधन बनायेंगे। गलत प्रयास सत्ता की अवहेलना करता है और इसे विकृत करता है, उचित प्रयास इससे श्रेष्ठ होता है।

निरपेक्ष अस्तित्ववादी एक ऐसे युग का विद्रोह करते हुए जो नियतत्ववाद से प्रभावित है, मनुष्य की पूर्ण स्वतन्त्रता स्थापित करना चाहता है, और उनका यह दृढ कथन कि वह स्वय का निर्माण कर सकता है, इस बात को सिद्ध करता है। सार्त्र इस बात पर बल देता है—"Dieu n' existe pas", अत मनुष्य स्वय अपना स्वामी है। स्वतन्त्रता पर इस प्रकार का बल देना नियतत्ववाद के विरुद्ध सही प्रतिक्रिया हो सकती है, लेकिन आगे वह इस स्वतन्त्रता को नुकसान पहुँचाता है, जिसके लिए वह सफाई देना आरम्भ करता है।

इसमे सन्देह नही कि मानवीय स्वतन्त्रता वास्तविक है, हमने पहले भी यह कहा है कि इसके मनोवैज्ञानिक रूप मे भी, हमे यह नही समझना चाहिये कि यह उसका स्थान ले रहा है,* अर्थात् हमे अगर मनुष्य को समझना है तो स्वतन्त्रता से आरम्भ करना होगा। इसलिए यद्यपि स्वतन्त्रता पर बल देने का भी महत्त्व है फिर भी इसे सीमाविहीन समझना महान् भूल है, क्योकि यह न केवल बाह्य अवस्थाओ से सीमित है (इन पर हम जल्द ही विचार करेंगे,) प्रत्युत मानवीय अस्तित्व के तत्त्व से भी अधिक सीमित है। स्पष्टत सम्प्रत्यय को लायसेंस या स्वेच्छाचारिता मे अपभ्रष्ट नही होने देना चाहिये, इसे, जैसाकि हमने देखा है उत्तरदायित्व, नैतिकता और मौलिक मूल्यो और मानको, सत्य और प्रेम के सम्पूर्ण क्षेत्र से हमे परिचित कराना चाहिये। हम तभी स्वतन्त्र रह सकेंगे जब हम उन कार्यों का वरण करेंगे जो स्वतन्त्रता को अर्थ प्रदान करते हैं और इसकी अभिवृद्धि करते है, अगर हम केवल जैसा चाहते हैं वैसा करेंगे तो हम भीतर या बाहर की अलक्षित बाध्यताओ के वशीभूत हो जा सकते है और इस प्रकार हम फिर अपनी स्वतन्त्रता खो बैठेंगे। स्वतन्त्रता को असीमित और इस प्रकार अपरिभाषित देखने से यह निरर्थक हो जायेगी।

हमारे लिए स्वतन्त्रता का अस्तित्व दो रूपो मे है, जिन्हे हम कुछ विरोधाभाषी रूप मे कह सकते हैं "वरण-स्वातन्त्र्य" और "स्वतन्त्रता-वरण।" अगर हम स्वतन्त्र हैं तो हमे वरण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये लेकिन या तो इसे हम इस रूप मे वरण कर सकते हैं जो रूप यथार्थ रूप से हमे स्वतन्त्र करता है या एक गलत रूप मे वरण कर सकते हैं जिससे हम फिर गुलाम बनते हैं। स्वतन्त्रता की सम्भवत सबमे अच्छी परिभाषा इस रूप मे दी जा सकती है कि जिसमे

* पृष्ठ ६ देखिये।

हम सम्पूर्णत सकल्प स्वातन्त्र्य से कार्य करते है, लेकिन अगर हमे फिर गुलाम नही बनना है तो हमे अपनी यथार्थ प्रकृति के अनुसार कार्य करने की चाह होनी चाहिये जिससे इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो सके, अन्यथा हम यह पायेंगे कि हम ऐसे कार्यो को करने के लिए बाध्य हो जायेंगे जो हमारी प्रकृति के विरुद्ध है। उदाहरण के लिए, अगर हम धन या शक्ति मे वरण करते है तो यह वरण हमे गुलाम बनाता है, क्योकि यह हमे ऐसे कार्यों को करने के लिए बाध्य करता है जो हमारी वास्तविक मानवता के विरुद्ध है, जितना अधिक हम इस वरण के अनुसार काम करते है उतना अधिक प्रारम्भिक अभिव्यक्ति से इतर हमारी प्रकृति मे किसी अन्य को देना हमारे लिए असम्भव हो जाता है। तत्त्व शब्द हमारी यथार्थ प्रकृति की ओर सकेत करता है। कीर्केगार्ड ने इसकी परिभाषा नैतिक-आत्मा के रूप मे दी थी और निश्चय ही इसका अधिक विस्तार करने की आवश्यकता है, लेकिन ठीक यही महत्त्वपूर्ण विस्तार है, जो असम्भव बना दिया जाता है, अगर तत्त्व की अवहेलना की जाय और स्वतन्त्रता को असीमित रूप मे देखा जाय—अर्थात् यह तो उसी प्रकार है जिस प्रकार परिभाषा को चुनौती देने की बात है। इस प्रकार निरपेक्ष अस्तित्ववादी केवल यही मानते हैं कि हमे वरण करना चाहिये, वे यह नही मानते कि हमे उचित प्रकार की स्वतन्त्रता और कार्य का भी वरण करना चाहिये।[1]

चूंकि "अस्तित्व" शब्द मे वह ऐतिहासिक स्थिति शामिल है जिसमे हम अपने को पाते हैं, अत अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता की बाह्य सीमाओ पर ध्यान देने के लिए विवश हो जाते है। हीडेगर के अनुसार—हमारी सत्ता "एक ऐसी सत्ता है जो किसी ऐतिहासिक स्थिति मे डाल दी गयी है" जिसमे हम बच नही सकते। अपनी स्वतन्त्रता को बचाने के लिए हमे अपनी स्वेच्छा से इस स्थिति को स्वीकार करना पडता है, चूंकि हम इसमे परिवर्त्तन नही कर सकते, अत इसे हमने अपने अस्तित्व मे शामिल करके अपना बना लिया है। इसके अतिरिक्त इस अभिवृत्ति मे एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, अगर हम किसी ऐसी चीज के लिए निरन्तर सघर्ष करते हैं, जिसमे हम परिवर्त्तन नही कर सकते तो हम अपनी शक्ति बरबाद करेंगे और सम्भवत अपने जीवन को भी बरबाद करेंगे, हमे एक ऐसी चीज की मान्यता पर अपने प्रयासो को आधारित करना होगा जो अपरिवर्त्तनीय है। फिर भी, हमे बाह्य बाध्यताओ के विरुद्ध सघर्ष करना होगा, जिससे हम उस मात्रा को खोज निकालें—जो शायद ही बिल्कुल स्पष्ट है—जिसमे हम अपनी स्थिति मे परिवर्त्तन ला सकें और अगर ऐसा नही हुआ तो हम बहुत आसानी से

प्रत्येक स्थिति से हार मान जायेंगे और इससे हमारे गुण विकृत हो जायेंगे। लेकिन निरपेक्ष अस्तित्ववादी इस प्रकार सघर्ष नही करते। सच तो यह है कि वे इस ऐतिहासिक स्थिति का पूर्ण रूप से सामना नही करते, वे केवल उसी को अगीकार करते हैं जो उनके दर्शन का किसी प्रकार अग है—यथा, भग्नाशा। वे अपनी भग्नाशा का वाह्य सत्ता मे प्रक्षेपण करते हैं, जैसाकि हमने पहले कहा है, और तब भग्नाशा को स्वीकार करके ऐतिहासिक स्थिति को अपना बना लेते है। "मेरा भय स्वतन्त्र है और यह स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है, मैं अपनी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता को अपने भय मे रखता हूँ और मुझे इसके लिए स्वतन्त्रता है।"[१]

प्रगट रूप से, इस स्थिति को विवादग्रस्त या अभी निराशाजनक रूप मे देखना अनुचित नही है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि निरपेक्ष अस्तित्ववादी वास्तविक ऐतिहासिक स्थिति के साथ न्याय नही कर पाते। हमने पहले इस बात का उल्लेख किया है कि हीडेगर और सार्त्र के राजनीतिक निर्णय अस्पष्ट है। वे अनिश्चित भी हैं। हीडेगर किसी समय के नाजी हो गये और बाद मे उन्होने नाजीवाद की निन्दा की, सार्त्र साम्यवादी बने और बाद मे उन्होने दल को छोड दिया। उन्होने इस स्थिति को अपना नही बनाया, इसके सामने आत्म-समर्पण किया, क्योकि उनके ऐतिहासिक निर्णय मे किसी उचित आधार का अभाव था। इसके अतिरिक्त अधिकाश निरपेक्ष अस्तित्ववादी, प्राकृतिक विज्ञान पर कम ही ध्यान देते है। हीडेगर ध्यान तो देता है, लेकिन इसके सम्बन्ध मे उसके कथन सगत होने की अपेक्षा रहस्यमय है। इस प्रकार, हमारी वर्त्तमान स्थिति के अधिकाश महत्त्वपूर्ण तत्त्वो पर विचार नही हो पाता।

इन सारी भूलो का कारण यह है कि वस्तुनिष्ठता को आत्मनिष्ठ विधि का सहायक नही बना पाते। अस्तित्ववादियो द्वारा उन दार्शनिको की अवहेलना करने से, जो तत्त्व पर एकाग्र करते है, सामान्य रूप मे अस्तित्ववाद के गुणो और इसके निरपेक्ष रूप मे दोषो का बहुत ही स्पष्ट रूप से पता चलता है। यह सत्य है कि केवल तत्त्व पर एकाग्र करने से हम अमूर्तकरण की ओर अग्रसर होते हैं और इस प्रकार दर्शन को जीवन से अलग कर देते है। इस प्रकार के दर्शन की ठीक ही आलोचना की जाती है, अगर इसे जीवित होना है तो अस्तित्व के साथ तत्त्व को मिलना होगा। फिर भी तत्त्व को छोडा नही जा सकता, क्योकि अगर ऐसा किया जाता है तो अस्तित्व सारहीन हो जाता है। एक सम्पूर्ण अपरिभाषित प्राणी के रूप मे, अर्थात् भौतिक रूप मे जिसका रूपान्तरण किसी भी वस्तु मे हो सकता है, मनुष्य के सम्बन्ध मे विचार करना निश्चय ही गलत

है, वह मानव-प्राणी क्यों कहलाता है, इसके कुछ कारण हैं और उसका मानव-पन उसके प्रयासो का आधार बनाया जा सकता है और उसे बनाना भी चाहिये। हमारा सामना एक ऐसी बाह्य-सत्ता से हो जाता है जिसके अनुकूल हमे अपने जीवन को बनाना है और इसे उसी प्रकार समझना है, जिस प्रकार ऐतिहासिक स्थिति को। अगर तत्त्व लुप्त हो जाता है तो उसके साथ ऐसी प्रत्येक साकार वस्तु भी समाप्त हो जाती है, जो हमारे अस्तित्व के बोध का मार्गदर्शन कर सके—जो मनुष्य स्वतन्त्रता, अनुभवातीत सत्ता, बाह्य-सत्ता और ऐतिहासिक सत्ता की विशेषताएँ हैं।

इस प्रकार इसमे कोई आश्चर्य की बात नही कि सार्त्र अपने को पूर्ण शून्यवाद मे डाल देता है। वह यह कहने के लिए बाध्य हो जाता है "सभी वर्तमान प्राणियो का जन्म अकारण हुआ है, निर्बल बनकर रहता है और अकस्मात उसकी मृत्यु हो जाती है मनुष्य एक निरर्थक भावावेश है। हमारा जन्म लेना निरर्थक है और हमारा मरना निरर्थक है।" जैसाकि नीट्शे ने ठीक ही अनुमान लगाया कि ईश्वर के बिना मनुष्य स्वय ईश्वर बनने का प्रयास करेगा, लेकिन यह भी सार्त्र के लिए निरर्थक हो गया है, उसके अनुसार "मानवीय सत्ता किसी ऐसे आधार के बिना ही ईश्वर बनने का विशुद्ध प्रयास है जिस पर इस प्रयास को आधारित किया जा सके और बिना किसी मतलब के वह इस प्रकार का प्रयास करता है।"[1] चूंकि किसी अन्तर्वस्तु की मात्र सम्भावना को अस्वीकार किया गया है, अत अवस्तुता के सिवाय और कुछ नही रह सकता। इसी प्रकार हीडेगर कहता है "अस्तित्व के क्रोड मे, अवस्तुता विलीन हो जानेवाली अवस्तुता है।"[2] इस आधार पर, यह उस व्यक्ति को ही विसर्जित करती है, जिसे अमूर्तिकरण से बचना था। साइमन डी ब्यूबर का विचार है "किसी दर्पण मे व्यर्थ ही मैं अपने आप को देखता हूँ, अपनी कहानी स्वय कहता हूँ, मैं किसी सम्पूर्ण वस्तु के रूप मे अपने आप को कभी समझ नही सकता, मैं अपने आप मे रिक्तता का अनुभव करता हूँ जो अपने आप मे हूँ, मैं अनुभव करता हूँ कि मैं नही हूँ।"[3]

हीडेगर के लिए, चेतना की भी समस्या उत्पन्न होती है, लेकिन इससे भी वही निष्कर्ष निकलते है। विश्व के प्रति चेतनशील होकर ही हम इससे अभिज्ञ होते हैं और इस प्रकार हीडेगर यह कहने का अधिकारी समझता है कि "सत्ता चेतना में है" और इस तथ्य से ही "सामान्यत रूप से एक सत्ता सम्प्रत्ययन करना" सम्भव होता है।[4] देखने पर यह ज्ञानमीमासीय कथन-सा लग सकता है कि

"मन तत्काल वस्तुओ के सम्बन्ध मे नही जानता है, प्रत्युत उनके बारे मे जो विचार हैं उनकी मध्यस्थता से जानता है।"[1] परन्तु यह सस्कार भ्रामक है, ज्ञानमीमासा की उपेक्षा की जाती है, हीडेगर स्वय इस चेतना को समझना चाहता है। लेकिन हम चेतन तभी होते है जब हमे किसी वस्तु की चेतना होती है, जिन वस्तुओ की हमे चेतना है, उसमे ही चेतना यथार्थ होती है, इसे उसी रूप मे समझा नही जा सकता। अत ऐसा करने के प्रयत्न से अनिवार्यत पूर्ण अवस्तुता मे दृढ विश्वास जागता है। सार्त्र इस निष्कर्ष पर पहुँचता है "इस प्रकार की सत्ता मे, जिसे ज्ञान कहा जाता है, जिस एकमात्र सत्ता का सामना हमारा होता है, वह सनातन रूप से ज्ञान है। ज्ञाता का अस्तित्व नही होता, उसे नही समझा जा सकता . ज्ञात की विद्यमानता अवस्तु की विद्यमानता है।[2] इस स्थिति मे सुधार लाने के लिए सार्त्र चेतना की भी उपेक्षा करता है, मामला और भी उलझ जाता है, जब वह कहता है कि चेतन सविमर्श हमेशा बनावटी होता है ..जब मै सविमर्श करता हूँ तो मामला पहले ही तय हो जाता है...जब तक कि सकल्प बीच मे आ पडे, निर्णय पहले ही ले लिया जाता है।"[3] जब हम इस बात का निर्णय करते हैं कि क्या करना है तो हम अपने को धोखा तो दे सकते है .. लेकिन चेतन सविमर्श के बिना दर्शन का कभी विकास कैसे किया जा सकता है ?

वास्तव मे यही रिक्तता है जिसकी नीट्त्शे ने भविष्यवाणी की, ऐसी शून्यता है जो सब कुछ लील जाती है। हीडेगर के कथनानुसार "अवस्तुता अधिक से अधिक अवस्तुता की सृष्टि करने के कार्य मे लगी है।" लेकिन क्या यही अवस्तुता जिसका अभिज्ञान इसलिए अमूल्य लगा कि यह हमे "एक प्रामाणिक जीवन" व्यतीत करने की चुनौती देती है ? इस अवस्तुता से बचने का कोई साधन यह प्रस्तुत नही करती और इसमे प्रामाणिक जीवन नष्ट होने की आशका भी उत्पन्न होती है, क्योकि यह अपनी वास्तविक स्थिति का सामना करते समय मिलनेवाली शून्यता नही है। यह अधिक निरपेक्ष अस्तित्ववादी की अपनी सृष्टि है। इन अतिवादी निष्कर्षों से इस बात का पता चलता है कि हमे इस रिक्तता को वहाँ देखना चाहिये जहाँ यह वास्तविक रूप से है।

सार्त्र इस असीम अवस्तुता से बचने का प्रयास करता है, वह मनुष्य की मर्यादा बचाना चाहता है और उसका उत्तरदायित्व स्थापित करना चाहता है। हमने पहले इस प्रयास की ओर सकेत किया है और कहा है कि यह असफल रह

जाता है क्योकि अनुभवातीत सत्ता वहिष्कृत रहती है।* लेकिन चूंकि यह प्रयास काफी सच्चा है, अत यह असफलता वास्तव मे कारुणिक है, क्योकि सार्त्र स्वय उस समय इस बात को स्वीकार करता है जब वह अपनी भग्नाशा की व्याख्या करने के लिए इसका प्रयोग करता है।

"अगर मनुष्य वही है जिसका निर्माण वह स्वय करता है और अगर वह स्वय का निर्माण करने मे सम्पूर्ण जाति का उत्तरदायित्व अपने ऊपर वहन करता है, अगर न तो कोई मूल्य है न प्राग्नुभव निर्धारित नैतिकता, लेकिन अगर प्रत्येक मामले मे, बिना किसी आधार, किसी मार्गदर्शन के अगर हमे अकेले ही निर्णय करना है तो फिर चिन्तित हुए बिना कैसे रह सकते है जबकि हमे कार्य करना है ? हमारे प्रत्येक कार्य मे विश्व का अर्थ और विश्व मे मनुष्य का स्थान खतरे मे पड जाता है, चाहे हम न चाहे तो भी प्रत्येक कार्य से हम विश्वजनीन मूल्यो का सोपान बनाते है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि ऐसे पूर्ण उत्तरदायित्व के समक्ष हम भयाक्रान्त नही होंगे ?"[1]

एक बार फिर मैंने कुछ विस्तार से उद्धरण प्रस्तुत किया है क्योकि यह अवतरण प्रकट रूप से "अगर" का खण्डन करता है जिसमे सार्त्र आरम्भ करता है। वह यह मान लेता है कि हम पूर्ण परिणाम प्राप्त नही कर सकते, क्योकि मनुष्य स्वय का निर्माण करता है, उसका "पूर्ण" उत्तरदायित्व है। लेकिन क्या "पूर्ण" उत्तरदायित्व सम्भव है ? शायद ही यह विश्वसनीय है कि एक व्यक्ति "सम्पूर्ण जाति"—"सभी के लिए" निर्णय करे क्योकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने बारे मे निर्णय करना होता है जैसाकि सही अस्तित्ववाद बतलाता है। हमारे कार्य इतने गलत या उग्र हो सकते हैं कि उनसे कई लोगो के लिए, या किसी सम्पूर्ण समाज के लिए भी विश्व का अर्थ और विश्व मे मनुष्य का स्थान खतरे मे पड सकते है, लेकिन अगर अर्थ और मनुष्य के स्थान दोनो का सचमुच मे अस्तित्व है तो किसी भी व्यक्ति का कोई कार्य उन्हें नष्ट नही कर सकता। हम निश्चय ही किसी निरपेक्ष अनुभवातीत सत्ता के प्रति उत्तरदायी हैं और अपने कार्यों के लिए भी पूर्णरूप से उत्तरदायी हैं जिनमे अन्य लोगों के लिए भी उत्तरदायित्व शामिल हो सकता है। लेकिन यह निरपेक्ष है जिन्हें सार्त्र स्वीकार नही करता, अत वह इनके स्थान पर एक वाह्य असीम निरपेक्षता लाता है जिसका कोई अर्थ नही निकलता क्योकि हम ईश्वर नही है। हम जिन्हे उचित मूल्य समझते

* पृष्ठ ८६-७, देखिये।

है उन्हें अपने कार्यो से मजबूत या कमजोर बना सकते हैं लेकिन अन्य लोगो द्वारा इनकी स्वीकृति और इस प्रकार इनकी विश्वजनीनता हम पर निर्भर नही करती।

इसके अतिरिक्त इस दर्शन मे ऐसी कोई चीज नही जो हमे अपने मन को किसी क्षण बदलने से रोके और इस प्रकार हमारे कार्य जो अर्थ प्रकट करते प्रतीत होते हैं, उन्हें फिर वह अमान्य ठहराये—वास्तव मे ऐसी कोई चीज नही है जो पूर्ण अनुत्तरदायित्व को रोके। सार्त्र भी कहता है "निरन्तर अपने को चुनने के लिए मैं बाध्य कर दिया गया हूँ" अर्थात् कोई भी वरण एक क्षण के लिए ही किसी को बाँधता है। उसके कथन एक ऐसे व्यक्ति की भग्नाशा के हृदयस्पर्शी क्रन्दन हैं, जो अनुभवातीत सत्ता, नैतिकता और मूल्यो मे विश्वास करने की अपनी असमर्थता के विनाशकारी परिणामो को जानता है लेकिन वह आडम्बर-पूर्ण अमूर्त दावो से उत्तरदायित्व की वास्तविक अनुभूति को झुठलाता है। या तो उत्तरदायित्व और अनुभवातीत सत्ता है, या कोई उत्तरदायित्व है ही नही।

सार्त्र दर्शन के स्रोत और इसकी असफलता उसके नाटक "द-फ्लाइज" मे स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। जहाँ तक क्लीटम्नेस्ट्रा द्वारा ऐगमेम्नन की हत्या करने और अपने पिता की हत्या का बदला लेने के लिए ओरेस्टस द्वारा उसकी हत्या करने का सम्बन्ध है, यह यूनानी आख्यायिका पर आधारित है, इसके अतिरिक्त यह कथा पूर्णरूप से रूपान्तरित है। इस नाटक के आरम्भ मे, चूँकि क्लीट्म-नेस्ट्रा अपने दोष का प्रायश्चित नही करती, शहर को इस रूप मे सजा मिलती है कि वहाँ चारो ओर अनगिनत मक्खियाँ भर जाती है—घिनावनापन का समा-वेश इसलिए किया गया है कि दैवी कोप के सम्बन्ध मे हमारा विचार बलवान हो। ओरेस्टस केवल अपने बारे मे ही चिन्तित है, उसकी मुख्य समस्या है "मैं कौन हूँ ? शायद ही मेरा अस्तित्व है।" यह अधिकाश निरपेक्ष अस्तित्ववादियो की स्थिति व्यक्त करती है। वे अपने दैनिक जीवन के अस्तित्व को अर्थ देने मे अस-मर्थ हैं। (जो शायद ही सम्भव है, अगर कोई निरपेक्षता चाहे और निरपेक्ष को अस्वीकार करे), उनका ख्याल है कि उनका जीवन निरर्थक और यथाथ है, अत वे कोई "महान्" कार्य करने का कठिन प्रयास करते हैं। ओरेस्टस को भी यथार्थ बनने के लिए कुछ करना होगा, अत वह अपनी माँ की हत्या करता है, लेकिन न तो इस उद्देश्य से कि वह अपने पिता का बदला ले, न न्याय की पुनरस्थापना करने के उद्देश्य से, प्रत्युत केवल अपने जीवन को अर्थ प्रदान करने के उद्देश्य से। वह स्पष्ट रूप से कहता है "कोई शुभ और अशुभ नहीं है मेरा काय शुभ था

क्योकि मैंने इसे किया है प्रत्येक मनुष्य को अपना मार्ग ढूँढना चाहिये।" इस प्रकार शहर का दोप उसका दोष बना दिया जाता है, वह चुपके से वह दोप अपने ऊपर ले लेता है और गर्व से मक्खियो से घिरा हुआ प्रस्थान करता है, इस बात की पुष्टि करने के लिए कि सत्ता उसकी पूर्ण पकड मे है, घिनावनापन की एक बार फिर आवश्यकता पडती है। वह उस ईश्वर से अब मुक्ति पा लेता है जिसने उसे अपनी माँ की हत्या करने का मार्ग बताया, क्योकि उसने इस काय का अर्थ भिन्न रूप से लगाया है, वह अपनी स्वतन्त्रता पहचान लेता है। "मुझे अपनी स्वतन्त्रता मिल गयी है" यह नैतिकता से मुक्ति है, इसका उद्देश्य भग्नाशा है।

इस मुक्ति की अर्थहीनता, हत्या करना और जुगुप्सा के साथ आलिगन करना— निश्चय ही स्पष्ट है। यह नाटक 'फ्रेन्च रेसाँ' को प्रोत्साहित करने के लिए लिखा गया था और इसे पेरिस मे बडे साहस के साथ दिखलाया गया जबकि फ्रास पर नाजी आधिपत्य था। लेकिन चूँकि न तो शुभ का अस्तित्व है, न अशुभ का, अत नाजियो द्वारा की गयी किसी भी हत्या का समर्थन करने के लिए इसका समान रूप से प्रयोग किया जा सकता है। अस्तित्व की "यथार्थता" विभिन्न कार्यो के मूल्यो के बीच सभी भेदो को नष्ट करके प्राप्त की जाती है।

हीडेगर भी, अस्तित्ववाद* की निरपेक्षता, तत्त्व और वस्तुनिष्ठता की वियुक्ति, और आत्मनिष्ठ विधि को सर्वग्राही बनाने के प्रयास को, न्यायोचित ठहराने का प्रयास करता है—लेकिन भिन्न रूप मे, वह वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ के बीच के व्यवधानो को समाप्त कर देने का प्रयास करता है। स्पष्टत अगर आत्मनिष्ठ विधि ही है जिसका प्रयोग किया जाना चाहिये तो इसके क्षेत्र के बाहर कोई चीज नही रहनी चाहिये। हीडेगर दो कार्यविधियो द्वारा बाहर और भीतर के सभी भेदो को समाप्त करता है जबकि वह सत्ता पर विचार करता है और सामान्य रूप से अस्तित्व पर विचार करता है तो वह स्वय सत्ता को सक्रिय मानता है और उसे एक ऐसी आत्मनिष्ठ अन्तरदृष्टि हमे प्रदान करने मे समर्थ

* हीडेगर ने इस बात को मानने से इन्कार किया है कि वे अस्तित्ववादी हैं, क्योकि उनका मुख्य रूप से सम्बन्ध, सत्ता के चरम स्वरूप से है, "मूलभूत सत्तामीमासा" से है। फिर भी, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि उसका मौलिक उपागम तत्त्वत वही है जैसा समस्त अस्तित्ववाद का है, वास्तव मे इस प्रकार के दर्शन से हाल के विकास पर उसका गहरा प्रभाव पडा है (या उसे उत्पन्न किया है।) इस बात पर आगे विचार-विमर्श करने के लिए एम० ग्रेनी० हीडेगर लण्दन, १९५७ देखें। इस अध्याय मे जिन कुछ अनुवादो का प्रयोग किया गया है, उनके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

मानता है जो वैयक्तिक सहभागिता को पुन स्थापित करती है। जब वह मनुष्य के अस्तित्व पर विचार करता है तो वह सम्पूर्णत आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण से बाह्य-सत्ता को देखता है—उसका दृष्टिकोण सचमुच मे इतना आत्मनिष्ठ होता है कि हम आत्मनिष्ठ विधि की अपेक्षा "आत्मनिष्ठ" शब्द के विकृत दैनिक अर्थ के वारे मे विचार करने के लिए वाध्य हो जाते है।†

इन दो प्रक्रियाओ को पूरा करने के लिए, हीडेगर नये शब्दो की खोज मे विशिष्टता दिखलाता है, जिसे वह स्वय अपना मुख्य गुण मानता है। (चूँकि ये नये शब्द शायद ही अनुवाद्य हैं अत मैं इसके लिए क्षमा चाहूँगा—अगर निम्न-लिखित मे से कुछ का, जो उसे कहना है, केवल समीपवर्ती अनुवाद हुआ हो, और अगर एक अर्थ मे अग्रेजी भाषा के साथ अत्याचार भी हुआ हो।) उसके प्रयासो से एक ऐसी कठिनाई से मुक्ति मिलती है जो कीर्केगार्ड से आगे सभी अस्तित्व-वादियो के लिए सामान्य है। चूँकि वैयक्तिक सहभागिता की आवश्यकता पडती है, अत वे दार्शनिक अनुभूतियो को ठीक-ठीक दोहराना चाहते है, फिर भी चूँकि उनका सम्बन्ध दर्शन से है, अत ऐसी अनुभूतियो के सभी निजी तत्त्वो को निकाल देना होगा। अत एक ओर तो वे अपनी दार्शनिक शैली को ठोस और विस्तृत वर्णनो से अतिभासित कर देते है, जिन्हें सामान्य रूप से उन सही कथनो के रूप मे सम्प्रेषित करना कठिन हो जाता है, जिनकी इस शैली मे अपेक्षा है, दूसरी ओर, जिन ठोस परिस्थितियो के अन्तर्गत वे घटित होते हैं उन्हे छोड करके वे इन विस्तृत वर्णनो को अस्पष्ट बनाते हैं। कीर्केगार्ड काफी हद तक सफल है, उसकी कुछ कृतियाँ पढने मे कठिन हैं, लेकिन चूँकि उसका अर्थ स्पष्ट है, अत उन्हें पूर्णरूप से समझने के प्रयास हमेशा लाभदायक सिद्ध होते हैं। सार्त्र, जैब्रा-इल मार्शल और अन्य विचारक, उपन्यासो, नाटको और डायरियो मे अपने दर्शन को व्यक्त करके इस कठिनाई पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करते है यह एक सन्देहास्पद तरीका है, क्योकि जो कल्पना है या असगत अनुभूति है, उससे उनका दार्शनिक विषय आसानी से अस्पष्ट हो जाता है। हीडेगर अक्सर इस समस्या का समाधान निकालने का प्रयास करता है और ऐसे कवियो या होल्डरलिन, रिल्के, नीट्शे जैसे अन्य विचारको का अर्थ प्रतिपादन करके, इन बातो को आसान बनाने का प्रयास करता है, लेकिन यह भी एक सन्देहास्पद समाधान है क्योकि यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इन अन्य लेखको का कहाँ तक

† पृष्ठ ६७-८ देखिये।

अर्थ प्रतिपादन हुआ है और हीडेगर के अपने दर्शन से हमारा कहाँ तक परि-चय हो रहा है। वह भी नये शब्दो की खोज करना आवश्यक समझता है।

लेकिन हमे इस बात का पता लगाना चाहिये कि क्या यह नये शब्द, उसके विचार के बाहर किसी वस्तु की ओर सकेत किये बिना, उस विचार को प्रत्यक्ष रूप से यर्थाथिता प्रदान करते है, या क्या वे सत्ता के नये पक्षों को प्रकट करते हैं? हमारे सामने सत्ता को स्वय उद्घटित होने के लिए, उन नयी क्रियाओ के साथ सज्ञाओ की व्यवस्था की जाती है जो उन्हे कर्तृवाचक होने मे समर्थ बनाती है, अवस्तुता विनाशकारी होती है और यह अवस्तुता (das Nichts nichtet) की सृष्टि करती है, विश्व प्रत्येक वस्तु को अधिक ऐहिक बनाता है (die Welt weltet), अस्तित्व तात्विकता उत्पन्न करता है (das Dasein west)। "सत्ता" के कई पक्षो को हमे दिखलाने के लिए "सत्ता" को विभक्त कर दिया जाता है, प्रत्येक वस्तु के आधार के रूप मे स्वय सत्ता (Sein) को, वास्तविक अस्तित्व (Dasein) से, विशेष प्रकार से उसके अस्तित्व (Sosein) से, विशेष रूप (das Seiende) मे या ऐहिक रूप मे (In-der-welt sein) जिसका अस्तित्व है उससे और इसी प्रकार अन्य चीजो से भिन्न दिखलाया जाता है। सक्षेप में इसका परिणाम इस प्रकार निकलता है स्वय सत्ता उस चीज से प्रच्छन्न हो जाती है जिसका अस्तित्व है, और चूंकि हमारा सामना निरन्तर ऐसी वस्तुओ मे होता रहता है, जिनका अस्तित्व है, अतः यह समस्या उत्पन्न होती है कि, "हम स्वय सत्ता का प्रत्यक्षीकरण किस प्रकार कर सकते है, विशेष रूप से उस रूप मे जिस रूप मे विश्व निरन्तर प्रत्येक वस्तु को अधिक ऐहिक बनाता है।" आश्चर्य की बात तो यह है कि यहाँ अवस्तुता एक रचनात्मक कार्य करती है, उस वस्तु को नष्ट करके जिसका अस्तित्व है, और वास्तविक रूप से अस्तित्व मे रहनेवाली वस्तुओ को नष्ट करके यह इन वस्तुओ के जगल मे एक "खुला-स्थान" बनाती है और इस खुले स्थान मे अस्तित्व की तात्विकता प्रकट हो सकती है और स्वय अस्तित्व प्रकट हो सकता है।* जैसाकि हमने कहा है अस्तित्व हमे अवस्तुता की सहायता से चरम अन्तरदृष्टि प्रदान कर रहा है।

*जिन कुछ शब्दो से सत्ता का निरूपण किया गया है, उससे हेगेल के प्रभाव का पता चलता है। जब हेगेल ने अस्तित्ववाद की सृष्टि की तो कीर्केगाड को उसकी आलोचना करनी पड़ी थी, अब वह अस्तित्ववाद निरपेक्ष बन गया—हेगेल की निरपेक्षता बन गया है, वह भिन्न है, फिर भी अस्तित्ववाद फिर लौट आता है—हीडेगर और हेगेल दोनो एक अतिवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं, Les extreme se touchment उदाहरण के लिए—'तात्विकता' शब्द का अर्थ अस्तित्व से एकदम भिन्न रखा गया है—उसका अथ है महत्त्व और उपरिष्ठता के विपरीत—फिर भी इसकी व्युत्पत्ति (जर्मनी में तथा अंग्रेजी मे) तत्त्व शब्द से ही हुई है और अगर यह तत्त्व है तो इसे तात्विक होना होगा।

मुझे आशा है कि यह सक्षिप्त विवरण यह दिखलाने के लिए पर्याप्त है कि वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता के बीच जो अवरोध है उसे समाप्त करने का प्रयास व्यर्थ है । इसमे कोई सन्देह नही कि अस्तित्व एक है (अभी इस पर हम विचार करेगे) । इस ऐक्य को हम कलाकृतियो मे, कविताओ मे, चित्रकारियो मे, सगीत मे, मूर्तरूप मे सन्निवेश कर सकते हैं । इसकी अनुभूति हो सकती है और अन्य अनुभूतियो की अपेक्षा इसकी अनुभूति स्पष्ट रूप से रहस्यात्मक अनुभूति मे की जा सकती है, लेकिन जब हम विचार की सहायता से एक बार सत्ता को समझ लेते है तो हमारा सामना अनिवार्य रूप से वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता के बीच के भेद से होता है । उदाहरण के लिए—गार्डिनी, हालाँकि हीडेगर की प्रशसा करता है, यह बात स्पष्ट करता है जब वह यह कहता है "मैं यहाँ हूँ और प्रत्येक अन्य वस्तु वहाँ है—इस भेद से ऊपर उठने मे हम कभी समर्थ नही हो सकते ।" यदि कभी हम किसी वस्तु के बारे मे जानने का प्रयास करते है तो ज्ञाता और ज्ञेय के बीच अवश्य ही भेद उत्पन्न हो जाता है, कोई भी विचार-पद्धति इसे समाप्त नही कर सकती । सामान्य रूप मे निरपेक्ष अस्तित्ववादी और विशेष रूप मे हीडेगर, दर्शन से वही काम लेने का प्रयास करता है जो केवल साहित्य कर सकता है । जब कोई कलाकृति या कविता की प्रबोधक भाषा हमारी भावनाओ को प्रभावित करती है तो अस्तित्व की एकता की अनुभूति की जा सकती है, लेकिन इसे दार्शनिक रूप मे या मूर्त शब्दो से व्यक्त नही किया जा सकता ।

जब अन्त मे हीडेगर प्रत्यक्ष रूप से सत्ता की परिभाषा देने का प्रयास करता है तो वह असफल रह जाता है, क्योकि वह इसकी "निरन्तर वर्तमानता के रूप मे परिभाषा देता है और कई प्रकार से इस परिभाषा मे परिवर्त्तन करता है ।"[1] यह विशुद्ध रूप से औपचारिक परिभाषा है और यह नही बतलाती कि सत्ता यथार्थ मे क्या है । अत वह होल्डरलिन [Denn es hasset/Der sinnende Gott/Unzeitiges Wachstum (For God in his brooding hates untimely *growth*)] की एक कविता से कुछ पक्तियो को उद्धृत करके निष्कर्ष पर पहुँचता है जो अपने सौन्दर्य से तीव्र भावना जागृत करती है और इस प्रकार वास्तविक परिभाषा की रिक्तता पर और अस्तित्व हमे चरम-ज्ञान प्रदान करने मे समर्थ हो सके, इसके लिए प्रयास करने की भ्रान्ति पर परदा डालती है । दर्शन मे कविता पर आस्था या नाटको और उपन्यासो पर आस्था—अस्पष्ट, अनुचित या अनिर्णायक दृढ कथनो को छिपाने का बडा ही आसान तरीका दे सकती है ।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए यह उदाहरण पर्याप्त हो सकता है कि अस्तित्व की एकता प्रत्यक्ष रूप मे समझी नही जा सकती, हालाँकि यह सन्देह से परे है। निरपेक्ष अस्तित्ववाद के प्रभाव मे, कई लोगो ने शरीर और मन के बीच के पारम्परिक भेद की उपेक्षा करना आरम्भ कर दिया है, (जिसे पास्कल और कीर्केगार्ड दोनो ने स्वीकार किया था) और वे अपनी युक्ति का समर्थन जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान मे हाल मे हुए विकासो से करते है। अब निश्चय ही इस बात मे कोई सन्देह नही कि शरीर और मन एक है, एकता के दो पक्ष है, उदाहरण के लिए, यह स्पष्ट है कि मस्तिष्क मे किसी प्रकार की क्षति से बौद्धिक क्षमताओ पर प्रभाव पडता है। लेकिन एक साथ मानसिक और शारीरिक दोनो प्रक्रियाओ के सम्बन्ध मे यथोचित रूप से विचार-विमर्श करने मे हम असमर्थ हैं, क्योंकि हम उन शब्दो मे विचार नही कर सकते जो एक साथ दोनो के लिए उपयुक्त हो, हम या तो शरीर के सम्बन्ध मे विचार करने के लिए विवश हो जाते है, या मन के सम्बन्ध मे। अगर हम सही-सही यह जानते भी होते (जैसाकि वैज्ञानिको की आशा है कि हम जानेंगे) कि प्रत्येक विचार से मस्तिष्क के कौन-से हिस्सो मे क्रियाएँ, कूट सन्देशो के कौन-से विद्युत् आवेग और यान्त्रिक सचारण उत्पन्न होते हैं, फिर भी विचार के छोटे से अश को हम नही समझ सकते। बाह्य गति (जिसे मापा जा सकता है और गणितीय सूत्र मे व्यक्त किया जा सकता है) और अन्तर्विषय, किसी विचार या वाक्य का अर्थ (जिसे केवल समझा जा सकता है और शब्दो की भाषा मे व्यक्त किया जा सकता है), हालाँकि एक ही क्रिया के दो पक्ष है, परन्तु इतने भिन्न है कि एक ही प्रकार से उनके सम्बन्ध मे विचार करना असम्भव है। हमे इन दो बातो मे चयन करना है कि हम भौतिक प्रक्रियाओ पर एकाग्र करें, जिसमे हमारा मन एक उपकरण मात्र होता है जिस पर हम ध्यान नही देते, या अपने मन की अनुभूतियो पर एकाग्र करें, जिनमे भौतिक प्रक्रियाएँ होती तो रहती हैं लेकिन न तो उनका निरीक्षण किया जा सकता है न वर्णन ही किया जा सकता है। हमने पहले अध्याय मे यह दिखला दिया है कि न तो जीवविज्ञान न मनोविज्ञान इस अवरोध को पार कर सकता है, यदि हम शरीर और मन दोनो को समझना चाहते है तो हम दो भिन्न विचार प्रणालियो की अनिवार्यता से बच नही सकते। कोई दूसरे प्रकार की विचार-पद्धति नही है जो एक ही साथ दोनो को समझ करके हमे उनकी एकता समझने दे।

जब हीडेगर आत्मनिष्ठ पक्ष से सत्ता तक पहुंचना चाहता है तो अपने विपरीत अभिप्रायो के बावजूद, वह स्वय इन निष्कर्षो की पुष्टि करता है। यहाँ सर्वग्राही एकता पूर्णरूप से लुप्त हो जाती है—जो उस समय स्थापित होती हुई प्रतीत हुई थी जब वस्तुनिष्ठ अस्तित्व ने हमे आत्मनिष्ठ अन्तरदृष्टि प्रदान की। हमारा सामना अस्तित्व के साथ उसी रूप मे नही होता, वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ के ऐक्य के साथ नही होता, प्रत्युत बिल्कुल एक भिन्न विचार के साथ होता है, क्योकि अब हीडेगर सत्ता के तीन अन्य पक्षो की स्थापना करता है—तथ्यात्मकता, अस्तित्ववादिता, अपवर्त्तन।

तथ्यात्मकता के सम्बन्ध मे हमने आशिक रूप से विचार-विमर्श किया है, इस शब्द से उसका अभिप्राय यह है कि हम अपने को एक ऐसी ऐतिहासिक स्थिति और एक ऐसे विश्व मे "निक्षेपित" पाते हैं जिसका हम वरण नही कर सकते। लेकिन हीडेगर ने "इस विश्व मे होना" को इस रूप मे नही देखा जिससे हम इस विश्व को उसी रूप मे समझने मे समर्थ हो सकें, विश्व का अस्तित्व हमारे लिए मुख्य रूप से "पास होने" के लिए है, उसका "सचालन होने" के लिए है, यह हमारे प्रयोग के लिए "उपादान" है। तथ्यो का अर्थ लगाने की सम्भावना, जिस पर सार्त्रे ने बल दिया, अब स्वय अस्तित्व का भी निर्धारण करती है। दूसरे शब्दो मे यह पूर्णरूपेण एक वैयक्तिक तथ्यात्मकता है, व्यक्ति इस विश्व का सामना अपने रूप मे और विविक्ति मे करता है। इस विश्व को, जैसाकि वस्तुनिष्ठ रूप से इसे प्रस्तुत किया गया है, अब शामिल नही किया जाता है और न मानवीय सम्बन्धो को ही शामिल किया जाता है।

उसके विचार मे, अस्तित्ववादिता हमारा कार्य बतलाती है। चूंकि यह विश्व "पास का उपादान" है, हम सम्पूर्ण रूप से अपनी स्थिति का निर्माण कर सकते हैं जिसमे हम अपने को पाते हैं, हम इसे अपनी "रचना" बना सकते हैं। हम सही रूप से इस विश्व का सचालन करके, अपने से और सभी प्रदत्त तथ्यो से परे जा सकते हैं और इस प्रकार हम चरम सत्ता और निरपेक्ष अस्तित्व तक पहुँचते हैं। यही हमे करना चाहिये, अस्तित्व अब हमारे लिए यह नही करता, हमे "तात्विकता" प्राप्त करनी चाहिये।

लेकिन अपवर्त्तन बडी बाधा है। हम जनसमूह के अश हैं, और जैसाकि प्रत्येक व्यक्ति सामान्य रूप से जीवन व्यतीत करता है, उसी रूप मे जीवन व्यतीत करके, निम्न स्तर पर तटस्थ जीवन व्यतीत करके, हम स्वय के साथ विश्वासघात

करने लगते है। हीडेगर के अनुसार, यही मानवीय सम्बन्ध आते है, वह उनके निषेधात्मक पक्ष पर ही ध्यान देता है।

इस प्रकार हमारे वैयक्तिक कार्य को और भी स्पष्ट किया जाता है, अपवर्त्तन के खतरे से बचने के लिए, जो एक मुख्य कार्य है, अपनी मूल प्रकृति के अनुसार हमे एक प्रामाणिक जीवन व्यतीत करना होता है। अस्तित्ववादिता के साथ तथ्यात्मकता का अधिक से अधिक सम्बन्ध जोडकर यह कार्य करना है। इन दोनो के बीच सबसे सबल सम्पर्क, जैसाकि हीडेगर इसे देखता है, हमारे जीवन मे समय का व्यतिक्रम है, चूँकि इसे न तो विपरीत दिशा मे ले जाया जा सकता है, न खोया हुआ समय वापस लाया जा सकता है, अत यह अपने जीवन का उचित रूप से प्रयोग करने के लिए हमे सबसे अधिक चुनौती देता है। अपने जीवन के अन्त मे हम मृत्यु का सामना करते है, अत हमे निरन्तर इससे अवगत रहना चाहिये। इसे भी प्रामाणिक बना करके, अर्थात् मृत्यु का आलिंगन करके इसके लिए तैयार हुए बिना नही, या इससे तटस्थ हो करके भी नही, प्रत्युत अपने जीवन के अश के रूप मे इसकी पूर्ण अनुभूति करके, अपने रूप मे इससे अभिज्ञ होकर हमारा अस्तित्व सम्पूर्ण रूप से "अनिवार्य" और सार्थक बना दिया जायगा। लेकिन इसका अर्थ यह होता है कि Angst या Sorge (चिन्ताग्रस्त चिन्ता) हमारे मन की आधारभूत अवस्थाएँ होनी चाहिये, हमे यह स्वीकार करना चाहिये कि मूलरूप से जीना तभी सम्भव है जब हम अपने अस्तित्व की मौलिक अवस्था के रूप मे विभीषिका की अवस्था को स्वीकार करे। आत्मनिष्ठता का स्थान सर्वोच्च हो गया है।

हीडेगर के दोनो प्रयत्नो मे—अस्तित्व को सक्रिय बनाने के प्रयत्न मे जिससे यह अपना अर्थ प्रकट कर सके, और अस्तित्व को हमारे द्वारा अर्थ प्रदान किये जाने के प्रयत्न मे—अस्तित्ववादी उपागम का महत्त्व फिर देखा जा सकता है। एक ओर तो वह अस्तित्व के विभिन्न पक्षो मे जो भेद दिखलाता है उससे वह अत्यधिक सामान्य शब्द को अधिक यथार्थ और गम्भीर बनाता ही है, दूसरी ओर, समय की चुनौती के साथ सम्बन्ध होने के नाते और मृत्यु का ध्यान रखने से, यह माँग और भी सशक्त हो जाती है कि हमे प्रामाणिक जीवन व्यतीत करना चाहिये। चूँकि समय एक बार जब निकल जाता है तो अन्तत नष्ट ही हो जाता है और फिर उसे प्राप्त नही किया जा सकता, अत समय का व्यतिक्रम सचमुच मे यह माँग करता है कि हम इसके किसी भी अश को महत्त्वपूर्ण समझें, और

चूँकि मृत्यु की अनुभूति वास्तव मे और सम्पूर्ण रूप से अपनी अनुभूति है, यह एक ऐसी अनुभूति है, जो बाँटी नही जा सकती, अत हमे अपने ढग से इसका सामना करना चाहिये। परितोष और पल्लवग्राहिता मे निभृतस्थान छोडा नही जाता।

फिर भी हीडेगर के उपागम से भी उन आशकाओ मे वृद्धि होती है, जो उस समय उत्पन्न होती है जब अस्तित्ववाद को निरपेक्ष बनाया जाता है। अगर अवस्तुता एक रचनात्मक कार्य करती है तो हमे इसके विरुद्ध सघर्ष करने के लिए न तो अब बाध्य किया जाता है, न हम ऐसा करने के लिए हकदार ही हैं, हमे इसका अर्थ प्रकट करने के लिए केवल इसका चिन्तन करना होगा और इसके लिए प्रतीक्षा करनी होगी। इससे वह प्रामाणिक जीवन भी खतरे मे पड जाता है जिसकी अन्य स्थान पर माँग की जाती है। अस्तित्व और अवस्तुता दोनो अपनी एक ऐसी क्रिया से सम्पन्न है जो उनका मानवीकरण करती है और वस्तुत उन्हे देवतुल्य बना देती है—अर्थात् उनमे एक प्रकार का रहस्यात्मक गुण आ जाता है, जो यथार्थ नही हो सकता, जैसाकि हमने पहले इस बात का उल्लेख किया है, अगर एक बार अनुभवातीत सत्ता को अस्वीकार किया गया। वस्तुओ या सम्प्रत्ययो को रहस्यात्मक गुणो मे सम्पन्न करने से अधिक खतरनाक बात शायद ही कोई और हो, क्योंकि इससे उन्हें अतिरजित महत्त्व मिल जाता है जो समाप्त करने के लिए मनुष्यो के लिए ही उन्हें तत्पर करता है। जब नीट्शे अतिमानव की सृष्टि कर रहा था, तो इस अयथार्थ रहस्यात्मक स्तर पर "जाति" और "पृथ्वी" जैसे सम्प्रत्ययो का निर्माण किया गया, नाजियो ने "रक्त", "नार्डिक" और इस प्रकार के अन्य सम्प्रत्ययो मे इसका विस्तार किया, चूँकि हीडेगर ऐसा करने के लिए उन्मुख था, अत उसने नाजीवाद के सामने अपना सिर झुकाया। उसके अनुसार या जैसाकि सार्त्र के अनुसार "कोई "नैतिकता प्रदत्त प्रागनुभव" नही है, सच तो यह है कि कोई नैतिकता है ही नही, कोई नया ईश्वर निकट भविष्य में शायद उत्पन्न हो, लेकिन अभी तो है।" तो भी अस्तित्ववाद, आभ्यन्तर अनुभूति पर एकाग्र करके हमे अनुभवातीत सत्ता की ओर ले जाता है, जिसे अगर स्वीकार नही किया जाता तो उसके स्थान पर कुछ और लाना होगा। लेकिन चूँकि इन प्रतिस्थापनो से विनाशकारी अवस्तुता की शक्ति मे वृद्धि होती है, अत निरपेक्ष अस्तित्ववाद हमे यह स्वीकार कराने मे सहायक होता है कि निरपेक्षता की खोज यथार्थत उस क्षेत्र मे की जानी चाहिये, जिसके अस्तित्व को सार्त्र और हीडेगर ने नहीं माना—अर्थात् अनुभवातीत क्षेत्र मे की जानी चाहिये।

हीडेगर द्वारा व्यक्ति को अलग कर दिये जाने से प्रामाणिक जीवन को भी क्षति पहुँचती है। उसकी "तथ्यात्मकता", जैसाकि हमने कहा है, सम्पूर्ण रूप से आत्मनिष्ठ है, यह इतनी आत्मनिष्ठ है कि यह निजी सम्बन्धो को भी शामिल नही करती। ऐसा लगता है कि उसने ऐसे सम्बन्धो की कोई जानकारी कभी प्राप्त नही की, उसका उनके साथ केवल कोई सम्बन्ध नही है, उन पर तभी विचार किया जाता है, जब वह "अपवर्त्तन" के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श करता है अर्थात् पूर्ण रूप से निषेधात्मक रूप से। लेकिन मनुष्य अलगाव मे नही रहता, अत हीडेगर द्वारा उसका चित्रण कृत्रिम और भ्रामक रहना चाहिये। जो वह छोडता है उसका और स्वय मे स्थानापन्न नही है, व्यक्ति के अलगाव से सयुक्त वे अन्य आधारभूत भावनाओ के मार्ग के रोडे बनते है। उदाहरण के लिए, वे आधारभूत भावनाएँ है किसी पडौसी के प्रति प्रेम, साधुता से उत्पन्न आत्मतोष, आस्था की आभ्यन्तर निश्चितता, यह सब इस बात की अपेक्षा करते हैं कि भावात्मक मानवीय सम्बन्धो और अनुभवातीत सत्ता पर उचित महत्त्व दिया जाना चाहिये। और न इस प्रामाणिक मृत्यु पर बल देने से निरपेक्ष की समस्या का समाधान ही निकल सकता है, अगर यह मृत्यु अपने से परे की ओर सकेत न करे, इस प्रकार की मृत्यु हमे एक ऐसी अवस्तुता के साथ सामना कराती है जो निरर्थक विनाश के सिवा और कुछ नही हो सकती।

जेस्पर्श ने यह स्पष्ट रूप से दिखला दिया है कि समकालीन अस्तित्ववाद को निरपेक्ष होने की आवश्यकता नही, और इस प्रकार विनाशकारी होने की आवश्यकता नही। वह उस अनुभूति पर बल देता है जिसे वह "सीमा स्थितियाँ" कहता है। इसका अर्थ यह होता है कि वह भी मृत्यु और भग्नाशा पर बल देता है, लेकिन वह अन्य अनुभूतियो, जैसे बीमारी और विशेष रूप से, दोष का भी ध्यान रखता है। वह मनुष्य को अधिक वस्तुनिष्ठ रूप से देखता है और नैतिकता और मानवीय सम्बन्धो के साथ उसका सम्बन्ध है। वह ज्ञान की सीमाओ से अवगत है, अत वह "सम्प्रेषण की समस्या" पर विचार करता है अर्थात् वह इस प्रश्न पर विचार करता है कि अनुभवातीत सत्ता का ज्ञान दूसरो तक पहुँचाया क्यो नही जा सकता, जबकि इसे न तो प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त किया जा सकता है, न विचार के चेतन प्रयास के परिणाम के रूप मे दिखलाया जा सकता है। दर्शन के क्षेत्र मे इस प्रकार का विस्तार लाकर के, वह अभावात्मक अनुभूतियो को (जिनका सामना वह सार्त्र और हीडेगर की तरह नि सकोच करता है) भावात्मक महत्त्व प्रदान कर सकता है।

वह हमसे यह चाहता है कि हम अतिवादी सीमा स्थितियो की खोज क
या कम से कम हम उन स्थितियो की अवहेलना न करें जो किसी भी त
अपरिहार्य है। वह देखता है कि ऐसा करने मे उनका सामना करने की अप
असफलता से हम अवगत हो जायेंगे, और हो सकता है कि हम मात खा जायें
लेकिन इससे पूर्व कि हम उनकी अनुभूति प्राप्त करे, हमे इस बात की भी प्रत्या
है कि निरर्थक अवस्तुतापूर्ण भग्नाशा के साथ हमारा सामना होगा। लेकि
वह दिखलाता है कि उन सीमा स्थितियो मे असफलता का सामना करने
लिए, जो हमारी शक्ति के बाहर है, किसी भी सफलता से अधिक महत्त्वपूर्ण है
क्योकि जब इसकी अनुभूति प्राप्त की जाती है तो अवस्तुता किसी दूसरी ची
के लिए हट जाती है—हमारा सामना एक ऐसी सत्ता से होता है जो हमसे अधि
विशाल है और जो हमारे अस्तित्व के परे है और जो हमारे अस्तित्व को समा
विष्ट करती है। लेकिन अगर हम सबसे अधिक दूरवर्ती सीमाओ तक पहुँचे
भी, या हम अपने अनुभव के क्षेत्र का विस्तार चाहे कितनी दूरी तक करें, उसके
परे भी हमेशा कुछ है, कोई ऐसा भाव है, जो उस समय हमारे बचाव के लि
आता है जब हम खोते प्रतीत होते है। जैस्पर्स और कीर्केगार्ड दोनो के अनुसा
भग्नाशा भ्रामक आभायी निश्चितियो को हटाती है जिन पर विश्वास करने के
हम आदी हैं और सबसे आधारभूत निश्चिति के साथ—एक ऐसी निरपेक्ष सत्ता
के साथ जो धर्म की ओर सकेत करती है—हमारा सामना होता है। प्रतीयमानत
हम असफल रहते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि भग्नाशा और अवस्तुता को
छोडकर और कुछ नही रह जाता, लेकिन सच तो यह है कि हम अस्तित्व की
पूणता की खोज कर लेते हैं।

लेकिन जैसाकि जैस्पर्स अभी भी निषेधात्मक सीमा स्थितियो पर अधिक
बल देता है और समान वर्गवाली उन भावात्मक अनुभूतियो पर अपर्याप्त ध्यान
देता है जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं—जैसे प्रेम या शुभत्व की तीव्र
अनुभूतियाँ—मैं ब्यूबर पर आना चाहूँगा जिससे अस्तित्ववाद के और अधिक
भावात्मक पक्षो को दिखलाने मे मैं समर्थ हो सकूँ।

* * *

आठ

व्यक्तिगत सम्बन्ध—मार्टिन ब्यूबर

एक प्रकार की निरपेक्षता की आकाक्षा—जैसाकि हम देख चुके हैं, भले ही उग्र अस्तित्ववादियो और तर्क-युग के दावो से चिपटे रहनेवालो, दोनो को ही पथभ्रष्ट करती है—मौलिक रूप से न्यायसगत है, क्योकि हम अपना अस्तित्व पूर्ण निश्चितता के साथ अनुभव करते हैं। सभी युगो में, दार्शनिको ने इस तथ्य के सम्बन्ध मे सन्देह प्रकट करने के प्रयत्न किये हैं, लेकिन वे निष्फल सिद्ध हुए हैं। हमे अपने अस्तित्व के सम्बन्ध मे कोई सन्देह नही है।

यह निरपेक्ष ज्ञान एक चुनौती प्रस्तुत करता है। यह केवल एक अस्पष्ट तथ्य को ही अन्त प्रज्ञात्मक रूप से सुलभ करता है, और हम स्वभावत और अधिक जानना चाहते हैं, हम अपने अस्तित्व के अर्थ और मूल का ही पूर्ण ज्ञान चाहते हैं। किन्तु पूर्ण ज्ञान स्थापित करने के हमारे प्रयत्नो की निरन्तर असफलताओ से पता चलता है कि हमे सही दिशा मे इसकी खोज करनी चाहिये।

हमे ऐसे किसी ज्ञान की सीमाओ की ओर पूरा ध्यान देना है जिसे हम सम्भवत प्राप्त कर सकते हैं—अर्थात् इस तथ्य की ओर कि ऐसा कोई ज्ञान नही है जो पूर्ण और व्यापक हो। (जैसाकि पहले, इस सन्दर्भ मे ज्ञान का मेरा अर्थ सचेत मनन प्रयत्न द्वारा प्राप्त ज्ञान से है।) वस्तुनिष्ठ पद्धति ऐसे ज्ञान की ओर

ले जा सकती है, जैसाकि प्राकृतिक विज्ञानो से पता चलता है, जिसमे समस्त वाह्य वास्तविकता और यहाँ तक कि मनुष्य भी शामिल है, जहाँ तक उसे बाहर से समझा जा सकता है, यह लगभग व्यापक हो सकती है। किन्तु वस्तुनिष्ठ होने के लिए, इस विधि मे प्रेक्षक को अलग रखना होगा जहाँ तक मानवोचित ढग से सम्भव है, और इस प्रकार कुछ निश्चित पूर्वकल्पित शर्तों को स्वीकार करना होगा, इसलिए जैसाकि हमने पहले अध्याय मे देखा है, इस प्रकार प्राप्त ज्ञान सापेक्ष है, न कि निरपेक्ष। इस आधार पर, किसी भी मूलभूत अर्थ मे "क्यो" प्रश्न का उत्तर नही दिया जा सकता, और न मनुष्य के आन्तरिक अनुभवो को ही शामिल किया जा सकता है। दूसरी ओर आत्मनिष्ठ विधि एकाकी अनुभवो को निरपेक्ष ज्ञान की प्राप्ति मे बदल सकती है, किन्तु चूँकि निरपेक्षता वास्तविक अनुभव का एक अभिन्न अग है, अत इस ज्ञान का प्रयोग सामान्यीकरणो के आधार के रूप मे नही किया जा सकता, और यह व्यापक नही है। उदाहरणार्थ, यह ऐसे कथनो को कि "जगत् शुभ है" "न्यायसगत नही ठहरा सकता, क्योकि हम सम्पूर्ण जगत् का अनुभव करने मे असमर्थ है। इसलिए निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमे व्यापकता का परित्याग कर देना चाहिये और उन आन्तरिक अनुभवो को चुनना चाहिये जो आत्मनिष्ठ विधि की सहायता से सगत परिणाम प्राप्त करने का आश्वासन दे।

मार्टिन व्यूबर वैयक्तिक सम्बन्धो को चुनता है और उसका चयन विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होता है। हमने बताया है कि वर्त्तमान दर्शन के सबसे अधिक आशाजनक चिह्नो मे से एक चिह्न अस्तित्ववाद के उन रूपो मे मिलता है जो जगत् को ध्यान मे रखते हुए, अमूर्त्त मन को नही, बल्कि मनुष्यो के बीच मनुष्य को, इसके मध्य मे रखते हैं।* अस्तित्ववाद की यह प्राकृतिक प्रवृत्ति होनी चाहिये, किन्तु कुछ अस्तित्ववादी जैसाकि हमने पिछले अध्याय मे देखा है, मनुष्य को फिर विलग कर देते हैं, किन्तु जैस्पर्स जैसे अन्य लोग सचार की समस्या पर ध्यान देते हैं, लेकिन व्यूबर की तुलना में अधिक सफलतापूर्वक नही।

इस समस्या के सम्बन्ध मे उनकी प्रमुख कृति "आई एण्ड दाउ" है। इस पुस्तक से हमारी यह धारणा और भी पुष्ट हो जाती है कि मानवीय कार्यों मे सरलता से कारण और कार्य के बीच सम्बन्ध का पता नही लगाया जा सकता और आगे चलकर पुस्तकें अपूर्व प्रभाव डाल सकती हैं।† "आई एण्ड दाउ", १९२२ मे

---

* पृष्ठ ६७ देखिये। † पृष्ठ ६५-६ देखिये।

लिखी एक छोटी-सी पुस्तक है, जो अभिव्यजनावादी शैली मे लिखी गयी थी, जो उस समय जर्मनी मे प्रचलित थी, जिसका अर्थ है कि शैली अर्द्ध-रहस्यवादी और भाव-प्रवण है, जो तथ्यो को प्रकट करने के बजाय अक्सर उन्हे छिपाती है, जिसके न होने पर, जैसाकि निम्नलिखित उद्धरणो मे देखा जायगा, अनुवाद मे और भी स्पष्ट हो जाती है। फिर भी, इस पुस्तक का, विशेष रूप से इस देश मे, दर्शन और धर्मशास्त्र पर, बहुत-सी विशाल और सुलिखित कृतियो की अपेक्षा अधिक प्रभाव पडा, "आई एण्ड दाउ" वाक्याश को, मानव अनुभव के उन कारको के नाम के रूप मे स्वीकारा गया है जिनका ब्यूबर वर्णन करता है।

वह दो प्रकार के मूलभूत सम्बन्धो के बीच अन्तर स्पष्ट करता है, जिसे वह "आई–इट" और "आई-दाउ" की सज्ञा देता है। यह उसके इस दावे पर आधारित है कि जब कभी हम "मैं" (आई) शब्द का प्रयोग करते है, हम वास्तव मे अपने आपको विलग नही रखते, हम या तो बाहर से देखे जानेवाले अन्य व्यक्तियो ("यह" (इट) के स्थान पर 'वह" (ही या शी) का प्रयोग किया जा सकता है) अथवा वस्तुओ के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं अथवा हम वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं जिसे "मैं-तू" द्वारा प्रकट किया जाता है। यह मोटे तौर पर हमारी वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ विधियो के बीच भेद के समान ही है, किन्तु इससे इस भेद को स्पष्ट करने और आत्मनिष्ठ विधि की ओर अधिक व्याख्या करने मे काफी सहायता मिलती है।

"प्राथमिक शब्द मैं–यह"—ब्यूबर के शब्दो मे, "मेरी समग्र सत्ता के साथ नही कहा जा सकता।" क्योकि इस प्रकार प्राप्त ज्ञान प्रेक्षक से स्वतन्त्र होना चाहिये, "मैं" मे से अपने आप का कुछ भाग निकालना होगा, केवल कुछ विशेष शक्तियाँ अपेक्षित हैं। दूसरी ओर, "प्राथमिक शब्द मैं-तू केवल समग्र सत्ता के लिए बोला जा सकता है।"[1] क्योकि सम्बन्ध का प्रश्न केवल तभी उठता है जबकि बिना किसी सीमा के, "मैं का प्रयोग किया जाये, और उस पर अन्य व्यक्ति जो प्रभाव डालें उसका वह पूर्णत प्रत्युत्तर दे।"

इस प्रत्युत्तर की प्रकृति इस प्रकार स्पष्ट हो जाती है जिसे ब्यूबर "एक वैयक्तिक मिलन" की सज्ञा देता है। इसका अनुभव करने के लिए हमे अन्य व्यक्ति से मिलना चाहिये, किसी पारम्परिक अथवा सरकारी तरीके से नही, बल्कि इस प्रकार कि हमारे दृष्टिकोण के प्रति उसकी प्रतिक्रिया ऐसी हो जिससे हमे अधिकाधिक सन्तोष मिले और इस प्रकार की प्रतिक्रिया न मिलने पर हमे

अत्यन्त दु ख हो। हम मिलन मे इस प्रकार पूर्णत. घुलमिल जायें कि अन्य सब बाते लुप्त हो जाये। "जब 'तू' बोला जाय, वक्ता .. सम्बन्ध मे अपना स्थान लेता है", अन्य के साथ निकटतम सम्बन्ध मे, और अपने अनुभव से वह पुष्टि करने मे समर्थ होता है "समस्त सच्चा जीवन मिलन है" (पृष्ठ ५,१२-३),* उनसे शिक्षा ले सकते है, वे आन्तरिक अनुभवो को उत्पन्न कर सकते हैं। इस अवस्था का अनुभव किया जा सकता है, किन्तु पूर्णत व्यक्त नही (सिवाय कला-कृतियो को छोडकर, जिसकी हम बाद मे चर्चा करेंगे) क्योकि अनुक्रिया एकपक्षीय होती है। तीसरी अवस्था "आध्यात्मक के साथ जीवन" है, यहाँ हम सम्बन्ध का अनुभव कर सकते है, यह अन्त प्रज्ञा और अन्त प्रेरण की ओर ले जा सकता है, और यदि ऐसा हो तो हम शुभ क्षणो मे इसे व्यक्त भी कर सकते हैं। यहाँ हम सम्बोधित किये जा रहे है किन्तु ऐसे भागीदार द्वारा जो इतना परे है कि कोई स्पष्ट प्रतिक्रिया केवल महान् आन्तरिक शक्ति के क्षणो मे ही सम्भव हो सकती है। मध्य अवस्था "मनुष्यो के साथ जीवन" (पृष्ठ ६-७), इन दो अन्य अवस्थाओ के बीच सुस्थिर है और यही वह अवस्था है जिसे भाषा के जरिये व्यक्त किया जा सकता है, क्योकि भाषा अन्य व्यक्ति पर दावा कर सकती है और पूर्ण अनुक्रिया प्राप्त हो सकती है। ब्यूबर प्रारम्भ मे वैयक्तिक मिलन पर एकाग्र करता है, इसलिए, किन्तु यह अनुभवातीत सत्ता के लिए सार प्रदान कर सकता है, जो उग्र अस्तित्ववादियो के उपदेशो मे नही हो सकता, और कीर्केगार्ड के दृष्टिकोण की अपेक्षा और अधिक प्रत्यक्ष रूप से कर सकता है।

वैयक्तिक मिलन "तू" के अनुभव पर आधारित है और ब्यूबर अपने अनुभव की व्याख्या के "गेस्टाल्ट" अथवा "सस्थान" मनोविज्ञान के मतो की सहायता से करते हैं। उदाहरण के तौर पर, इस विचारधारा का पालन करनेवाले दावा करते हैं कि हम आरम्भ मे एक और फिर दो और फिर तीन पेड और तब इस निष्कर्ष पर नही पहुँचते कि बन है, बल्कि हम सबसे पहले बन का अनुभव करते हैं और उसके बाद ही हम उसका विश्लेषण बहुत से पेड देखने मे करते है। इसी प्रकार, सगीत सुनने पर हम एक और फिर दो स्वर ग्रहण करके लय का अनुभव नही करते, बल्कि लय पहले सुनी जाती है और एकाकी स्वरो की जानकारी के लिए अतिरिक्त प्रयत्न की आवश्यकता होती है। कोई भी अनुभवी पाठक इस बात की पुष्टि कर देगा कि वह एक के बाद दूसरा अक्षर नही पढता

*इस पृष्ठ पर तथा अगले पृष्ठो पर, निक्षिप्त चिह्नो मे पृष्ठ सख्या का उल्लेख "मैं और तू" किया गया है।

बल्कि शब्दो अथवा यहाँ तक कि शब्दो के क्रम को, अव्यवहित सम्पूर्णता के रूप मे, संस्थान के रूप मे, देखता है। इसी रूप मे, किसी मिलन मे, हम मिलने-वाले पूरे व्यक्ति का अन्त प्रज्ञात्मक प्रभाव प्राप्त करते है। ब्यूबर के शब्दो मे, 'जिस प्रकार लय, न तो स्वरो, न शब्दो के श्लोको और रेखाओ की आकृति को मिलाकर बनती है . यही मनुष्य की बात है, जिसे मैं "तू" कहता।" ब्यूबर के मस्तिष्क मे जो था उसका स्पष्टीकरण सम्भवत, कोई पुस्तक पढने, व्याख्यान सुनने और बातचीत करने के बीच तुलना के जारी किया जा सकता है। जब हम किसी पुस्तक को पढते है, उसके लेखक का हम पर प्रभाव पडता है, फिर भी हमारे विचार भ्रमित हो सकते हैं, हम उचाट हो सकते है, पठन मे बाधा डाल सकते हैं और उसे दोबारा पढ सकते है, और हम पढते-पढते सो सकते हैं। इसलिए हम पूरी तरह से सम्मिलित नही है, ब्यूबर की दृष्टि से यह अभी मिलन नही है। जब हम कोई व्याख्यान सुनते हैं, तो व्याख्याता के साथ हमारे वैयक्तिक सम्बन्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है, किन्तु हमारे विचार अस्थिर हो सकते हैं और हम सो भी सकते है। किन्तु बातचीत के दौरान, यदि इसे वास्तव मे बातचीत होनी है, तो हमे हर समय उपस्थित और सावधान रहना होगा। यदि हम सुनेंगे नही तो हम उत्तर नही दे सकेंगे, और न ही हम अपने साथी का ध्यान आकर्षित कर सकेंगे। हमे वास्तव मे समझने का और अपनी बात दूसरो को समझाने का प्रयत्न करना चाहिये, दूसरो को तथा अपने आप को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये, यदि हम कोई प्रतिबन्ध न रखें तो बातचीत सर्वोत्तम होगी—यदि हम न तो अपनी सच्ची राय छिपाये और न अपने साथी का किसी हालत मे विरोध करें, बल्कि ईमानदारी से और निष्पक्ष होकर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करें। अन्यथा हम अथवा हमारा भागीदार महारानी एलिजाबेथ की स्थिति मे हो जायेगा, जिन्हें ग्लेडस्टोन के प्रति अरुचि हो गयी थी क्योंकि उसने उन्हें एक सार्वजनिक सभा की तरह सम्बोधित किया था। किन्तु जब हम पूर्ण और स्पष्ट प्रतिक्रिया प्राप्त करने मे सफल हो जाते हैं, तो हम वैयक्तिक बैठक का अनुभव करते हैं जिसकी ब्यूबर माँग करता है। न तो हमे माँग करनी चाहिये और न हम बचने मे समर्थ हो सकते हैं।

ऐसे मिलन पर जोर देना अस्तित्ववादी दर्शन के अनुरूप है, फिर भी, उग्र अस्तित्ववादियो और ब्यूबर के बीच अन्तर स्पष्ट है। उनके लिए, मनुष्य का अस्तित्व अवस्तुता के दो ध्रुवो के बीच निलम्बित रहता है—जन्म से पहले और मृत्यु के पश्चात्। ब्यूबर के लिए, वैयक्तिक मिलन, दो अन्य प्रकार के मिलनों

के बीच मध्य अवस्था है, जो दोनो की वास्तविकता है। पहली अवस्था को वह "प्रकृति के साथ जीवन की" सज्ञा देता है, क्योकि हम केवल वस्तुनिष्ठ मे "तू" के तरीके से ही वस्तुओ को नही देखते, हम उनका अनुभव भी कर सकते है और करते हैं। "मैं" उसके बालो के रग, अथवा उसके भाषण तथा उसकी अच्छाई को अलग कर सकता हूँ। मुझे ऐसा निरन्तर करना चाहिये। किन्तु हर बार जब भी मैं ऐसा करता हूँ, वह "तू" नही रहता" (पृष्ठ ६-१०)। "तू" का अनुभव करने का अर्थ होता है सम्पूर्ण व्यक्ति का तात्कालिक ज्ञान प्राप्त करना।

मिलन अनुकम्पा से होता है। इसे बताने के लिए, ब्यूबर "अनुकम्पा" जैसे कठिन प्रत्यय को अधिक सरलतापूर्वक अभिगम्य बना देता है, जो मिलन के अनुभव को और स्पष्ट करती है। ब्यूबर, दिन-प्रतिदिन के जीवन मे अनुकम्पा का मूल बताता है और यद्यपि इस प्रकार की अनुकम्पा का वह अर्थ न लगाया जाये जो ईसाई लोग लगाते हैं, इससे अनुकम्पा का ईसाई सम्प्रत्यय को बोधगम्य बनाने मे सहायता मिलती है। अनुकम्पा को हम कई भिन्न-भिन्न सन्दर्भो मे देख सकते हैं। हम अपने आप किसी कविता के सौन्दर्य की सराहना नही कर सकते, हमे उसकी सुन्दरता का "भान" या तो एक बार मे हो सकता है अथवा कभी नही, अथवा हम बिना पूरी तरह से समझे कई बार पढ सकते हैं और फिर एकाएक उसे समझ जाते हैं। हम नैतिक-विधि के अनुसार कार्य करने का कठोर परिश्रम कर सकते हैं, जब तक कि अन्य व्यक्ति मे शुभत्व के अनुभव द्वारा नैतिक विधि व्यवहार मे नही आती और हम यह महसूस नही करते कि हमने पहले क्या खोया है ? हमारा कोई भी प्रयत्न किसी कविता का पूर्ण-बोध अथवा शुभत्व सीधे ही पैदा नही कर सकता, बोध एक "विशुद्ध अनुकम्पा" है। निश्चय ही हमे ऐसे अनुभव के प्रति झुकने, उसे स्वीकार करने और उस पर चलने की इच्छा पैदा करनी होगी, अन्यथा यह अनदेखा रह जायगा और उसके कोई परिणाम नही निकलेंगे। हमे वैयक्तिक सहभागिता की आवश्यकता है, जैसाकि हमने पहले कहा है। लेकिन, भाग लेने की केवल इच्छामात्र से भाग लेना सम्भव नही हो सकता। हमे प्रयत्न करना होता है, फिर भी, हमारे किसी भी प्रयत्न से यह गारण्टी नही मिलती कि जो हम चाहते हैं वह उपलब्ध हो जायगा, हमे दरवाजा खटखटाना होता है, किन्तु हमारे लिए दरवाजा खोलना होगा। वैयक्तिक मिलन मे यह सब स्पष्टत देखा जाता है "तू" का मुझसे मिलन अनुकम्पा से होता है, यह चाहने से प्राप्त नही होता .. . "तू" का मिलन मुझसे होता है। किन्तु "मैं" उसके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करता हूँ। इस प्रकार, सम्बन्ध

का अर्थ चुना जाना और चुनना है" (पृष्ठ ११-२) । हमे एक ही समय मे सक्रिय तथा ग्रहणयोग्य होना है—हमारा प्रयत्न आवश्यक है, किन्तु इसका परिणाम केवल सफल मिलन ही नही है।

यहाँ दो महत्त्वपूर्ण बाते है। एक ओर "अनुकम्पा" शब्द का अथ केवल वैयक्तिक-क्षेत्र मे अभिप्राय और परिणाम के बीच अन्त सम्बन्ध की पर्याप्त व्याख्या प्रस्तुत करता है न कि कारण और कार्य के शब्दो की कोई व्याख्या। ऐसे मिलन के लिए तैयार होने के लिए हमे कारणता के बारे मे भूलना है जब तक "तू" का स्वर्ग मेरे ऊपर फैला है, कारणता की हवाएँ मेरी एडी की ओर झुकती हैं और भाग्य का जलावर्त्त अपने मार्ग पर रहता है (पृष्ठ १०), दूसरी ओर चूँकि हमे सक्रिय और सग्रहणशील दोनो ही बनना है, अत मिलन "एक मे दु ख और कृत्य" है, और यह किसी भी ऐसे कृत्य के सम्बन्ध मे लागू होता है, जिससे हम पूरी तरह सम्बद्ध हैं। समग्र प्राणी का कोई भी कृत्य दु ख सदृश होगा ही जिसका अर्थ समस्त आशिक कृत्यो को निलम्बित करना है और परिणामस्वरूप उन कृत्यो की सभी सम्वेदनाओ को निलम्बित करना है, जो उनकी विशेष सीमा मे ही प्रतिष्ठापित है।* (पृष्ठ १२) अनुकम्पा पर निर्भरता से निष्क्रियता, प्रतीक्षा अथवा एक प्रकार के आलस्य, एक भ्रम को प्रोत्साहन मिल सकता है, जिसके विरुद्ध सेण्ट पॉल और लूथर को सघर्ष करना पडा था, जबकि उन्होने अनुकम्पा पर मनुष्य की पूर्ण निर्भरता स्थापित की थी। "मैं-तू" के सम्बन्ध से स्पष्ट है कि इस साम्राज्य मे कार्यशीलता और निष्क्रियता के बीच कोई विशिष्ट अन्तर नही किया जा सकता, न ही दु ख से बचा जा सकता है। आखिर, इसके अन्तर्गत कीर्केगार्ड के "अज्ञात मे छलाँग लगाने" जैसा है, जो निष्क्रिय स्वीकार्यता और एक कृत्य दोनो ही है और जो हमे दुख मे शामिल करेगा ही।

साथ ही साथ, हमे वर्त्तमान का अनुभव करने का सामर्थ्य प्रदान करता है। यह कठिन और अनिवार्य कार्य है। जब तक हम व्यावहारिक जीवन से घिरे है, तब तक हमारा निर्धारण उस अतीत से होता रहेगा, जिस पर हमे निर्माण करना चाहिये, और हम निरन्तर भविष्य के लिए योजना बना रहे हैं, वर्त्तमान केवल अवगम्य विभाजन रेखा है जहाँ कि भविष्य निरन्तर भूत की ओर खिसकता जाता है। फिर भी स्पष्टत, यदि हमे पूरा अनुभव करना है, समय गुजरने

---

*जर्मन में "लैडन" शब्द का अथ निष्क्रिय होना और दुख का अनुभव करना, दोनो ही हैं। इसलिए, ब्यूबर के लिए "दु ख" का अर्थ हमेशा दोनो से है।

पर ध्यान दिये बिना हमे वर्त्तमान मे रहना चाहिये, इसे अन्तर्वस्तु और अवधि प्रदान करनी चाहिये। हमे उसी पर केन्द्रित करना चाहिये जो हम वास्तव मे अनुभव करते हैं, उदाहरणार्थ, एक अच्छी बातचीत की, यही शर्त्त है और यह वैयक्तिक मिलन मे प्राप्त होती है। वास्तविक, पूर्ण वर्त्तमान केवल तभी विद्यमान होता है जबकि वास्तविक उपस्थिति मिलन और सम्बन्ध विद्यमान हो। वर्त्तमान का प्रश्न केवल तभी उठता है जबकि "तू" उपस्थित हो यह तुम्हारी उपस्थिति है, जब ऐसा होता है तभी तुम्हारे लिए वर्तमान है (पृ० १३, ३२)। तभी हम वास्तव मे पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

कोई कलाकृति वही कार्य पूरा कर सकती है। ब्यूबर का कहना है कि कलाकार, शब्द की व्यापकता को देखते हुए व्यक्ति के रूप मे जिसे उसके प्रतिनिधि के रूप मे "तू" कहा जाता है, और हम, कलाकृति का मूल्याकन करते समय इस कृति को अपने लिए "तू" बनाना होगा ताकि इसके पूर्ण प्रभाव की अनुभूति प्राप्त की जा सके। यहाँ भी "मैं-तू" का सम्बन्ध काम करता है।

इसका यह अर्थ नही है कि वस्तुनिष्ठ विधि को अलग कर दिया जाय। हमे आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनो ही विधियो की आवश्यकता है, क्योकि जिसे ब्यूबर "हमारे भाग्य की उदात्त उदासीनता" कहता है,—अर्थात् न तो हम निरन्तर "मैं-तू" के सम्बन्ध मे रह सकते हैं न वर्त्तमान मे। हमारे ससार मे प्रत्येक "तू" को "यह" होना पडता है। इसका कोई अर्थ नही कि सीधे सम्बन्ध मे "तू" कितना एकान्तिक रूप से विद्यमान था। जैसे ही सम्बन्ध प्राप्त कर लिया जाता है अथवा किसी प्रकार व्याप्त हो जाता है, तो "तू" वस्तुओ मे से एक वस्तु बन जाता है . सीधे सम्बन्ध मे प्रेम अपने आप बना नही रहता। यह वास्तविक और सम्भाव्य प्राणी के अन्तर-परिवर्तन मे बना रहता है (पृष्ठ १७-८) अथवा केवल वर्त्तमान मे ही रहना सम्भव नही है। यदि वर्त्तमान को तेजी से और पूरी तरह से काबू मे करने के लिए सावधानी न बरती गयी तो जीवन व्यर्थ हो जायगा।" इसलिए वस्तुनिष्ठ विधि आवश्यक है, परन्तु ब्यूबर इसकी सीमाओ को देखने और हमे अपरिहार्य आत्मनिष्ठ विधि से अवगत कराने पर बल देता है केवल भूत मे रहना सम्भव है, वास्तव मे इसमे ही कोई जीवन सुव्यवस्थित हो सकता है। हमे प्रत्येक क्षण का उपयोग करना है, और तब यह नष्ट नही होता इसके बिना मनुष्य जीवित नही रह सकता। लेकिन जो केवल इसके साथ रहता है, वह मनुष्य नही है (पृ० ३४)।

कठिनाई यह है कि न तो "मै–तू" के ससार का सामान्यीकरण किया जा सकता है और न किसी प्रकार की व्यवस्था मे इसे अस्तित्व मे रखा जा सकता है "तू" क्षणिक है, क्योकि यह बना नही रह सकता, इमे निरन्तर नये सिरे से अनुभव करना होता है। "तू" का अनुभव करने का अर्थ है किसी वस्तु को समझना, जिसकी पुनरुत्पत्ति अमूर्त प्रत्ययो द्वारा सम्भव न हो, प्रत्युत जो केवल अनुभव मे अभिगम्य हो, जब हम उसे पकडना चाहते हैं तो वह निकल भागती है, जब हम उसका सर्वेक्षण करना चाहते है तो हम इसे खो बैठते है, क्योकि वह "यह" हो जाती है। कोई भी तत्वमीमासीय प्रणाली, कोई भी सामाजिक व्यवस्था इसे स्थायी नही बना सकती, क्योकि जैसे ही एक सतत् रूपरेखा के अन्तर्गत इसका पता चलता है, ज्ञान के एक स्थायी लक्ष्य के रूप मे, इसकी भिन्न प्रकृति समाप्त हो जाती है। विचार अनुभव का पुनर्निर्माण कर सकते है, किन्तु वे कोई स्थापना नही है, क्योकि वे भी "यह" की दुनिया से सम्बन्ध रखते है।

फिर भी, "तू" का अनुभव प्राप्त करना आवश्यक है। व्यवस्था और सगठन का विवेचन करते समय ब्यूबर का कहना है "व्यवस्थित विश्व, विश्व-व्यवस्था नही है" (पृ० ३०)। आधुनिक एकदलीय शासन-पद्धति का स्वरूप समझने के पहले ही यह कहा गया था (जो रूस मे इसकी स्थापना से पहले नही था, बल्कि फासिज्म और नाजिज्म की शुरूआत के पश्चात् था)। एक तानाशाह अफसरशाही इस प्रकार सन्तोषजनक प्रभाव डाल सकती है कि आखिरकार व्यवस्था तो स्थापित हो गयी है, फिर भी यह अव्यवस्था का परिणाम हो सकती है। "तू" का अनुभव, सामाजिक सगठन के एक भाग के रूप मे न समझे जाने पर भी, हमे उन शर्तों से अवगत कराता है जिन्हे किसी मानव समाज को पूरी करनी चाहिये।

वास्तव मे, एक ऐसा ज्ञान विद्यमान है जो "मैं–तू" के सम्बन्ध की जानकारी तथा इसके सतत् नवीकृत अनुभव—इसकी "क्षमता और वास्तविकता" पर आधारित है। इसे क्रमबद्ध नही किया जा सकता, किन्तु धीरे-धीरे यह सचित हो सकता है। अभी तक की हमारी विवेचना से पता चला है कि हम सम्बन्ध की स्थितियो का पता और अधिक स्पष्ट रूप मे लगा सकते हैं, जिससे हमे इनका नवीकरण करने मे इसका और अधिक अनुभव करने तथा समझने मे सहायता मिलेगी और इसके उपयोगी परिणाम निकल सकते है क्योकि एक ऐसा केन्द्र भी है जहाँ विकास के एक केन्द्र के रूप मे, हमारे अपने व्यक्तित्व के ज्ञान के रूप मे सचयन हो सकता है।

वैयक्तिक मिलन का प्रमुख प्रभाव यह है कि हम अपने आप को खुले मे पाते है, किसी अन्य अवसर की अपेक्षा और अन्य व्यक्ति के बारे मे जानने की अपेक्षा हम अपने आप के बारे मे अधिक जानकारी प्राप्त करते है। हमने बताया है कि हम इस अन्य व्यक्ति के बारे मे, उसकी विशिष्ट विशेषताओ की नही (जो उसे "यह' बनायेगी) बल्कि उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के बारे में अन्त प्रज्ञात्मक ज्ञान प्राप्त करते है। यह बात हमारे अपने ज्ञान के साथ होती है, हम व्यक्ति की विशेषतामात्र, जो हम सयोगवश होते है, और हमारी मानव-प्रकृति—जो हमारे अन्दर विद्यमान है और सभी व्यक्तियो मे समान है—के बीच भेद करना सीखते है। ब्यूबर का कहना है "यदि हम अपने रास्ते पर चले जा रहे हैं और ऐसे व्यक्ति से मिलते है जो हमारी ओर चला आ रहा था और अपने रास्ते पर भी चल रहा था, हम केवल अपने रास्ते के भाग को ही जानते है उसके रास्ते के भाग को नही—उसके "हम" का अनुभव हम केवल मिलन मे करते है। पूर्ण सम्बन्धात्मक स्थिति की हम जानकारी प्राप्त करते हैं—बीते हुए जीवन के ज्ञान के आधार पर, हमारे सम्बन्ध तक जाने, रास्ते के हमारे भाग के आधार पर दूसरा भाग हमारे पास केवल आता है, हम उसे जानते नही है, यह मिलन मे आता है—तू मेरे सामने आता है। मै, इसके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करता हूँ" (पृ० ७४-५)।

इस सन्दर्भ मे, ब्यूबर एक अन्य महत्त्वपूर्ण भेद "व्यष्टित्व" और "व्यक्ति" के बीच—प्रस्तुत करता है। हममे व्यष्टित्व वह है जो हमे अन्य से अलग करता है, किन्तु एक समान आधार भी है जिस पर "मै-तू" का मिलन होता है। "अन्य व्यष्टित्वो से भिन्न होने पर ही व्यष्टित्व की उत्पत्ति होती है। अन्य व्यक्तियो से सम्बन्ध स्थापित करके ही मनुष्य अपना आभास कराता है। एक प्राकृतिक अनाशक्ति का आध्यात्मिक रूप है, दूसरा सम्बन्ध की प्राकृतिक सुदृढता का आध्यात्मिक रूप (पृ० ५९)। व्यष्टित्व मे चरित्र, जाति, गतिविधि, व्यवसाय, समान प्रतिभा सम्मिलित है। ब्यूबर के शब्दो मे, व्यक्ति मे 'आत्मत्त्व' की झलक मिलती है और यह "मैं हूँ" के वक्तव्य द्वारा व्यक्त होता है, न कि "मैं इस प्रकार हूँ" द्वारा। "मैं-तू" का सम्बन्ध व्यक्ति से है, किन्तु इसे समझने के लिए हमे व्यष्टित्व और अपने व्यक्तित्व दोनो को ही जानना होगा, और वैयक्तिक मिलन से यह जानकारी प्राप्त करने मे मदद मिलती है।

---

* यहा ब्यूबर की स्थिति वही है जो कीर्केगार्ड की है। देखिये पृष्ठ ६६-७।

इस भेद मे एक कठिनाई दूर होती है जिसने बहुत मे दार्शनिको को दुविधा मे डाल रखा है। यह अक्सर इस प्रश्न मे व्यक्त होता है "मै किस प्रकार जानता हूँ कि अन्य मन विद्यमान है ? यदि इस प्रश्न का उत्तर उन व्यक्तियो द्वारा दिया जाये जो वस्तुनिष्ठ विधि मे विश्वास करते है, उत्तर यह होगा कि हम अन्य व्यक्तियो को काम करते, प्रतिक्रिया व्यक्त करते और हमारे समान बर्ताव करते, ऐसी भाषा बोलते देखते है जिसे हम समझ सकते है, और यह ऐसी अकेली उक्तियो की गणना ही है जो हमे अन्त मे इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि अन्य व्यक्तियो मे भी सम्भवत वह वस्तु विद्यमान है जिसे हम अपने अन्दर "मन" कहते है। हमे केवल इतना याद रखना है कि हमने 'गेस्टाल्ट' के बारे मे क्या कहा है*—समझने का मनोविज्ञान कि हमारे मन इस प्रकार काम नही करते है। उग्र अस्तित्ववादियो का दावा है कि हमे केवल अपने अस्तित्व का ज्ञान है, वे इस प्रकार अन्य के ज्ञान से अपने आपको विमुख करते हैं, और फिर निराशोन्मत्त होकर मानव सम्बन्धो का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते है और उन्हे स्थापित करने का प्रयत्न करते उनका प्रयत्न व्यर्थ जाता है। ब्यूबर का मत है कि मैं और तू साथ-साथ बढते है "तू" के जरिए मनुष्य 'मैं" हो जाता है (पृ० २७-८) अन्य मनो के मिलन से ही हमारे मन का विकास होता है, यदि हमारा विकास पूर्णरूप से एकान्त मे हो तो हम मानव-मन का बिल्कुल भी विकास नही कर सकते, इस तथ्य की पुष्टि, जगली पशुओ के बीच पलनेवाले बच्चो से सम्बन्धित रिपोर्टों द्वारा हो चुकी है। इसलिए हम वास्तव मे यह पहले ही जानते है कि अन्य मनो का अस्तित्व है और केवल अपने ऊपर उनके प्रभाव से हमे अपने मन के बारे मे जानकारी होती है। व्यक्ति का एक अलग अस्तित्व नही है।

ब्यूबर, "प्रेम" के सम्प्रत्यय को स्पष्ट करके, मनुष्यो के बीच सामान्य बन्धन की प्रकृति को बतलाने का प्रयास करता है, अर्थात् उस प्रेम की प्रकृति बतलाने का प्रयास करता है जिसकी परिभाषा वह "तू" के लिए "मै" के उत्तरदायित्व के रूप मे करता है (पृ० १६) जो किसी के पडोसी के प्रेम के समकक्ष है। वह इस बात पर बल देता है कि यह प्रेम उन दो व्यक्तियो मे विद्यमान रहता है जो मिलते हैं, न केवल प्रत्येक के अन्दर, अर्थात् वास्तव मे उनके बीच कोई न कोई वस्तु विद्यमान रहती है। प्रारम्भ मे यह आश्चर्यजनक लग सकता है, क्योकि ब्यूबर ऐसी भावना के लिए जो स्थानिक प्रकृति की नही हो सकती स्थानिक

* देखिये पृष्ठ १४०-१४१

शब्द "बीच" का प्रयोग करता है, किन्तु वह एक बार फिर इस बात पर बल देना चाहता है कि इस सम्बन्ध मे जाना, आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य को भावना के अलग-अलग पात्र के रूप मे देखना पर्याप्त नही है। मैं और भावना, चाहे भावना कितनी ही लुभावनी और सुहावनी क्यो न हो, उसके शब्दो मे व्यक्ति का निर्माण नही करती, न ही अपने मूलरूप मे व्यष्टिगत भावना सच्चे प्रेम को दर्शाती है। वास्तव मे, यह बल, भावुकता और कमजोर दया के विरुद्ध भावनाओ मे सन्तोषजनक ढग से भाग लेने के विरुद्ध अच्छी प्रतिक्रिया है, यह पर्याप्त नही है कि मै अनुभव करता हूँ—मेरा प्रेम अन्य व्यक्ति तक पहुँचना चाहिये ताकि यदि यह एकपक्षीय भी रहे तो यह "एक मे ही क्रिया तथा दु ख हो" किन्तु यह पूरी तरह से वास्तविक हो जाता है जब दो व्यक्ति समान, आधार पर इस प्रकार मिलते है।

समान आधार पर इस मिलन के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और धार्मिक फलितार्थ है।

यदि "मै" भावना का अलग पात्र रहता तो सामाजिक आकाक्षाओ से किसी समुदाय का निर्माण नही होता जो आखिरकार हमारा लक्ष्य होना चाहिये, यहां तक कि समाजवाद, कुछ निजी भावना इसमे शामिल किये जाने पर भी, अपर्याप्त रहता है। समाज के लिए भी "मै–तू" के सम्बन्ध की आवश्यकता को दिखाने के लिए, ब्यूबर एक अन्य पुस्तक मे "हम" सम्प्रत्यय प्रस्तुत करते है। उनका दावा है कि चूंकि हमे "हम" की जानकारी नही है, हमारा समाज दो गलत अतियो के बीच आधुनिक व्यष्टिवाद और आधुनिक समष्टिवाद के बीच फँस जाता है। दोनो विचार चाहे अन्य से, उनके कारणो और अभिव्यक्ति से भिन्न हो, इसी स्थिति का ही परिणाम है, केवल विकास के विभिन्न स्तरो पर। यह स्थिति विश्व-सम्बन्धी तथा सामाजिक गृहहीनता विश्व तथा जीवन के भय के कारण है, जिसे ऐसा अकेलापन कहा गया है जो सम्भवत पहले कभी नही अनुभव किया गया। प्रत्येक मानव अपने आप को मनुष्य के रूप मे प्रकृति से अलग और एक व्यक्ति के रूप मे, भीड-भाड वाले जनसमूह मे एकाकी महसूस करता है। इस नयी और विलक्षण स्थिति की मान्यता के प्रति उसकी पहली प्रतिक्रिया आधुनिक व्यष्टिवाद हैं, दूसरी आधुनिक समष्टिवाद है . . .. किन्तु, यदि व्यष्टिवाद मनुष्य के कुछ भाग को समझता है, समष्टिवाद मनुष्य को केवल एक भाग के रूप मे देखता है, तो दोनो ही पूरे मनुष्य को, मनुष्य को उसके पूर्णरूप मे नही समझते है। व्यष्टिवाद मनुष्य को केवल उसके अपने

साथ सम्बन्ध मे ही देखता है, समष्टिवाद मनुष्य को बिल्कुल नही देखता, बल्कि केवल समाज को देखता है। पहला मनुष्य की आकृति को बिगाड़ता है, दूसरा उसे छिपाता है। उत्तर है "हम" कुछ निश्चित सख्या मे स्वतन्त्र व्यक्तियो का एक समाज, जिन्हे अपनेपन तथा उत्तरदायित्व की जानकारी है, जो "मै–तू" के सम्बन्ध मे रह रहे हो अथवा इसका समय-समय पर अनुभव कर रहे हो। "तू" कहने के लिए मनुष्य की शक्ति के आधार पर एक सच्चे समाज का निर्माण करना चाहिये।

यह अव्यावहारिक अथवा कीर्केगार्ड की राजनीतिक मॉगो जैसा लग सकता है, फिर भी एक बार फिर यह हमारे वास्तविक अनुभव के अनुरूप है। क्या ऐसा कोई प्रारम्भिक बिन्दु है जो आशा प्रदान करता है। जब तक कि हम अपने आप मानना, अनुभव करना, समाज के सन्दर्भ के अन्तर्गत हम का लक्ष्य पाना आरम्भ न कर दें ? यदि समाज को व्यक्तियो का विश्व बनाना है तो जन-समूह के अन्तर्गत वास्तविक समुदायो को पुनरुज्जीवित करना स्पष्टत अनिवार्य है। साथ ही, प्रेम मनुष्यो के बीच सामान्य आधार बताते समय, एक उच्च, एक आध्यात्मिक वास्तविकता प्रकट करता है। कीर्केगार्ड के विचारो का विवेचन करने मे हमने पहले ही कहा है कि प्रेम हमारे उस अस्तित्व का द्वार खोलता है जो अनुभवातीत है।* ब्यूबर जिन परिणामो पर पहुँचता है वे कीर्केगार्ड के समान है उसी प्रकार जैसे कि ईसाई मत कि ईश्वर का पितृत्व मनुष्यो की मातृत्व की शर्त्त है। किन्तु ब्यूबर ईसाई नही है, वह इन परिणामो पर भिन्न प्रकार से पहुँचता है जो अन्य की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष होने का कारण, प्रेम के ईसाई सिद्धान्त की भी व्याख्या करता है।

यह तथ्य कि व्यक्तिगत मिलन मे, दूसरा मुझे सम्बोधित करता है और मुझे सम्बोधित किया जा सकता है, मैं उसमे भी वही व्यक्ति देखता हूँ जो मैं हूँ, बताता है जैसा कि हमने अभी कहा है, कि हम सामान्य आधार पर मिलते है। यह सामान्य आधार केवल हमारी मानव-प्रकृति नही हो सकता, क्योकि इसका अनुभव एक "अनिवार्य दावा" के रूप मे किया गया है।† अर्थात् इससे किसी निरपेक्ष का पता चलता है जो प्रत्येक व्यक्ति को सम्बोधित करता है। ब्यूबर के अनुसार हम, उसके शब्दो मे "अन्तिम तू" द्वारा सम्बोधित होते है—

---

* पृष्ठ ६६-६७ देखिये।

† पृष्ठ ६१ देखिये।

"तू" जो "यह" नही बन सकता, क्योकि यह हमारे समस्त ज्ञान के परे है, हमे इसका ज्ञान केवल सम्बोधित होने पर ही होता है। यह अन्तिम "तू" प्रत्येक मानव "तू" का आधार है, यह हमे व्यक्तिगत मिलन के अनुभव का आभास कराता है, क्योकि सम्बोधित होने पर हम स्वय निरन्तर (चाहे अक्सर केवल सम्भाव्यता के रूप मे) "तू" की स्थिति मे रहते है। दूसरे शब्दो मे, ईश्वर, हमे सम्बोधित करके हमे मनुष्यो के साथ मे "तू" का अनुभव करने के लिए स्वतन्त्र छोड देता है, वैयक्तिक मिलन ईश्वर को इसके सामान्य आधार के रूप मे प्रकट करता है, और इस प्रकार, "मै–तू" सम्बन्ध के अनुभव मे ईश्वर का वास्तविक अनुभव हो जाता है। एक सम्बन्ध जिसे हम वास्तव मे अनुभव करते हैं सम्भव हो जाता है, क्योकि कोई ईश्वर है।

फिर भी, यह तथ्य, ईश्वर के विचार के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। क्योकि ईश्वर को "उपयुक्त रूप से केवल सम्बोधित किया जा सकता है, व्यक्त नही" (पृ० ७६) न तो किसी को ईश्वर के बारे मे बात करनी चाहिये, न उसकी परिभाषा करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके बदले, ईश्वर के किसी सम्प्रत्यय मे "तू" भी सम्मिलित होना चाहिये, ताकि हम उसे सम्बोधित कर सकें और अपने आपको सम्बोधित होते हुए सुन सकें। इस उपागम से हमे धर्म की प्रकृति की अधिक जानकारी प्राप्त होती है, उदाहरणार्थ, यह हमारे लिए पुरातन धर्मो का तिरस्कार करना असम्भव बना देता हे, क्योकि वे देवत्त्व को "तू" बनाकर विश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं जो हमारे लिए सन्तोषजनक तो नही है, फिर भी सही दिशा मे एक कदम है। किन्तु ब्यूबर बौद्धधर्म के सम्बन्ध मे अपवाद रखता है, जिससे इस बात पर बल दिया जा सके कि किसी को भी नही, यहाँ तक कि उच्चतम बौद्धिक अथवा नैतिक स्तरो को भी नही, "तू" को दबाने की अनुमति दी जाये। बौद्धधर्म का मूलरूप नास्तिक था जिसमे कोई "तू" नही था, जिसकी ओर देखा जा सके, और चूँकि धर्म के सच्चे कार्य से इसका मेल नही हो सका, बौद्धधर्म को हानि पहुँची, इसके बहुत से सम्प्रदायो ने, उनकी अपनी आकाक्षाओ के विपरीत, बुद्ध को ईश्वर मे परिणत कर दिया ताकि "तू" का प्रस्तुतीकरण हो सके, जिसे सम्बोधित किया जा सके। कोई भी धर्म निर्दोष नही रह सकता है यदि वह अवैयक्तिक हो जाय।

इसके अतिरिक्त, ब्यूबर के ईश्वर-सम्प्रत्यय से दर्शन और धर्म के बीच सीमाओ की व्याख्या हो सकती है। "ईश्वर को अन्य के बीच एक प्रकरण के रूप मे

अर्थात् सभी प्रकरणो मे सर्वोत्तम प्रकरण के रूप मे शामिल करने के बजाय दर्शन-शास्त्र पूर्णत और अशत ईश्वर पर वास्तव मे विचार किये बिना उसकी ओर सकेत करने के लिए बाध्य होगा। इसका अर्थ हुआ कि दार्शनिक इस तथ्य को स्वीकार करने और मानने के लिए बाध्य होगा कि निरपेक्ष का उसका विचार ऐसे बिन्दु पर समाप्त हो रहा था जहाँ कि निरपेक्ष है, कि यह ऐसे बिन्दु पर समाप्त हो रहा था जहाँ निरपेक्ष से प्रेम किया जाता है, क्योंकि इस बिन्दु पर "निरपेक्ष" नही रहता, जिसके बारे मे, ईश्वर को छोडकर कोई दार्शनिक रूप से विचार करे।[1]

"निरपेक्ष" शब्द से हमे उस बात को समझने मे मदद मिल सकती है, जो ब्यूबर कहना चाहता है। जो दार्शनिक ईमानदारीपूर्वक अनुभव करता है इस विशेषण का उपयोग करने के लिए बाध्य होगा, जैसाकि हमने किया है। किन्तु वास्तव मे, यह बताता है—केवल कुछ, जिसे चरम और अव्युत्पन्न मानना पडेगा, और जिसे हमे उसी रूप मे स्वीकार करना होगा, इसकी व्याख्या करने मे समर्थ हुए बिना। किन्तु हम "निरपेक्ष" शब्द का प्रयोग किये बिना इसका उपयोग नही कर सकते, और सज्ञा एक कदम और आगे चली जाती है, लेकिन इसका अर्थ, इस वक्तव्य तक सीमित है कि ऐसे सभी अनुभवो मे जैसाकि निरपेक्ष सिद्धान्त, कुछ और अधिक व्यापक महसूस होता है जिसमे निरपेक्षता निहित है, किन्तु जिसकी न तो परिभाषा की जा सकती है और न जिसे अधिक सीधी तरह से समझा जा सकता है, न ही और अधिक निश्चित सम्प्रत्ययो के जरिये जिसे व्यक्त किया जा सकता है। इस बिन्दु पर हम ज्ञान और दर्शन की सीमाओ तक पहुँचते है, जो ज्ञान के लिए प्रयास करता है। यह शब्द यह भी अच्छी तरह बताता है कि, क्योंकि हम निरपेक्ष को जानने मे असमर्थ है, इसकी परिभाषा नही दी जा सकती, और यह शून्य रह जाता है, जबकि ज्ञेय के परे किसी अन्य वस्तु की खोज करते हैं, जैसे "सीमाओ" शब्द का अर्थ है कि आगे ऐसा ही साम्राज्य है जहाँ हम नही पहुँच सकते। किन्तु धर्म के साथ यह प्रारम्भिक बिन्दु है, क्योंकि विश्वास करनेवाले के लिए "निरपेक्ष" शून्य नही है, प्रत्युत ईश्वर है (अथवा किसी प्रकार की आध्यात्मिक वास्तविकता) और इस प्रकार वास्तविक है और पूर्ण और असीम अर्थ रखता है। अत इस तथ्य के बावजूद कि निरपेक्ष दर्शन के परे है, दार्शनिक का काम निरपेक्ष को दिखलाना है जब कभी भी इसे ज्ञान मे समाविष्ट किया जाये, यह दिखलाना है कि ज्ञान अनुभवातीत सत्ता की ओर कर कहाँ सकेत करता है, चाहे इस पर यह विचार न भी करे। किन्तु दर्शन मे

ईश्वर को शामिल नही किया जाना चाहिये, जो, जैसाकि ब्यूबर का कहना है, व्यक्त नही किया जा सकता। दार्शनिक, दर्शन के अन्तर्गत न्यायसगत रूप से यह माँग नही कर सकता कि ईश्वर है (यद्यपि बहुत लोगो ने ऐसा किया है), किन्तु वह उन बिन्दुओ को बता सकता है जहाँ विश्वास करनेवाले के लिए, प्रदर्शन का स्थान विश्वास को लेना होगा। अगर दार्शनिक इन सीमाओ का सम्मान करता है तो वह उस खतरे का सामना किये बिना, जिससे पास्कल को डर था—कि ईश्वर, दार्शनिको का ईश्वर हो जायेगा, तात्विक समस्याओ पर केन्द्रित कर सकता है।

ब्यूबर द्वारा रहस्यवाद के अस्वीकार किये जाने से इसके शुद्ध रूप मे भी, धर्म की प्रकृति और स्पष्ट हो जाती है। शुद्ध रहस्यवाद का उद्देश्य सभी को मिलाकर एकात्मकता है, रहस्यवादी हर्षातिरेक के क्षणो मे, पूर्ण मेल का अनुभव करता है जिसमे ईश्वर और मनुष्य मिल जाते है ब्यूबर, इस बात पर बल देता है कि धार्मिक अनुभव के क्षेत्र मे भी मैं और तू के बीच विरोध अनिवार्य है, जैसाकि ईश्वर मुझे सम्बोधित करता है, मेरा व्यक्तिगत अनिवार्य रहता है—मैं बच जाता हूँ, मैं मुक्त किया जाता हूँ, मै महत्त्व रखता हूँ। सभी रहस्यवादी सिद्धान्तो मे यह पूर्वानुमान है कि ईश्वर मेरे अन्दर है, किन्तु हालाँकि यह सच है कि ईश्वर हमारे चारो ओर है और हमारे अन्दर रहता है, फिर भी, उसे हम अपने अन्दर कभी नही पाते। (पृ० १०२) सभी रहस्यवादी बाह्य वास्तविकता को भ्रममात्र मानते है, किन्तु यह वास्तविकता, "मैं-तू" सम्बन्ध की वह अवस्था हो सकती है और होनी भी चाहिये जिसे ब्यूबर "प्रकृति के साथ जीवन" की सज्ञा देता है।* और इससे हमे शिक्षा मिलनी चाहिये। रहस्यवादी दुख को जीतना अथवा यहाँ तक कि कुछ रूपो मे उसे अलग करना भी चाहता है, किन्तु दुख मिलन मे क्रिया का अग है, "मैं—तू" सम्बन्ध मे इसे अवश्य ही कार्य करना होगा।

इन कारणो से, ब्यूबर रहस्यवाद से दूर चला गया, जिसकी ओर वह आरम्भ मे आकर्षित हुआ था। वह एकता के रहस्यवादी अनुभव को मानता है, जो उसने कभी अनुभव किया होगा "मैं और तू" एकीकृत हो जाते है, मानवता, जिसकी पहले देवत्त्व से तुलना हुई थी, इसमे मिल जाती है—उत्कर्ष, देवत्त्व प्राप्ति, और प्राणी का अकेलापना सामने आया है। किन्तु वह इस अनुभव को

---

* पृष्ठ १४० देखिये।

अस्वीकृत कर देता है, क्योकि विश्वासो को हमारे सम्पूर्ण जीवन मे व्याप्त होना चाहिये ।" जब प्रबुद्ध और परिश्रान्त मनुष्य भौतिक कार्यो के सरक्षण मे वापस आ जाता है, और अपने हृदय के ज्ञान से दो स्थितियो पर विचार करता है, क्या वह यह पता लगाने के लिए बाध्य नही है कि उसका प्राणी अलग-अलग टुकडो मे बँटा हुआ, और एक अग सर्वनाश मे लगा है ? इससे मेरी आत्मा को क्या मदद मिलती है कि इसे इस ससार से ऐक्य मे फिर से वापस बुलाया जा सकता है, जबकि स्वय विश्व का इस ऐक्य मे कोई भाग नही है—"ईश्वर के आनन्द से जीवन को क्या लाभ मिलता है जो दो मे विभक्त है ? यदि उस प्रचुर समृद्ध दिव्य क्षण का मेरे भौतिक क्षण से कोई सम्बन्ध नही है—तब इसका मेरे से क्या प्रयोजन है, जिसे अभी जीवित रहना है, पूरी गम्भीरता से इस पृथ्वी पर जीवित रहना है ? इस प्रकार उन मास्टरो को समझना है जिन्होने आह्लादक "ऐक्य" के हर्षोन्माद का त्याग किया है* (पृ० ८४-५) । अनुभवातीत सत्ता तभी न्याय-सगत हो सकती है जबकि वह हमारे जीवन का यहाँ और अभी आधार होना सिद्ध करे क्योकि हम उसे केवल अपने अस्तित्व के भीतर और उसके कारण जानते हैं ।

सर्वेश्वरवाद को इन्ही आधारो पर अस्वीकार किया गया है । "वह ईश्वर विश्व का अग है, वह विश्व नही है अत यह भी कि ईश्वर मुझमे है किन्तु ईश्वर "मैं" नही है । इस दृष्टि से "मैं" और "तू" का सम्बन्ध बना रहता है और सम्वाद तथा आत्मा तथा भाषा (आत्मा का प्रमुख कर्म) तथा अनन्त मे शब्द । रहस्यवाद और सर्वेश्वरवाद दोनो मे, ईश्वर का सम्प्रत्यय, सर्वग्राही बना दिये जाने के कारण मानव को खतरे में डालता है और इस प्रकार सामान्यत गलत प्रतिक्रिया की ओर ले जाता है—"मैं" को स्व-केन्द्रित बनाकर इसे अन्य व्यक्तियो और अनुभवातीत सत्ता से बिलकुल अलग कर दिया जाता है । अथवा दूसरी तरह से और ब्यूबर की तरह कहा जाये तो बाइबिल-सम्बन्धी अर्थ मे विश्व का अर्थ हम शायद ही समझ पायें, हम केवल शब्दो को जानते हैं, अगर हम अन्तिम "तू" के रूप में ईश्वर के रचनात्मक कार्य का अनुभव नही करें तो हमारा जीवन, "मैं—तू" यह सम्बन्ध के स्तर तक ही सीमित रह जाने का भय है।

यह केवल "मैं—तू" सम्बन्ध ही है कि हम सच्ची धार्मिक श्रुति मे हिस्सा ले सकते हैं । ब्यूबर के अनुसार श्रुति सच होती है, जब यह पता चलता है कि हम

*यह दूसरा कारण है जिससे अवैयक्तिक निर्वाण की रहस्यवादी सम्भावना सहित बौद्धधम को अस्वीकार किया जाता है ।

"स्वीकृत" है, और इस प्रकार पूर्ण अस्तित्व से सम्वद्ध, जव इस बात की पुष्टि हो जाती है कि इस अस्तित्व का कोई अर्थ है, और जव इस अर्थ से हमारे जीवन का मूलभूत फल यही और इमी समय म्लि जाता है न केवल वाद के जीवन मे। वह हमेशा धर्म का मूल्याकन इस प्रकार करता है कि यह इस ससार के सम्बन्ध मे किस प्रकार विचार करता है और यह एक ऐसी कसौटी प्रस्तुत करता है जो विभिन्न धर्मो अथवा किसी धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो का मूल्याकन करने मे हमे सहायता प्रदान कर सके। लेकिन हम श्रुति से विमुख हो जाते है क्योकि धर्म का विकास तीन अवस्थाओ मे होता है। पहला, जिसका हमने अभी उल्लेख किया है, ब्यूबर "जीवित श्रुति" की सज्ञा देता है, यह अविलम्ब क्रिया की ओर अग्रसर करती है, यह दस धर्मादेशो की अवस्था है। वाद मे धर्म के रूपो पर बल दिया जाता है, फिर भी ये रूप प्रभावी है ? यह चर्च और कर्मकाण्ड के निर्माण की अवस्था है, यह अभी भी प्रचलित है, किन्तु यह, "यह" की ओर जा रही है। अन्तत, धर्म केवल "न्यायसगत" है—अर्थात् एक स्वीकृत सचाई के रूप मे और इस प्रकार एक अमूर्त सिद्धान्त के रूप मे, उससे अधिक नही, इस अवस्था मे हमारे पास शब्द के बजाय केवल शब्द हैं। एक बार जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, जीवित श्रुति को पुन प्राप्त करने का, धर्म को हमारे जीवन का अग बनाने का, कोई दूसरा तरीका नही रह जाता, वल्कि मनुष्यो के साथ और ईश्वर के साथ "मैं–तू" सम्बन्ध का अनुभव रह जाता है।

मसीह को इतिहास के एक "केन्द्र" के रूप मे देखने के लिए ईसाई धर्म को स्वीकार करने के आधुनिक मनुष्य के प्रयत्नो मे सम्भवत यह विचार एक बडी बाधा को दूर कर सकता है। हम ऐतिहासिक विचारधारा विकास सिद्धान्त के प्रति यहाँ तक कि प्रगति के विश्वास मे इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि हमे इतिहास को एक निरन्तर विकास के रूप मे देखना पडता है। तब इसे किसी घटना पर किस प्रकार केन्द्रित किया जाय, जो बहुत पहले घटी थी ? हमे ऐसा प्रतीत होना चाहिये कि उसके बाद जो कुछ हुआ है, उन सवके द्वारा बहुत पहले इसका स्थान ले लिया जा चुका है, किन्तु यदि हम "मैं–तू" सम्वन्ध का पूर्णरूप मे अनुभव करें, तो यही हमारे जीवन का केन्द्र बन जाता है और सभी अनुभव इससे सम्वद्ध है, हम निरन्तर इसका उल्लेख करते है। इसके आधार पर पिछले अनुभवो को परिवर्तित करके भी, यह पूण अस्तित्व के अर्थ की व्याख्या करता है अथवा पहली वार इसका अर्थ निकालता है। हमारे अनुभव, पारदर्शी जैसे हो जाते हैं।[1] एक अकेला वैयक्तिक मिलन बहुत महत्त्व का केन्द्र हो सकता है.

यदि ईश्वर "तू" । मसीह के रूप मे मिल जाये तो यह केन्द्र कितना शक्तिशाली हो सकता है, क्योकि ब्यूबर "तू" को अच्छी तरह जानता था, यदि हम एक बार उससे "तू" के रूप मे मिल ले, तो वह केन्द्र बन जायगा, जिसमे सम्पूर्ण इतिहास सम्बद्ध होना चाहिये ।

ब्यूबर ईसाई नही है, वल्कि एक दृढ यहूदी है वह जैसस की वात करता है, मसीह की नहीं । वह सभी पैगम्बरो मे जैसस को महान्‌तम मानता है, किन्तु एक मध्यस्थ के रूप मे नही, ईश्वर के पुत्र के रूप मे नही । उसे ईश्वर को नाम देने मे आपत्ति है और मोसेज "मै हूँ, मैं कौन हूँ" का ईश्वर से उत्तर चाहता है । फिर भी, यह मात्र घटना नही है कि ब्यूबर ने ईसाई धर्मतत्त्वज्ञो को इतना अधिक प्रभावित किया, फिर से जीने के लिए, ईसाई धर्म को पुन जाग्रत करने के लिए, लोगो को यहूदीवाद की अवस्था मे, पूर्वविधान की अवस्था से होकर एक बार फिर गुजरना होगा । नामरहित ईश्वर का सीधा प्रभाव सम्भवत आधुनिक मनुष्य के लिए ईसाई धर्म की अपेक्षा कम कठिनाइयाँ प्रस्तुत करता है, इससे ईश्वर के कुछ अति मानवत्त्वारोपी प्रतिरूप भी दूर हो जाते है (जो विश्वासकर्त्ता की अपेक्षा बाहरी व्यक्ति को रिक्ततर प्रतीत होते हैं) और इस प्रकार ईसाई धर्म मे वह भव्यता पुन प्राप्त करने मे महायता मिलती है जिसकी नीट्‌शे मे कमी थी और जिसके लिए कीर्केगार्ड ने सघर्ष किया । इससे हम ब्यूबर की छानबीन—कि उद्देश्य समस्याओ का हल नही है जैसाकि विज्ञान मे है बल्कि समन्वय और मोक्ष है—को स्वीकार करने मे समर्थ होते हैं ।

किन्तु एक बात है जिसकी ब्यूबर चर्चा नही करता है—किसी और मूलभूत अनुभव से स्वय "मैं–तू' सम्बन्ध का उद्‌भव, इसे चरम और निरपेक्ष माना जाता है । मुझे आशा है कि हमारे विचार-विमर्श से इस बात का पता चल गया है कि यह धारणा कहाँ तक उपयोगी है, और अब हम समझ गये है कि इस सम्बन्ध का क्या अर्थ है, हम यह और कह सकते हैं कि यह भी पूणत न्याय-सगत है । "मैं–तू", स्पष्ट "मैं–वह" की अपेक्षा अधिक बुनियादी है, क्योकि 'यह" में से व्यक्ति (ब्यूबर के अर्थ में) और अनुभवातीत सत्ता को अलग कर देना होगा इस प्रकार यह अपकर्षण और सरलीकरण द्वारा प्राप्त किया जाता है, जबकि तू, जो व्यक्ति और अनुभवातीत सत्ता पर आधारित है, फिर भी इसमें प्रकृति और बाह्य विश्व को कभी शामिल नही किया जा सकता । इसके अतिरिक्त, अगर हम वास्तव में एक बार किसी व्यक्ति से मिल लें, व्यष्टित्व के सभी सापेक्ष तत्त्वो का महत्त्व समाप्त हो जाता है, इस प्रकार इस बात की पुष्टि

होती है कि यह व्यक्ति ही है जो हमारे अस्तित्व के लिए मौलिक है। जैसाकि मेकमरे का कहना है "यह कहना निरर्थक है कि विभिन्न वर्गो, अथवा विभिन्न व्यवसायो के व्यक्तियो अथवा विभिन्न राष्ट्रीयताओ अथवा विभिन्न लिंगियो के वीच मित्रता नही हो सकती। वास्तव मे ऐसा हो सकता है, और होता है। व्यक्तिगत सम्वन्ध उन सभी भेदो को दूर कर देते है जो लोगो मे भिन्नता पैदा करते है। किन्ही दो व्यक्तियो के वीच व्यक्तिगत मित्रता सम्भव है क्योकि वह केवल इस तथ्य पर आधारित होती है कि वे दोनो व्यक्ति है।

इस प्रकार व्यूवर जो निरपेक्ष स्थापित करता है वह "अस्तित्वपरक" है, किन्तु यह उससे वहुत भिन्न है जिसे हमने "निरपेक्ष अस्तित्ववाद" की सज्ञा दी है। उसे उस दर्शन की गलतियाँ स्पष्टत दिखायी देती है, उदाहरणार्थ, सार्त्र और हीडेगर के वारे मे वोलते हुए वह कहता है "उन दो मे से जिन्होने ईश्वर की मृत्यु के विषय मे नीट्त्शे के मत को स्वीकार किया है, एक सार्त्र अर्थ और मूल्य के स्वतन्त्र आविष्कार के अपने अभ्युपगम के जरिये "एड एवसर्डम" लाया है। दूसरा हीडेगर, सच्चाई के विचार मे से ईश्वर के पुनर्जन्म के सम्प्रत्यय का निर्माण करता है जो ऐतिहासिक समय के लुभावी जाल मे फंस जाता है"[1] और इस प्रकार अपने आप को अनुभवातीत सत्ता से, जो ऐसे पुनर्जीवन की ओर ले जाती है, अलग कर देता है। इसलिए, दोनो को ही विनाशकारी होना होगा, जो व्यूवर की उपलब्धियो के ठीक विपरीत है।

व्यूवर जब हमारे अपने समय के निदान पर आता है, विषाद के पैगम्वरो के समान ही दीखता है, वह उस शून्यता का वर्णन करता है जो हमारे लिए आवश्यकता से अधिक भय उत्पन्न करनेवाली है। क्योकि इसके अनुसार, जैसाकि हमने देखा है, "मैं-तू" और "मैं-यह" सम्वन्ध मानव-अस्तित्व का निर्माण करते है, इसलिए प्रश्न केवल यह है कि दोनो मे से कौन-सा, विशेष समय मे वास्तुकार है और कौन-सा उसका सहायक। प्रश्न तो यह है कि क्या, "मैं-तू" का सम्वन्ध वास्तुकार रहता है, क्योकि यह स्वय स्पष्ट है अत इसे सहायक के रूप मे नियुक्त नही किया जा सकता। यदि यह आदेश नही देता तो यह पहले ही नष्ट हो रहा है। हमारे युग मे, "मैं–यह" सम्वन्ध, विशाल रूप धारण करके सामने आया है, वस्तुत निर्विरोध होकर शासक वन गया है। इस सम्वन्ध मे "मैं", एक मे जिसमे सभी चीजें हैं, जो सभी को वनाता है, सभी के साथ सफल होता है, यह "मैं", "तू" कहने मे असमर्थ है, किसी प्राणी से अनिवार्यत मिलने मे असमर्थ है ...(यह) स्वभावत न तो ईश्वर को मान सकता है न किसी वास्तविक

नरपेक्ष को जो गैरमानव-कुल की अपेक्षा मनुष्यो मे अपनेआप को अभिव्यक्त होता है। यह बीच मे आता है और हमारा स्वर्ग का रास्ता रोक देता है।"[१]

काफी हद तक, यह निदान निश्चय ही ्यायसगत है और यह निराशाजनक लग सकता है, किन्तु हमारे लिए स्वर्ग के दरवाजे बिल्कुल बन्द नही हैं। इस प्रकार देखने पर "मैं–यह" की शक्ति, "मैं–तू" के लिए एक चुनौती है, और वैयक्तिक मिलन का प्रत्येक अनुभव, जिसे इस विश्वास के प्रकाश मे और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है, साधक जीवन की ओर विनाश से दूर अग्रसर होगा। इसके अतिरिक्त ऐसे मिलन बिल्कुल ही नही रोके जा सकते। यहाँ अवस्तुता के प्रति प्रतिक्रिया है, जिसे सभी अस्तित्ववादी आवश्यक समझते है, किन्तु जिसका नीट्शे, सार्त्र और हीडेगर निर्माण नही कर सके। हमे अनुभव को साक्ष्य के रूप मे स्वीकार करना होगा, किन्तु यदि अनुभव को इसकी पूर्ण गहराई से देखा जाये, अस्तित्वाद आगे निकल जायगा, जैसाकि कीर्केगार्ड के सम्बन्ध मे हमारे विचार-विमर्श से भी पता चला, जिन परिणामो की ओर हम देख रहे हैं—ठोस परिणामो की ओर जिन्हे स्वीकार करने का हमे अधिकार है।

इसके अतिरिक्त ब्यूबर के दृष्टिकोण मे एक अन्य बहुत महत्त्वपूर्ण योग्यता है। वह न केवल वैयक्तिक सम्बन्धो को चर्चा के लिए प्रस्तुत करता है, जो एक बार उसकी शब्दावली समझ मे आ जाने पर सम्भवत अन्य की अपेक्षा अधिक सहायक है, उसने एक मार्ग की खोज की है जिसमे हम सार्थक बात कर सकते है, जिसे बहुधा अस्पष्ट रूप से अथवा घृणापूर्वक "रहस्यवादी" कहा जाता है। अनुभवातीत सत्ता एक धार्मिक अनुभव, अलौकिक अथवा ईश्वरीय यथार्थता, ईश्वर-प्रत्येक जो ये सम्प्रत्यय इगित करने का प्रयत्न करता है, उनकी चर्चा करना कठिन है, ऐसा इसलिए और भी है कि हमारा युग किसी भी आध्यात्मिक वस्तु के बारे मे इतना अनिश्चित है कि जो शब्द किसी परिभाषा की उपेक्षा करते हैं, उसकी और अधिक आवश्यकता लगती है। ब्यूबर दिन प्रति-दिन के अनुभव के आधार पर अनुभवातीत सत्ता पर चर्चा करने के लिए समर्थ बनाता है, जिससे हम अपनी परीक्षा कर सकते हैं, और ईश्वर के वास्तविक अनुभवो और रहस्यवाद के भ्रामक प्रकार के बीच अन्तर स्पष्ट करने मे भी। उसका दृष्टिकोण न तो निरपेक्ष है और न केवल दीक्षित के लिए, कुछ ही लोग इस मत को अस्वीकार करेंगे कि उसकी युक्ति की कम से कम प्रारम्भिक अवस्थाएँ अर्थ देती है। इस प्रकार, यद्यपि वह ईश्वरीय अनुभव रखनेवालो को अनुभवो से सम्बद्ध

करने मे समर्थ बनाता है, जो सभी व्यक्तियो के लिए समान है, और यह अन्तिम "तू" को स्वीकार करने मे योग दे सकता है जो जैसाकि ब्यूबर ने दावा किया है, हमे सम्बोधित करके इस समान आधार का निर्माण करता है। ईश्वर अधिक देर तक छिपा नही रह सकता, वह हम से फिर बात करेगा।

* * *

नौ

विज्ञान और धर्म मे अबुद्धितत्त्व

हम ऐसी घटनाओ से घिरे है जिन्हे समझने मे हम असमर्थ है। चाहे हम दैनिक अनुभव पर विचार करे या विज्ञान या दर्शन या धर्म पर, हमे हमेशा पास्कल की इस युक्ति की ओर लौटने के लिए बाध्य होना होगा "कि ऐसी वस्तुएं अनन्त है जो बुद्धि के परे हैं।"* जन्म की समस्या है, जिसमे अस्तित्ववादी पूर्वाधिकृत हैं—मेरा जन्म इस विशेष युग मे, एक देश और परिवार मे क्यो हुआ है, जिसका मैं वरण नही कर सकता और जिसके लक्षण और अधिकारो को मुझे स्वीकार करना है, फिर मृत्यु की समस्या है—मरने के लिए मेरा जन्म क्यो हुआ है? यह और कई अन्य तथ्य—कि हम एक ऐसे विश्व मे रहते है, जिसका स्वरूप हमारे लिए प्रच्छन्न रहता है और इसमे एक सबसे छोटे पिण्ड पर, हम यह नही जानते कि भौतिक द्रव्य क्यो है, जीवन क्यो है—इस प्रकार के तथ्य किसी मूल भूत सन्दर्भ मे, हम "क्यो" प्रश्न का उत्तर देने मे असफल रहते हैं। फिर भी, ये अव्याख्येय घटनाएँ ही हमारे जीवन के आधार और सधार है। हमे उनकी शर्तें मान लेनी होती हैं और अगर हमारे अस्तित्व को सार्थक होना है तो उन्हे किसी न किसी रूप मे अर्थपूर्ण होना होगा।

---

* पृष्ठ ६ देखिये।

इन सभी घटनाओ को अबुद्धितत्त्व की सज्ञा दी जा सकती है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार, इसका अर्थ होता है "अयुक्तिसिद्ध, असगत, विवेकशून्य", यह एक ऐसी चीज है जो हमारी बुद्धि को ललकारती है, जिसे बुद्धि सन्तोषजनक रूप से समझ नही सकती। इसे अर्थशून्यता के बराबर रखा जा सकता है।

परन्तु अबुद्धितत्त्व का एक दूसरा अर्थ भी लगाया जा सकता है यथा, "अधितर्कनापरक"—कुछ ऐसी चीज जो एक असमाधेय समस्या, एक रहस्य रहता है, लेकिन फिर भी, एक प्रच्छन्न, उच्चतर अर्थ बतलाता है, जो तर्कबुद्धि के परे तो है, फिर भी सार्थक रूप मे देखा जा सकता है। अस्तित्ववाद का वर्णन इस रूप मे किया जा सकता है कि अबुद्धितत्त्व के इन दो सिरो के बीच इसे रख दिया गया है, जबकि निरपेक्ष अस्तित्ववादी, एक ऐसी चुनौती के रूप मे अबुद्धितत्त्व पर बल देते है, जिससे एक गहरा अर्थ प्रकट हो, लेकिन अन्त मे वे अर्थशून्यता को ग्रहण करने के लिए बाध्य होते हैं, जैसे कीर्कगार्ड, जैस्पर्श और ब्यूबर और प्रारम्भिक युग मे जैसे पास्कल, उस क्षेत्र मे एक ऐसा अर्थ खोज निकालते हैं जो बुद्धि के परे है।

चूंकि ये अव्याख्येय घटनाएँ अधिक आधारभूत घटनाएँ हैं, अत प्रश्न यह है कि बुद्धितत्त्व शब्द के इन दोनो अर्थों मे से कौन-सा अर्थ—असगत या अधितकनापरक—हमारे अस्तित्व को अर्थ प्रदान करने के प्रयास मे, किसी मानवीय प्रयोग की प्रासगिकता के सम्बन्ध मे निर्णय करने मे हमारी सहायता कर सकता है। विशेषरूप से, यह उन दोनो अनुशासनो का मूल्याकन करने मे दार्शनिक की सहायता कर सकता है, जो दर्शन के बाहर है, लेकिन फिर भी किसी भी दार्शनिक विवेचन मे मुख्यरूप से इसका दृष्टिगोचर होना अनिवार्य है, जैसाकि उन्होने हमारे विज्ञान और धर्म मे किया है।

परन्तु विज्ञान के सम्बन्ध मे आगे विचार-विमर्श करने के पूर्व मैं एक सम्भावित भ्रान्ति का निवारण पहले ही कर देना चाहूँगा। हमे विज्ञान की सीमाओ को बतलाना था और हमे, इस अर्थ मे, फिर ऐसा करना होगा कि हम इस बात का सुनिश्चिय करें कि इसका प्रयोग इसके उचित क्षेत्र से बाहर नही हुआ है। इसका यह अर्थ नही होता कि यहाँ जिस दर्शन का प्रतिपादन किया गया है वह किसी रूप मे विज्ञान विरोधी है, हालाँकि अस्तित्ववाद प्राय है। और न "वैज्ञानिक" का हमारे वास्तविक करने का यह अर्थ है कि कोई वैज्ञानिक इन

सीमाओ मे कभी अवगत है ही नही, कई वैज्ञानिक इन सीमाओ मे अवगत हैं और कई वैज्ञानिक नही। दार्शनिक का सम्बन्ध एक अभिवृत्ति, एक विशेष प्रकार के अनुशासन मे है न कि व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध मे किये गये निर्णय मे। लेकिन आज जबकि विज्ञान विजयी है यह उसके सबसे महत्त्वपूर्ण कार्यों मे से एक है कि वे विज्ञान द्वारा किये गये किसी गलत दावे को अस्वीकार करे। यह तो स्वय विज्ञान के लिए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योकि सैद्धान्तिक कथनो मे उस विज्ञान की प्रगति मे रुकावट आ सकती है, जो निरन्तर परिवर्तनशील सिद्धान्ता पर आधारित है। वस्तुत प्रकृति के सम्बन्ध मे तत्त्वमीमासा चिन्तनो को अनावश्यक बना करके विज्ञान के दर्शन को एक भारी बोझ से मुक्त किया है। लेकिन अब वैज्ञानिको या अवैज्ञानिको के लिए यह एकदम गलत है कि वे अपनी पारी मे क्रमश विज्ञान को अस्तित्व की एक सर्वग्राही तत्त्वमीमासा व्याख्या बनाये या यह सुझाव रखे कि पूर्ण रूप मे किसी चीज को समझने का यही एक तरीका है। विज्ञान के इसी भ्रान्तिजनक दार्शनिक विस्तार से हमारा सम्बन्ध है। इस प्रकार के भ्रान्तिजनक दावे प्राय इस कारण मे हैं कि एक आधारभूत तथ्य पर हम ध्यान नही देते—अर्थात् इस बात पर ध्यान नही दिया जाता कि आधुनिक विज्ञान ने मध्ययुगो की तर्कनापरक अभिवृत्ति को समाप्त कर दिया है और वह मूलभूत रूप से अबुद्धिवादी हो जाता है। पाण्डित्यवाद ने सम्पूर्ण अस्तित्व की सर्वग्राही तर्कनावादी व्याख्या प्राप्त करने का प्रयास किया था, प्रत्येक वस्तु के प्रथम कारण के रूप मे ईश्वर था, जो कभी घटित हुआ, आद्यचालक के रूप मे, सृष्टिकर्त्ता के रूप मे गीत उत्पन्न करनेवाला था, चूँकि उस समय "ईश्वर" सम्प्रत्यय को पूर्ण रूप से इस रूप मे स्वीकार किया गया जो नि सन्देह वास्तविक प्रकार की कोई चीज है, ये व्याख्याएँ बुद्धि परीक्षण से मानी हुई बात मालूम हुई। फ्रासिस बेकन ने आरम्भ मे आधुनिक वैज्ञानिक विधि की परिभाषा दी थी जबकि उसने कहा था "भौतिकी मे वे (प्रयोजन कारण) असगत हैं . और विज्ञान की प्रगति मे बाधक हैं"[1] और जब उसने निगमन के स्थान पर आगमन रखा। निगमन, "जो सामान्य से विशेष का अनुमान करता है", विशुद्ध रूप से तार्किक प्रक्रिया है, जबकि आगमन "विशेष उदाहरणो से सामान्य नियम का अनुमान करता है"[2] स्वय बेकन के चिन्तन की अपेक्षा कम तर्कनापरक है, क्योकि हम उन सभी उदाहरणो से अवगत नही हो सकते जो घटित होते है, अत हम अपवादो के अस्तित्व की सम्भावना के साथ सामान्य नियम का रूप देते है। लेकिन आगमन आधुनिक विधि बन गया है। उसके विकास मे एक और महत्त्वपूर्ण कदम गैलिलिओ

का था, जिसने गति की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सभी अनुमानो का खण्डन किया, विज्ञान का सम्बन्ध केवल वर्तमान गतियो के प्रेक्षण मे होना चाहिये। इसके परिणामस्वरूप, विज्ञान "जड तथ्यो" की स्वीकृति, उनके प्रेक्षण, उनके महत्त्व, माप, परीक्षण पर आधारित है, जिसके सम्बन्ध मे और कोई प्रश्न नही पूछा जा सकता। इस बात की कोई व्याख्या नही है कि ये तथ्य क्यो दिये जाते है, इस अबुद्धिवादी आधार को केवल मान लिया जाता है और उसके बाद बुद्धि का प्रयोग किया जाता है।

प्रथम और द्वितीय अध्यायो मे हमने विज्ञान के कई ऐसे उदाहरणो का उल्लेख किया है जो बुद्धि के परे जाते है—क्वान्तुम सिद्धान्त, विकास सिद्धान्त, विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सिद्धान्त।* इन सभी मामलो मे हमने ऐसे तत्त्वो को देखा जो बुद्धि की अवज्ञा करते है, जो वास्तव मे असम्भव है। इन सभी सिद्धान्तो मे जो आधारभूत तथ्य स्वीकार किया जाता है, वह एक प्रकार की अव्याख्येय अनियमितता की उपस्थिति है, जिससे परिवर्तन और विकास होते है। सक्षेप मे, हम जानते है कि जो विकास विश्व को व्यवस्था की ओर ले जाता है वह अव्यवस्था मे लाया जाता है, अप्रत्याशित घटनाओं और अन्धशक्तियो की सहायता से लाया जाता है, जबकि बुद्धि इस बात की माँग करती है कि व्यवस्था, मार्गदर्शक सिद्धान्तो के आधार पर व्यवस्था की सृष्टि करने के प्रयास मे उत्पन्न हो।

एक बार फिर उन उदाहरणो मे से एक उदाहरण लिया जाय, विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे हमने दो सिद्धान्तो की ओर सकेत किया है। एक सिद्धान्त यह है कि भौतिक द्रव्य आदि मे अधिकाधिक सान्द्र था, और दूसरे सिद्धान्त के अनुसार भौतिक द्रव्य सम्पूर्ण दिक मे बारीक रूप मे फैला था।† इन दोनो मामलो मे, एक प्रकार की अनियमितता को, जिसे समझा नही जा सकता, विश्व की सृष्टि की प्रक्रिया आरम्भ करनी पडी थी। एक दूसरा सिद्धान्त भी है, वह है "सतत् सृष्टि का सिद्धान्त, जिसमे इस बात पर विश्वास किया जाता है कि अवस्तु से भौतिक द्रव्य की सृष्टि सतत् रूप से होती रहती है। प्रोफेसर फ्रेड ह्वोयल जो इस सिद्धान्त को मानते है, इस बात पर अधिकाधिक बल देते है कि यह वास्तव मे, अवस्तु से परमाणु की सृष्टि है।" समय-समय पर लोग यह पूछते है कि सर्जित भौतिक द्रव्य कहाँ से आता है। यह कही से नही आता। भौतिक

* पृष्ठ २-३, २०-३ देखिये।
† पृष्ठ २१-२ देखिये।

द्रव्य केवल प्रकट होता है—इसकी सृष्टि की जाती है। एक समय था जब विभिन्न परमाणुओ स निर्मित भौतिक द्रव्य का अस्तित्व नही था और बाद मे उसका अस्तित्व हुआ।'[1] यह एक दूसरे सुस्थापित दार्शनिक दावे का खण्डन करता है कि अवस्तु से किसी चीज की सृष्टि नही हो सकती। वास्तव मे यह भी असम्भव है, अगर अवस्तु से किसी चीज की सृष्टि हो सके तो इसमे निश्चित सृजनात्मक शक्तियाँ होगी और इस प्रकार यह अवस्तु नही रह जायेगी।

विज्ञान मे हम जहाँ कही भी देखे, हम ऐसा अबुद्धितत्त्व पायेगे। अगर हम अन्तिम उदाहरण ले तो देखेगे कि सापेक्ष-सिद्धान्त मे काल और दूरी "सापेक्ष" हो गये है, अर्थात् उनका विस्तार स्थिर नहीं रह गया है, प्रत्युत यह अन्य कारको पर आश्रित है। फिर भी, यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रकाश की चाल पूर्णत स्थिर है, हालाँकि न तो इस प्रकार की स्थिरता, न निरपेक्षता स्थापित करने का कोई तरीका रह गया है, जैसाकि निकोलाय हार्टमैन कहता है "उस प्रकाश की चाल की स्थिरता के बारे मे हम क्या विचार कर सकते हैं जिनका अस्तित्व दिक् और काल मे माना जाता है, जो सापेक्ष हो गये है? चाल की स्थिरता का अर्थ यह होता है कि समान अवधियो मे समान दूरियाँ निरन्तर काटती हैं, लेकिन अगर काल और दिक् का विस्तार हो सकना है और वह सिकुड सकता है तो "समान" अवधियाँ और "समान" दूरियाँ क्या है? यह निष्कर्ष, जो प्रकाश की चाल की निरपेक्ष स्थिरता की ओर सकेत करता है, एक ऐसी अनिवार्य कठिनाई मे पड जाता है कि इस परिणाम से स्थिरता और अस्थिरता की सम्भावना की पूर्व कल्पनाए समाप्त हो जाती है, यह सिद्धान्त स्वय अपनी पूर्व कल्पनाओ का अन्त कर देता है"[2] उस तथ्य को, जो बुद्धि की अवज्ञा करता है, स्वीकार ही करना है।

अत जिस रूप मे विज्ञान अबुद्धितत्त्व को शामिल करता है, वह मानवीय अनुभूति की दृष्टि से सर्वथा असन्तोषजनक है, और इससे यह और भी आवश्यक हो जाता है कि इसकी सीमाओ को हम माने। अगर यह नही किया जाता तो विज्ञान मे यह अबुद्धितत्त्व एक बहुत बडे खतरे का द्योतक है। न केवल भौतिकी मे, प्रत्युत अधिकाधिक रूप स जीवविज्ञान और शरीरविज्ञान मे—विज्ञान भौतिक जगत की आधारभूत रचना मे अधिकाधिक व्याप्त हो गया है और उसने उसे प्रभावित किया है, अब बैकन और गेलिलियो की चेतावनियो पर ध्यान नही दिया जाता, जैसाकि विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो सिद्धान्त है उनसे

का था, जिसने गति की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सभी अनुमानो का खण्डन किया, विज्ञान का सम्बन्ध केवल वर्तमान गतियो के प्रेक्षण मे होना चाहिये। इसके परिणामस्वरूप, विज्ञान "जड तथ्यो" की स्वीकृति, उनके प्रेक्षण, उनके महत्त्व, माप, परीक्षण पर आधारित है, जिसके सम्बन्ध मे और कोई प्रश्न नही पूछा जा सकता। इस बात की कोई व्याख्या नही है कि ये तथ्य क्यो दिये जाते हैं, इस अबुद्धिवादी आधार को केवल मान लिया जाता है और उसके बाद बुद्धि का प्रयोग किया जाता है।

प्रथम और द्वितीय अध्यायो मे हमने विज्ञान के कई ऐसे उदाहरणो का उल्लेख किया है जो बुद्धि के परे जाते है—क्वान्तुम सिद्धान्त, विकास सिद्धान्त, विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सिद्धान्त।* इन सभी मामलो मे हमने ऐसे तत्त्वो को देखा जो बुद्धि की अवज्ञा करते है, जो वास्तव मे असम्भव हैं। इन सभी सिद्धान्तो मे जो आधारभूत तथ्य स्वीकार किया जाता है, वह एक प्रकार की अव्याख्येय अनियमितता की उपस्थिति है, जिससे परिवर्तन और विकास होते है। सक्षेप मे, हम जानते है कि जो विकास विश्व को व्यवस्था की ओर ले जाता है वह अव्यवस्था मे लाया जाता है, अप्रत्याशित घटनाओ और अन्धशक्तियो की सहायता से लाया जाता है, जबकि बुद्धि इस बात की माँग करती है कि व्यवस्था, मार्गदर्शक सिद्धान्तो के आधार पर व्यवस्था की सृष्टि करने के प्रयास मे उत्पन्न हो।

एक बार फिर उन उदाहरणो मे से एक उदाहरण लिया जाय, विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे हमने दो सिद्धान्तो की ओर सकेत किया है। एक सिद्धान्त यह है कि भौतिक द्रव्य आदि मे अधिकाधिक सान्द्र था, और दूसरे सिद्धान्त के अनुसार बौद्धिक द्रव्य सम्पूर्ण दिक मे बारीक रूप मे फैला था।† इन दोनो मामलो मे, एक प्रकार की अनियमितता को, जिसे समझा नही जा सकता, विश्व की सृष्टि की प्रक्रिया आरम्भ करनी पडी थी। एक दूसरा सिद्धान्त भी है, वह है "सतत् सृष्टि का सिद्धान्त, जिसमे इस बात पर विश्वास किया जाता है कि अवस्तु से भौतिक द्रव्य की सृष्टि सतत् रूप से होती रहती है। प्रोफेसर फ्रेड ह्वोयल जो इस सिद्धान्त को मानते है, इस बात पर अधिकाधिक बल देते हैं कि यह वास्तव मे, अवस्तु से परमाणु की सृष्टि है।" समय-समय पर लोग यह पूछते है कि सर्जित भौतिक द्रव्य कहाँ से आता है। यह कही से नही आता। भौतिक

---

* पृष्ठ २-३, २०-३ देखिये।
† पृष्ठ २१ २ देखिये।

द्रव्य केवल प्रकट होता है—इसकी मृष्टि की जाती है । एक समय था जब विभिन्न परमाणुओ से निर्मित भौतिक द्रव्य का अस्तित्व नही था और बाद मे उसका अस्तित्व हुआ ।'[1] यह एक दूसरे सुस्थापित दार्शनिक दावे का खण्डन करता है कि अवस्तु से किसी चीज की सृष्टि नही हो सकती । वास्तव मे यह भी असम्भव है, अगर अवस्तु से किसी चीज की सृष्टि हो सके तो इसमे निश्चित सृजनात्मक शक्तियाँ होगी और इस प्रकार यह अवस्तु नही रह जायेगी ।

विज्ञान मे हम जहाँ कही भी देखे, हम ऐसा अबुद्धितत्त्व पायेगे । अगर हम अन्तिम उदाहरण ले तो देखेगे कि सापेक्ष-सिद्धान्त मे काल और दूरी "सापेक्ष" हो गये है, अर्थात् उनका विस्तार स्थिर नही रह गया है, प्रत्युत यह अन्य कारको पर आश्रित है । फिर भी, यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रकाश की चाल पूर्णत स्थिर है, हालाँकि न तो इस प्रकार की स्थिरता, न निरपेक्षता स्थापित करने का कोई तरीका रह गया है, जैसाकि निकोलाय हार्टमैन कहता है "उस प्रकाश की चाल की स्थिरता के बारे मे हम क्या विचार कर सकते है जिनका अस्तित्व दिक् और काल मे माना जाता है, जो सापेक्ष हो गये है ? चाल की स्थिरता का अर्थ यह होता है कि समान अवधियो मे समान दूरियाँ निरन्तर काटती है, लेकिन अगर काल और दिक् का विस्तार हो सकता है और वह सिकुड सकता है तो "समान" अवधियाँ और "समान" दूरियाँ क्या है ? यह निष्कर्ष, जो प्रकाश की चाल की निरपेक्ष स्थिरता की ओर सकेत करता है, एक ऐसी अनिवार्य कठिनाई मे पड जाता है कि इस परिणाम से स्थिरता और अस्थिरता की सम्भावना की पूर्व कल्पनाएँ समाप्त हो जाती है, यह सिद्धान्त स्वय अपनी पूर्व कल्पनाओ का अन्त कर देता है"[2] उस तथ्य को, जो बुद्धि की अवज्ञा करता है, स्वीकार ही करना है ।

अत जिस रूप मे विज्ञान अबुद्धितत्त्व को शामिल करता है, वह मानवीय अनुभूति की दृष्टि से सर्वथा असन्तोषजनक है, और इसमे यह और भी आवश्यक हो जाता है कि इसकी सीमाओ को हम माने । अगर यह नही किया जाता तो विज्ञान मे यह अबुद्धितत्त्व एक बहुत बडे खतरे का द्योतक है । न केवल भौतिकी मे, प्रत्युत अधिकाधिक रूप से जीवविज्ञान और शरीरविज्ञान मे—विज्ञान भौतिक जगत की आधारभूत रचना मे अधिकाधिक व्याप्त हो गया है और उसने उसे प्रभावित किया है, अब बैकन और गेलिलियो की चेतावनियो पर ध्यान नही दिया जाता, जैसाकि विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो सिद्धान्त है, उनसे

पता चलता है। लेकिन अबुद्धितत्त्व निरर्थक ही रह जाता है, मानवीय अस्तित्व के अनिवार्य आधारो पर धावा बोल दिया जाता है और उन्हे अनर्गल बना दिया जाता है। प्रकृति पर आधिपत्य जमाने के लिए हमे समर्थ बनाया जाता है लेकिन हम—जब तक कि विज्ञान का कोई प्रतिभार न हो—अविचार्य कथनो और अमानवीय सस्थाओ के शिकार बन जाते है और इस प्रकार हम स्वय अपने से अपरिचित रह जाते है, आन्तरिक अनुभूतियो, मूल्यो, नैतिकता और दर्शन को नष्ट कर दिया जाता है क्योकि अबुद्धितत्त्व अपना सारा मूल्य और अर्थ खो बैठता है, जैसाकि विज्ञान मे इस बात की चर्चा हुई है। कहाँ तक खतरा बढ जाता है, इसका पता इस बात से लगाया जाता है कि असगति, निरपेक्ष अस्तित्ववाद, (जो हालांकि विज्ञान का विरोधी है, फिर भी हमारी वर्त्तमान स्थिति को स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित करता है और कला जिसे सबसे पहले, अर्थ की अनुभूति करने मे सहायक होना चाहिये) दोनो मे, स्वय मे एक मूल्य हो गयी है।

अत हमे इस तथ्य से अवगत रहना चाहिये कि वैज्ञानिक ज्ञान वह सत्य नही है जिस पर हम जीवित रह सकते है। अबुद्धितत्त्व का परिहार नही किया जा सकता, लेकिन अगर हमे सार्थक जीवन बिताना है तो अबुद्धितत्त्व को अवितर्कना-परक होना होगा अर्थात् अनुभवातीत सत्ता का सूचक होना होगा। हम सम्पूर्ण सत्य को समझने मे असमर्थ हैं, जो ज्ञान हम प्राप्त कर सकते है वह सीमित है, हम केवल सत्ता के पक्षो को समझ सकते है। फिर भी आधारभूत रूप से सत्य एक है और इसका प्रत्येक पक्ष इसके स्वरूप को प्रतिबिम्बित करता है। अगर बिल्कुल भिन्न प्रकार के ज्ञान के रूप मे विज्ञान की जानकारी नही प्राप्त की जाती है बल्कि सत्य के एक पक्ष के रूप मे इसे स्वीकार किया जाता है तो यह पक्ष सम्पूर्ण सत्य के सम्बन्ध मे हम पर निष्कर्ष लादेगा और इस प्रकार सम्पूर्ण सत्य जिसमे वह बात भी सम्भव है जिस पर हम जीवित रहते हैं, अवैयक्तिक बनने और अपना मूल्य खोने के खतरे मे पड जायेगा। अबुद्धितत्त्व के अन्य पक्षो पर विचार करने के बाद, हम इस बात पर लौट आयेंगे।

धर्म भी अस्तित्त्व की इन समस्याओ का समाधान नही कर पाता, यह पूर्ण रूप से तर्कनापरक *व्याख्याएँ प्रस्तुत नही करता, लेकिन यह आन्तरिक अनुभूतियाँ* उत्पन्न करता है जो अबुद्धितत्त्व को अर्थ प्रदान करती हैं। यह प्रक्रिया न तो असगत है, न "रहस्यात्मक", न समझने मे कठिन, दैनिक जीवन के सन्दर्भ मे इसे

समझा जा सकता हे जैसा कि धर्म के बाहर क्षेत्र से लिये गये कुछ उदाहरणो ः पता चल सकता है।

उदाहरण के लिए, दिक् और काल की समस्या है, जिसके बारे मे हमने अभी उल्लेख किया है कि सापेक्ष सिद्धान्त मे यह एक बाधा है। इन दो सम्प्रत्ययो की न तो पूर्ण रूप से व्याख्या की जा सकती है, न ही उनकी व्याख्या की गयी है। और निश्चित रूप से हम यह नहीं कह सकते कि दिक् और काल का अस्तित्व है। लेकिन उनका अर्थ उग समय निकल सकता है जब उन्हे अस्तित्वात्मक रूप मे देखा जाये।

बाह्य सत्ता मे दोनो सम्प्रत्यय, विशुद्ध रूप से आकारिक है और सम्पूर्ण रूप से अमूर्त है, जिससे उन्हे मापा जा सकता हे और सख्याओ द्वारा उन्हे अभिव्यक्त किया जा सकता है। हमारे जीवन मे भी, ये माप यथार्थ हो जाते हैं, हम दिक्-पिण्ड है, किसी निश्चित स्थान पर रहते है और हमे दूरियाँ पार करनी होती है, दिन और रात से, कलेण्डर से, ऋतुओ और उत्सवो से, वृद्ध होने से, काल की अवधियो को यथार्थ बना दिया जाता है। किन्तु इससे हमारे लिए दिक् और काल का महत्त्व समाप्त नही हो जाता।

काल की अनुभूति—इसे पहले लिया जाय, क्योकि आन्तरिक अनुभूति के साथ इसका अधिक निकट का सम्बन्ध है—इसे बिल्कुल स्पष्ट करती है। अगर हम किसी ऐसी चीज का अनुभव करते है जो बहुत ही रोचक या महत्त्वपूर्ण है तो समय जल्दी से गुजरता है और हमे घण्टा या दिन गुजरने का शायद ही ध्यान होता है, लेकिन अगर हम ऊबे हुए है या कोई नेमी कार्य करते होते है या कोई ऐसा कार्य करते है जिसे हम पसन्द नही करते तो समय सचमुच मे बहुत देरी से गुजरता है, चन्द मिनट घण्टो के समान प्रतीत हो सकते है और ऐसा लग सकता है कि दिन का कोई अन्त ही नही लेकिन पश्चदर्शन मे उल्टा प्रभाव पडता है, क्योकि वे अवधियाँ जो प्रतीयमानत अनन्त होती हैं, जिनमे हमे सन्तोषजनक अनुभूति नही हुई थी, हमारी स्मृति मे सकुचित हो जाती है या कभी तो लुप्त ही हो जाती है, जबकि कुछ घण्टे या दिन, जो हमारे लिए महत्त्वपूर्ण थे या घटनाओ से भरे थे, वास्तविक रूप से लम्बे होने की अपेक्षा अधिक लम्बे प्रतीत होते हैं। अत काल की अनुभूति इसकी केवल परिमेय लम्बाई पर निर्भर नही करती।

यह हमारे जीवन के लिए भी समान रूप से सत्य है। हम कई साल तक जीते है लेकिन इससे सारी कहानी समाप्त नही हो जाती, हम अपने समय का उचित उपयोग कर सकते है और इस प्रकार या तो पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते है और उसे समृद्ध कर सकते है या अपने समय को नष्ट कर सकते है और इसे खो सकते है। समय कोई सरल तत्त्व नही है, इस पर विजय प्राप्त करनी है। इससे समय की अनुभूति, अन्तर्विवेक के समान, एक निरन्तर अन्त प्रेरणा बनती है। हम अनुभव करते है कि हमे समय का सदुपयोग करना चाहिये जिससे हम इसे खो न दे (अन्त प्रेरण अन्तर्विवेक के समरूप नही है, क्योकि इसकी सन्तुष्टि न केवल नैतिकता से हो सकती है, बल्कि एकदम भिन्न कार्यो या सस्कारो—उदाहरण के लिए तीव्र इन्द्रियजन्य अनुभूतियो या साहसिक कार्यो, रोचक क्रियाओ या सौन्दर्य के प्रभाव से भी हो सकती है। लेकिन यह सम्भवत अन्तर्विवेक की अपेक्षा अधिक तीव्र और स्थिर है। अत अगर हम समय का उचित प्रयोग करने मे असमर्थ है तो हम इसकी निरन्तर चुनौती से छुटकारा प्राप्त करने के लिए, इसे "नष्ट करना" चाहते है, हम यह भूल जाना चाहते है कि यह हमारे हाथ से निकला जा रहा है। एक बार जब इस चुनौती की सन्तुष्टि नही होती तो समय शत्रु बन जाता है और हमे इसके विरुद्ध सघर्ष करना होता है। धैर्य के साथ उचाट की लम्बी अवधि सहन करना, कम से कम अवाछित मात्रा तक किसी के भावो को कम किये बिना, बहुत ही कठिन है, फिर भी न तो केवल समय नष्ट करके चुनौती को पूर्णरूप से कभी समाप्त किया जाता हे, न उस निरर्थक अध्यव्यवसाय मे आसक्त होकर ही समाप्त किया जाता है जिस ओर भी यह ले जा सकता है, नष्ट होने का ज्ञान निरन्तर वर्तमान रहता है। पूर्ण सन्तुष्टि तभी प्राप्त हो सकती है जब हम समय को उचित अर्थ-तत्त्व प्रदान करने मे समर्थ हो।

वास्तविक अनुभूति के रूप मे दिक् भी एक चुनौती प्रस्तुत करता है—इस तथ्य के विपरीत कुछ करने का अन्त प्रेरण कि हम उस दिक् की तुलना मे अत्यन्त सूक्ष्म है जो हमारे चारो ओर है। महान् वीर का आदर्श, जो अलेग्जेण्डर या नेपोलियन की तरह दिक् पर विजय प्राप्त करके, लोगो पर अधिकार जमा करके और इस प्रकार अपनी शक्ति बढा करके अपने आकार मे वृद्धि करने के लिए निकल पडता है और अपनी महिमा प्राप्त करता है, वीरो और वीर पुजारियो दोनो के लिए सबसे शक्तिशाली आदर्शो मे से एक रहा है, क्योकि प्रत्यक्ष रूप से दिक् पर विजय प्राप्त करना और उसे प्राप्त करना, पृथ्वी के विशाल आकार की सरलतम प्रतिक्रिया प्रतीत होती है। उन तकनीकी विकासो मे भी वही

अन्त प्रेरण काम करता है। जो अधिकाधिक गति मे दिक् पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है। लेकिन ये सभी प्रयास व्यर्थ है, अगर कोई मनुष्य सम्पूर्ण पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर ही ले और अगर वह बहुत ही कम समय मे इसके दूरतम बिन्दु तक पहुँचने मे समर्थ भी हो जाये, जैसाकि अब वह हो गया है, वह अभी भी विश्व की तुलना मे अत्यन्त सूक्ष्म है और बाह्य दिक् पर धावा बोलने मे शायद ही इस स्थिति मे सुधार हो।

दिक् की चुनौती एक भिन्न उत्तर की अपेक्षा रखती है। हम सम्भवत इस बात की आशा नहीं कर सकते ह कि स्थान-सम्बन्धी अर्थ मे, हम दिक् के समान हो, लेकिन हम विश्व मे अपना उचित स्थान पाने की आशा रख सकते हैं। अगर कोई व्यक्ति अपना उचित कार्य पूरा करता है, अगर वह कोई ऐसा काम करता है जिसे वह अविवाद्य रूप से महत्त्वपूर्ण समझता है तो वह एक ऐसा सामन्जस्य प्राप्त कर सकता है, जिससे उसकी आन्तरिक निश्चितता उसकी बाह्य सूक्ष्मता को नगण्य बनाती है। आज प्रतीत होता है कि काल की अपेक्षा दिक् की चुनौती की अनुभूति कम होती है, लेकिन अभी भी इसकी अनुभूति होती है और इसकी चेतना होनी चाहिये, क्योकि यह हमे अपने कार्यो के लिए एक अनिवार्य कसौटी प्रदान करती है। दिक् की अनुभूति इतनी तीव्र है कि जब हम इसके प्रकाश मे अपने प्रयासो की जाँच करते है तो हम वास्तव मे इस बात से अवगत हो जाते है कि हमारे प्रयास उचित है या नही। दिक् के प्रतीयमान शून्यकारी विस्तार का सामना करने की भी आशा हम कैसे कर सकते है। इस प्रकार जबकि काल ऐसे कार्य प्रारम्भ करने के लिए हमे अन्त प्रेरित करता है जो महत्त्वपूर्ण है, दिक् अधिक प्रत्यक्षरूप से इस बात की ओर सकेत करता है कि यह महत्त्व कहाँ मिल सकता है—उन कार्यों और अनुभूतियो मे जो यथार्थ रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। सच तो यह हे कि दिक् निरपेक्ष मूल्यो की ओर ले जाता है।

काण्ट ने अपने उस प्रसिद्ध कथन मे दिक् और काल की चुनौती को सबसे अधिक सुन्दर रूप से व्यक्त किया है, जिसका सामान्य रूप से एक ही वाक्य उद्धृत किया जाता है। जो बात हमारे लिए महत्त्वपूण है उसे स्पष्ट करने के लिए अबुद्धितत्त्व को अर्थ प्रदान करने की आवश्यकता से, मैं यहाँ इसे अधिक पूर्णरूप से उद्धृत करना चाहूँगा। इस कथन को भी दैनिक अनुभव की सहायता से समझा जा सकता है, लेकिन इसे समझने के लिए यह भी समझना है कि धार्मिक अनुभूतियाँ कैसे काम करती हैं। काण्ट कहता है

"मन मे दो ऐसी चीजे होती है, फिर भी महत्त्वपूर्ण वैयक्तिक अनुभूतियो मे हम निश्चय ही अभी भी एक ऐसा सत्य खोजते है या एक ऐसे सत्य से मिलते हैं, जिसका वर्णन केवल निरपेक्ष मूल्य के रूप मे हो सकता है। इस दावे का सत्य एक प्रकार का मूल्य है, का, यह अर्थ होना है कि हमे जिनके प्रति श्रद्धा और विस्मय हमेशा नवीन रहते है और बढते ही जाते है, जिन पर हम प्राय और नियमित रूप मे चिन्तन करते है ऊपर तारो से खचित आकाश और भीतर नैतिक नियम। मुझे इस रूप मे उनकी खोज करना और अनुमान लगाना नही होता है जैसेकि वे अन्धकार मे प्रच्छन्न हो या मेरे क्षितिज के परे अनुभवातीत क्षेत्र मे हो, मै उन्हे अपने सामने देखता हूँ और अपने अस्तित्व की चेतना के साथ प्रत्यक्ष रूप मे उनका सम्बन्ध जोडता हूँ। पहला, उस स्थान से आरम्भ होता है, जिसपर, वाह्य-इन्द्रिय-जगत् मे, मेरा निवास है, और कई विश्वो और मण्डलो के मण्डल के साथ असीम विस्तार तक, और इसके अतिरिक्त, असीमकाल की आवर्त्ती गति, इसके आरम्भ और अवस्थिति मे मेरा सम्बन्ध बढाता है। दूसरा, मेरी अदृश्य आत्मा, मेरे व्यक्तित्व से आरम्भ होती है और मुझे एक ऐसे जगत् मे प्रदर्शित करता है जिसमे यथार्थ असीमता है, लेकिन जो बोध द्वारा ही अनुमार्गणीय है। अनगिनत बहुसंख्यक जगत् का पहला विचार अस्तित्व मिटाता है जैसेकि एक-एक पशु के रूप मे मेरा महत्त्व है, जिसे कुछ समय के लिए जीवन-शक्ति प्रदान करके हालाँकि कोई यह नही जानता कि कैसे—उस भौतिक द्रव्य को, जिसमे इसका निर्माण हुआ उस ग्रह मे वापस दे दिया गया हो, जिसमे इसका निवास है (विश्व का मात्र एक कण)। इसके विपरीत, दूसरा, मेरे व्यक्तित्व द्वारा एक बौद्धिक प्राणी के रूप मे मेरे मूल्य को अत्यधिक ऊपर उठाता है, और इस व्यक्तित्व मे नैतिक नियम मेरे लिए पशुवृत्ति और सम्पूर्ण इन्द्रियगोचर जगत् से मुक्त जीवन प्रकट करता है।"[1]

इसमे एक व्याघात है जिसे दूर नही किया जा सकता। ऐसी समस्त व्याख्याएँ निरर्थक हो गयी है और हो जायेगी जो मनुष्य की वाह्य नगण्यता और उसके आन्तरिक महत्त्व के बीच खाई करने का प्रयास करती है, क्योकि वे सब दो मे किसी एक पक्ष पर अधिक बल देगी ही। किन्तु अगर हम व्याघात को उसी रूप मे स्वीकार कर ले और "पूर्ण विरोधाभास" के रूप मे एक साथ इन दोनो व्याघाती विचारो पर विचार करें, तो हमे विश्व के ऐश्वर्य और मनुष्य की तुच्छता दोनो की अनुभूति होगी, जो किसी भी तर्कनापरक व्याख्या की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और अर्थपूर्ण होगी। यह उस अधितर्कनापरक क्षेत्र को वास्तविकता प्रदान करेगी जो उन शब्दो के परे जाता है जिनकी प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्ति हो सकती है।

जहाँ हम दिक् और काल के सम्बन्ध मे अपनी प्रतिक्रियाओ पर विचार करते है, तब उस समय भी देखा जा सकता है कि इस व्याघात को स्वीकार करना है। काल मृत्यु की ओर ले जाता है, जिसमे जहाँ तक दिक् और काल मे हमारा अस्तित्व है, निश्चय ही हमे नष्ट कर दिया जाता है। लेकिन हम मे कुछ ऐसी चीज है जिसे दिक् का आकार कुचल नही सकता, क्योकि इसका आकार से सम्बन्ध नही होता, इस "आन्तरिक नैतिक नियम" मे यह "कुछ चीज" बोधगम्य हो जाती है जो किसी एक व्यक्ति की अपेक्षा अधिक स्थायी है। तो क्या दिक् और काल मे हमारी मृत्यु सचमुच मे हमे नष्ट करती है? काण्ट कहता है कि नैतिक नियम एक ऐसी "यथार्थ असीमता" की ओर सकेत करता है जो दिक् और काल दोनो की अनन्तता के परे है।

इन सब का यह अर्थ होता है कि दिक् और काल, जो बाह्य सत्ता मे विशुद्ध रूप से अमूर्त और आकारिक है, उस समय "निरपेक्ष" नही होते जब वास्तविक रूप से इनकी अनुभूति की जाती है। वे इस बात की अपेक्षा रखते है कि "सचाई" के सामने हमे जीवित रहना चाहिये, उत्तरदायित्व स्वीकार करना चाहिये यथार्थ मूल्य का, विशेष रूप से शुभ जैसा, कार्य करना चाहिये, लेकिन वे पारम्परिक निरपेक्ष मूल्यो मे एक अन्य मूल्य की ओर भी सकेत करते है, क्योकि अनुभवातीत सत्ता की अनुभूति से, "सौन्दर्य" का प्रभाव हमे दिक् और काल का सामना करने मे समर्थ बना सकता है। ये सभी अनुभूतियाँ अबुद्धिवादी रहती है, क्योकि उनमे वे व्याघात शामिल है, जिन्हे तर्कनापरक रूप से दूर नही किया जा सकता, लेकिन चूँकि हमे उस मार्ग मे अबुद्धितत्त्व मिलता है जिस ओर दिक् और काल निर्दिष्ट करते हैं, अत इसका अर्थ निकलता है। इससे हम समस्त सत्ता के मूल तक पहुँचते है।

मेरा दूसरा उदाहरण उन प्राचीन दार्शनिक समस्याओ मे से एक है, जिनका शताब्दियो से समाधान नही हो पाया है, वह है आवश्यकता और स्वतन्त्रता की समस्या। हमने कई बार* इसकी चर्चा की है लेकिन मैं उन विभिन्न विचारधाराओ को एक साथ अब मिलाना चाहूँगा, जिनके सम्बन्ध मे हमने विचार किया है। एक बार फिर हमारा सामना अबुद्धितत्त्व से हो जाता है, लेकिन हम इसे अर्थ प्रदान कर सकते हैं।

---

*पृष्ठ ५-६, १३-१४, ६१-६८, १२०-१२२ देखिये।

वाह्य सत्ता मे, जैसाकि प्राकृतिक विज्ञान समझता है, आवश्यकता प्रधान है। रिक्तियाँ हैं, अप्रत्याशित घटनाएँ है और आकस्मिकताएँ है, लेकिन वैज्ञानिक इन रिक्तियों को भरने का प्रयास करता है, जितनी कम रिक्तियाँ होगी उतने अच्छे प्रकार से वह समझ सकेगा। चूँकि इस विधि का उद्देश्य आवश्यकता की खोज करना है, अत वह स्वतन्त्रता का कभी कारण नही बता सकती, इस दिशा मे वह वही तक जा सकता है जहाँकि वह इलेक्ट्रॉन के कार्य की अनिर्धार्यता का वरण करता है। लेकिन इससे भी उस मानवीय स्वतन्त्रता का कारण बतलाया जा सकता, जो केवल अनिर्धार्यता नहीं है बल्कि वरण, निर्णय और कार्य का एक चेतन निर्देशन है। इलेक्ट्रॉन की कहलानेवाली जो स्वतन्त्रता है, वह वास्तव मे अयथार्थ नामकरण है, क्योकि हालाँकि हम इसके दूसरे कार्य के सम्बन्ध मे भविष्य-वाणी नही कर सकते, फिर भी इसके कार्य का निर्धारण उन कारको से होगा जिन्हे इलेक्ट्रॉन वरण नही करता। मनोवैज्ञानिक यह दिखलाते है कि निश्चय ही हमारे कार्यों का भी प्राय निर्धारण उन कारको से होता है जिनपर हमारा कोई नियन्त्रण नही रहता लेकिन हमने देखा है कि यह सम्पूर्ण रूप से सत्य नही है।

हालाँकि वस्तुनिष्ठ विधि की सहायता से स्वतन्त्रता की खोज नही की जा सकती, फिर भी इसे आत्मनिष्ठ विधि का आधार बनाना सही है, क्योकि अगर हम आरम्भ से ही उसकी स्वतन्त्रता की कल्पना न कर लें तो मनुष्य को समझने मे हम कभी समर्थ नही होगे। कोई भी—मैं भी नही, अगर मैं नियतत्त्ववाद मे विश्वास रखता हूँ—मुझे अन्तत विश्वास नही दिला सकता कि मुझमे स्वतन्त्रता का पूर्ण अभाव है, उदाहरण के लिए, अगर मैं अपना हाथ उठाना चाहूँ तो मैं नही उठा सकता। यह उदाहरण नगण्य लग सकता है, लेकिन यह वास्तविक रूप से मौलिक है, क्योकि इसका प्रयोग मेरे उन सभी निर्णयों मे होता है, जिनमे मेरा नैतिक निर्णय भी शामिल है। मुझे अक्सर यह भ्रान्ति हो सकती है कि मैं उस समय स्वतन्त्र हूँ जब वाह्य या आन्तरिक बाध्यताओं के वास्तव मे वशीभूत हो रहा होता हूँ। लेकिन इस प्रकार की भ्रान्तियाँ उस मौलिक तथ्य को अमान्य नही ठहराती कि मैं निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र हूँ, कि मैं इस प्रकार की बाध्यताओं से अवगत हो सकता हूँ और निर्णय करते समय उन पर ध्यान दे सकता हूँ। अन्यथा मुझे उत्तरदायित्व की समस्त भावनाओं की अवहेलना कर देना होगा।

आत्मनिष्ठ विधि हमे स्वतन्त्रता के उन दो रूपो मे अन्तर स्पष्ट करने के लिए समर्थ बनाती है जिन्हे हमने वरण स्वातन्त्र्य और स्वतन्त्रता-वरण की सज्ञा दी है।* स्पष्टत स्वतन्त्रवरण को किसी स्वतन्त्र निर्णय या कार्य के पहले आना चाहिये, किन्तु हमने कहा है कि हम गलत वरण कर सकते है,—धन, जीवन मे सफलता, किसी प्रकार की धर्मान्धता—जो हमे फिर गुलाम बनाते है। अस्तित्व-वादियो की भूल यह थी कि उन्होने केवल वरण-स्वातन्त्र्य को स्वीकार किया और यह नही देखा कि स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति उन कार्यो मे होनी चाहिये, जो मनुष्य की वास्तविक प्रकृति के अनुरूप हो, वे इस तथ्य को कि हम मानवप्राणी हैं स्वीकार करना नही चाहते, जो उस दिशा की ओर निर्दिष्ट करती है, जिस ओर स्वतन्त्रता का प्रयोग करना है। स्वतन्त्रता की परिभाषा इस रूप मे दी जा सकती है कि जो कार्य अपनी वास्तविक प्रकृति के अनुरूप किया जाय, जिसपर कोई बाहरी बाध्यता या प्रभाव न हो। लेकिन इससे यह प्रश्न उठता है, जिसकी उग्र अस्तित्ववादियो ने अवहेलना की—मनुष्य की वास्तविक प्रकृति क्या है ?

हमारी छानबीन से सम्भवत अब यह बात स्पष्ट हो गयी है कि मनुष्य वास्तव मे दो विश्वो का नागरिक है—अर्थात् वह जैविक विकास की रचना है और इस प्रकार उसमे पाशविक वृत्ति है और उस पर अनुभवातीत सत्ता का आधि-पत्य हो जाता है, अत उसमे आध्यात्मिक प्रकृति भी होती है। इसी द्वैत से वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनो विधियो का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है जिनसे मानवप्राणी के ये दो पक्ष और अधिक मूर्त हो जाते हैं।

उसकी पाशविक और आध्यात्मिक दोनो प्रकृतियाँ एक ही प्रकार से समझी जा सकती हैं। जब मनुष्य इन दोनो मे से किसी एक की पूर्ण अभिव्यक्ति देने मे सफल हो जाता है तो उसे अधिक सन्तुष्टि मिलती है, हम मनुष्य की जीवनशक्ति और उसके साधु स्वभाव दोनो की प्रशसा करते हैं। व्यावहारिक जीवन मे दोनो प्रकृतियों पर प्रतिबन्ध भी लगाना है, सभी पाशविक वृत्तियो को पूर्ण अभिव्यक्ति देना विनाशकारी भी सिद्ध होगा और अगर हम आध्यात्मिक माँगो के साथ ही न्याय करें तो दैनिक जीवन के विशुद्ध कार्य शायद ही उचित रूप से, पूरे होगे। मनुष्य को सामाजिक प्राणी होना है, एक ओर तो उसे अपनी सारी शारीरिक इच्छाओ और अपनी स्वार्थपरता को खुली छुट्टी नही देनी होगी, और दूसरी

---

*पृष्ठ १२०-१ देखिये।

ओर उसे कभी-कभी कम स कम उन सीमाओ मे, जिनकी हमने चर्चा की है,* उस साधन को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना होगा, जिसके विरुद्ध नैतिक आपत्तियाँ उठायी जा सकती है और अगर आवश्यक हो तो उसे उन दोनो मे से कम अशुभ का वरण करने मे समर्थ होना होगा। कोई भी सर्वग्राही निरपेक्षता, जैसाकि हमने देखा है, ज्ञान को झुठलाती है और इससे उसके अस्तित्व की शर्तो द्वारा मनुष्य पर आरोपित सीमाओ पर हम ध्यान भी नही देते।

फिर भी मनुष्य की प्रकृति के इन दोनो पक्षो के बीच अन्तर स्पष्ट है—इन्ही अन्तरो से उसकी "यथार्थ" प्रकृति के सम्बन्ध मे किसी निर्णय पर पहुँचने मे सहायता मिलती है। किसी निरपेक्षता की इच्छा करना उसके लिए न्यायोचित है, हमने कहा है कि अपने अस्तित्व मे रहने का निरपेक्ष ज्ञान उसे इस बात की चुनौती देता है कि वह इस अव्याख्येय तथ्य** के अर्थ के प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर ढूंढे। परन्तु चूंकि यह उत्तर सामान्यीकृत और सर्वग्राही कथन के रूप मे नही हो सकता अत इसे किसी विशिष्ट दिशा मे ढूंढना चाहिये।

परन्तु यदि हम पाशविकता की दिशा की ओर देखते है तो यह सीमित निरपेक्षता भी नही मिल सकती, क्योकि इसके प्रति पूर्ण और उन्मुक्त रूप से झुकने से मनुष्य निस्सन्देह भ्रष्ट हो जायगा। हम महान् जीवन-शक्ति महान् विजेता, और महान् अपराधी की भी, प्रशसा करते है, किन्तु इस प्रशसा को निरपेक्ष नही बनाया जा सकता है यह हमे सभी प्रकार के नुकसान पहुँचाये जानेवाले कार्यो, हत्याओ की अवहेलना करने के लिए बाध्य करता है। नीत्से का मानव भी, मनुष्य की पाशविक वृति पर किसी आदर्श को आधारित करने का सबसे महान् और सगत प्रयास है, यह देखने मे हमे सहायता ही प्रदान करता है कि यह अवश्य असफल होगा। किन्तु पूर्ण सामजस्य और चरम सन्तुष्टि उन अनुभूतियो मे प्राप्त हो सकती है जो मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति को अधिक यथार्थता प्रदान करती है, और यहाँ बिना प्रतिबन्ध के निरपेक्षता को स्वीकार किया जा सकता है, सामजस्य और सन्तुष्टि सबसे महान् होगी जब उस प्रकृति की पूर्ण अनुभूति प्राप्त होगी, जो सभी व्यावहारिक माँगो के परे होगी। यह देखने के लिए कि यह दावा न्यायोचित है हमे कीर्केगार्ड के "अज्ञात मे छलाँग मारने" या "मैं—तू" सम्बन्ध के बारे मे विचार करने की आवश्यकता है।

---

*पृष्ठ ७४-५ देखिये।

**पृष्ठ १३७ देखिये।

इस प्रकार की अधिकाश अनुभूतियो मे एक तत्त्व है—नैतिकता, जो आसानी से देखा जा सकता है । मनुष्य की यथार्थ प्रकृति के वर्णन के रूप मे कीर्केगार्ड की "नैतिक आत्मा" को स्वीकार करने मे क्या कोई आपत्ति है ? एक ओर तो नीतिशास्त्र दर्शन की सीमाओ मे अभी भी रखता है, जैसाकि स्वतन्त्रता के बारे मे हमारी चर्चा माँग करती है, नैतिकता धर्म का वह पक्ष है जिसकी दार्शनिक रूप से चर्चा हो सकती है । दूसरी ओर, जबकि मनुष्य अपनी प्रवृति के इस पक्ष को अभिव्यक्ति देता है तो किसी प्रतिबन्ध की आवश्यकता नही है, इस प्रकार नैतिक आत्मा पर आधारित वरण उन माँगो को पूरा करते है जिन्हे हमने स्वतन्त्रता-वरण की सज्ञा दी है, वे फिर मनुष्य को गुलाम नही बनायेगे । यह सच है कि नैतिकता के सकीर्ण अर्थ-प्रतिपादन मे भी मनुष्य गुलाम बन जा सकता है, किन्तु कीर्केगार्ड ने यह दिखला दिया है कि अनुभवातीत सत्ता के मानवीय अस्तित्व मे नैतिक आत्मा को समझना होगा, अन्यथा प्रेम को वश मे नही रखा जा सकता।* इससे मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति की पूर्णता प्रकट होती है, और यह हमे प्रेम करने के लिए स्वतन्त्र छोड देगी ।

सम्भवत दूसरी आपत्ति अभी भी उठायी जा सकती है—कि यह चक्रक युक्ति है स्वतन्त्रता की परिभाषा इस रूप मे दी गयी है कि इसमे मनुष्य की यथार्थ प्रकृति द्वारा मार्ग निर्देशन की अपेक्षा होती है, और तब इस प्रकृति की परिभाषा स्वतन्त्रता की माँगो के अनुसार दी जाती है । लेकिन एक बार जब हम अस्तित्व की नीव तक पहुँच जाते है, इस प्रकार की युक्ति अनिवार्य और उचित है क्योकि और कोई उपाय सम्भव नही है, आधारभूत तत्त्व एक दूसरे की ओर ही सकेत कर सकते है । यह बात कि कोई और युक्ति सम्भव नही है इस बात की भी पुष्टि करती है कि हम नीव तक पहुँच गये हैं ।

एक बार फिर इसकी पुष्टि हमारी वास्तविक अनुभूति से होती है । स्वतन्त्रता के क्षेत्र को सैद्धान्तिक रूप से सीमित नही किया जा सकता, हम यह नही कह सकते कि वहाँ तक हम स्वतन्त्र है और हमारी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। प्रयत्न-त्रुटि से हमे आगे बढना चाहिये, जिससे हम इस बात का पता लगा सकें कि क्या स्वीकार करना है और किसमे परिवर्त्तन किया जा सकता है, हमे स्वातन्त्रता की सीमाओ का निरन्तर परीक्षण करना होगा । ऐसा करने के लिए सबसे अच्छा प्रारम्भ यह होगा कि हम अपनी यथार्थ प्रकृति के रूप मे नैतिक

---

* पृष्ठ ६६-७ देखिये ।

आत्मा को स्वीकार करे और इसके अनुसार कार्य करें, अगर हम इस प्रकार आरम्भ करे तो स्वतन्त्रता और यथार्थ आत्मा के बीच पारस्परिक प्रभाव धीरे-धीरे दोनो को स्पष्ट करेगा। प्रत्येक सही निर्णय अपनी प्रकृति को अच्छी तरह पहचानने मे हमे सहायता प्रदान करेगा, यह हमे उन क्षेत्रो को दिखलायेगा जहाँ हम केवल अपनी आज्ञा के अनुसार वास्तव मे कार्य कर सकते है, हम यह अनुभव करेंगे कि हम स्वतन्त्र कर दिये गये है। इसके द्वारा सही निर्णयो पर पहुँचने की ओर अधिक निश्चितता होगी और फिर इन निर्णयो से हमे अपनी यथार्थ आत्मा का अधिक विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त होगा। धीरे-धीरे हमारी आन्तरिक अनुभूतियो का क्षेत्र विस्तृत होगा, इससे नैतिकता के धार्मिक निहितार्थ प्रकट होगे और इस प्रकार "आध्यात्मिक यथार्थता" शब्द का और अधिक अर्थ स्पष्ट होगा।

हमे यह स्वीकार करना होता है कि अनिवार्यता और स्वतन्त्रता की समस्या का समाधान भी तर्कनापरक रूप से नही हो सकता है। बाह्य सत्ता मे दोनो सम्प्रत्यय विशुद्ध रूप से आकारित रहते है, अनिवार्यता का यह अर्थ होता है कि सभी कार्य उनके कारणो से निर्धारित होते है, वे कार्य भी, जिनके कारण हम नही जानते या अभी तक हम नही जानते लेकिन मानवीय स्वतन्त्रता का यह अर्थ होगा कि मनुष्य का एक नया सकल्प किसी कार्य का प्रथम कारण हो सकता है जिसका निर्धारण अन्यथा नही हो सकता। इस प्रकार के प्रथम कारण का, प्राकृतिक नियमो के जगत् मे, कारण नही बताया जा सकता, क्योकि इनमे अपवादो को स्थान नही दिया जाता, इसे उस सम्भाव्यता के क्षेत्र मे भी नही रखा जा सकता, जिससे अनिवार्यता के सम्बन्ध मे कुछ निश्चितता आ गयी है। मानवीय स्वतन्त्रता की स्वीकृति अबुद्धिवादी रह ही जाती है। किन्तु फिर एक बार ये दो सम्प्रत्यय, जबकि वास्तविक रूप से इनकी अनुभूति की जाती है, तटस्थ नही रहते, अनिवार्यता, बाह्य और आन्तरिक बाध्यता के रूप मे इस विश्व मे हमारा स्थान दिखलाती हुई, जिसमे परिवर्तन नही किया जा सकता, और स्वतन्त्रता मानवीय प्रकृति की बहुमूल्यता और पूर्णता तक पहुँचने का मार्ग खोलती हुई तथा यह हमे दिखलाती हुई कि अत्यधिक महान् चुनौतियो के सामने, यह अपने को अक्षुण बनाये रह सकती है। इन दो सम्प्रत्ययो के बीच व्याघात हमारे कार्यो का मार्ग-दर्शन कर सकता है, हालाँकि वह असमाधेय है और यदि यह करता है, अबुद्धितत्त्व का फिर अर्थ निकलेगा और यह उस अवितर्कनापरक सत्ता की ओर सकेत करेगा जो धर्म को अन्तर्वस्तु प्रदान करता है।

इसी प्रकार के निष्कर्षो तक पहुँचने के लिए और उदाहरण आसानी से प्रस्तुत किये जा सकते है। उदाहरण के लिए, दर्शन प्राचीन मूलभूत समस्याओ मे से तीसरी समस्या—अर्थात् एक और अनेक की समस्या। लेकिन जो पहले कहा जा चुका है उसमे और कुछ जोडने की हमे आवश्यकता नही।

बाह्य सत्ता को समझने के लिए, इन दो सम्प्रत्ययो का अत्यधिक महत्त्व है, क्योकि वे सख्याओ और गणित के आधार ह। लेकिन वे भी अमूर्त रहते हैं और हम इस प्रश्न का उत्तर नही दे सकते कि बाह्य सत्ता हमे इस रूप मे प्रतीत होती है, जिस रूप मे हमे उनकी आवश्यकता है। हम अस्तित्व की एकता को समझने का निरन्तर प्रयास करते है और ऐसा करने मे हम हमेशा असफल रहते है, क्योकि अनेक का व्यवधान—उदाहरण के लिए यह तथ्य कि अनेक वस्तुएँ या अनेक मनुष्य हैं—दुस्तर और अव्याख्येय दोनो सिद्ध होता है।

आन्तरिक अनुभूतियो के सम्बन्ध मे सख्याएँ लागू नही होती। अगर मै दर्द का अनुभव करता हूँ और इससे कोई और दर्द का अनुभव करना आरम्भ करता है तो यह नही कहा जा सकता कि दर्द की मात्रा दुगुनी हो गयी है, भावो का सम्बन्ध एक दूसरे से केवल मात्राओ के रूप मे नही जोडा जा सकता। न ही नैतिक क्षेत्र मे सख्याएँ लागू होती है, एक सुकरात विशाल जनसमुदाय के विरुद्ध उचित था, परिमाणात्मक सम्बन्ध— कि एक व्यक्ति की अपेक्षा बहुमत का अधिक महत्त्व होना चाहिये—उचित और अनुचित के मामले मे महत्त्व नही रखता था, हालाँकि व्यावहारिक प्रभाव मे यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। फिर भी, आन्तरिक अनुभूति मे एक और अनेक हमारे लिए यथार्थ हो जाते है, क्योकि हम अनेक मे एक व्यक्ति है, कई मनुष्यो मे मनुष्य हैं। इस प्रकार की जो अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं उनकी छानबीन "मैं—तू" सम्बन्ध पर विचार-विमर्श करते समय की जा चुकी है। परन्तु इस सम्बन्ध से भी समस्या का समाधान नही हो जाता, जो इन दो सम्प्रत्ययो से उत्पन्न होती है, हम यह नही जानते कि अनेक एक-व्यक्ति क्यो है, सामान्य आधार पर भिन्न मनुष्य कैसे मिलते हैं, "मैं", "तू" और इसके अतिरिक्त "यह" क्यो है और इनमे से क्यो कभी किसी को छोडा नही जा सकता। फिर भी हमारे अस्तित्व को अर्थ प्रदान करने के लिए ये दो सम्प्रत्यय विश्वसनीय मार्गदर्शक हैं। एक और अनेक भी तटस्थ नही है, अगर हम इस दिशा का अनुसरण करते हैं तो वे बतलाते है कि हमारी अनुभूति से अधिकतम सम्भव सन्तुष्टि प्राप्त होगी और मानवीय "तू" के साथ मिलने से हम अन्तिम "तू" की अनुभूति प्राप्त करने मे समर्थ होगे। हम ईश्वर के सामने रहेगे।

आत्मा को स्वीकार करें और इसके अनुसार कार्य करें, अगर हम इस प्रकार आरम्भ करे तो स्वतन्त्रता और यथार्थ आत्मा के बीच पारस्परिक प्रभाव धीरे-धीरे दोनो को स्पष्ट करेगा। प्रत्येक सही निर्णय अपनी प्रकृति को अच्छी तरह पहचानने मे हमे सहायता प्रदान करेगा, यह हमे उन क्षेत्रो को दिखलायेगा जहाँ हम केवल अपनी आज्ञा के अनुसार वास्तव मे कार्य कर सकते है, हम यह अनुभव करेंगे कि हम स्वतन्त्र कर दिये गये है। इसके द्वारा सही निर्णयो पर पहुँचने की ओर अधिक निश्चितता होगी और फिर इन निर्णयो से हमे अपनी यथार्थ आत्मा का अधिक विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त होगा। धीरे-धीरे हमारी आन्तरिक अनुभूतियो का क्षेत्र विस्तृत होगा, इससे नैतिकता के धार्मिक निहितार्थ प्रकट होगे और इस प्रकार "आध्यात्मिक यथार्थता" शब्द का और अधिक अर्थ स्पष्ट होगा।

हमे यह स्वीकार करना होता है कि अनिवार्यता और स्वतन्त्रता की समस्या का समाधान भी तर्कनापरक रूप से नही हो सकता है। बाह्य सत्ता मे दोनो सम्प्रत्यय विशुद्ध रूप से आकारित रहते है, अनिवार्यता का यह अर्थ होता है कि सभी कार्य उनके कारणो से निर्धारित होते है, वे कार्य भी, जिनके कारण हम नही जानते या अभी तक हम नही जानते लेकिन मानवीय स्वतन्त्रता का यह अर्थ होगा कि मनुष्य का एक नया सकल्प किसी कार्य का प्रथम कारण हो सकता है जिसका निर्धारण अन्यथा नही हो सकता। इस प्रकार के प्रथम कारण का, प्राकृतिक नियमो के जगत् मे, कारण नही बताया जा सकता, क्योकि इनमे अपवादो को स्थान नही दिया जाता, इसे उस सम्भाव्यता के क्षेत्र मे भी नही रखा जा सकता, जिससे अनिवार्यता के सम्बन्ध में कुछ निश्चितता आ गयी है। मानवीय स्वतन्त्रता की स्वीकृति अबुद्धिवादी रह ही जाती है। किन्तु फिर एक बार ये दो सम्प्रत्यय, जबकि वास्तविक रूप से इनकी अनुभूति की जाती है, तटस्थ नही रहते, अनिवार्यता, बाह्य और आन्तरिक बाध्यता के रूप मे इस विश्व मे हमारा स्थान दिखलाती हुई, जिसमे परिवर्त्तन नही किया जा सकता, और स्वतन्त्रता मानवीय प्रकृति की बहुमूल्यता और पूर्णता तक पहुँचने का मार्ग खोलती हुई तथा यह हमे दिखलाती हुई कि अत्यधिक महान् चुनौतियो के सामने, यह अपने को अक्षुण बनाये रह सकती है। इन दो सम्प्रत्ययो के बीच व्याघात हमारे कार्यों का मार्ग-दर्शन कर सकता है, हालाँकि वह असमाधेय है और यदि यह करता है, अबुद्धितत्त्व का फिर अर्थ निकलेगा और यह उस अवितर्कनापरक सत्ता की ओर सकेत करेगा जो धर्म को अन्तर्वस्तु प्रदान करता है।

इसी प्रकार के निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए और उदाहरण आसानी से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, दर्शन प्राचीन मूलभूत समस्याओ मे से तीसरी समस्या—अर्थात् एक और अनेक की समस्या। लेकिन जो पहले कहा जा चुका है उसमे और कुछ जोडने की हमे आवश्यकता नही।

बाह्य सत्ता को समझने के लिए, इन दो सम्प्रत्ययो का अत्यधिक महत्त्व है, क्योकि वे सख्याओ और गणित के आधार है। लेकिन वे भी अमूर्त रहते है और हम इस प्रश्न का उत्तर नही दे सकते कि बाह्य सत्ता हमे इस रूप मे प्रतीत होती है, जिस रूप मे हमे उनकी आवश्यकता है। हम अस्तित्व की एकता को समझने का निरन्तर प्रयास करते है और ऐसा करने मे हम हमेशा असफल रहते है, क्योकि अनेक का व्यवधान—उदाहरण के लिए यह तथ्य कि अनेक वस्तुएँ या अनेक मनुष्य हैं—दुस्तर और अव्याख्येय दोनो सिद्ध होता है।

आन्तरिक अनुभूतियो के सम्बन्ध मे सख्याएँ लागू नही होतीं। अगर मैं दर्द का अनुभव करता हूँ और इससे कोई और दर्द का अनुभव करना आरम्भ करता है तो यह नही कहा जा सकता कि दर्द की मात्रा दुगुनी हो गयी है, भावो का सम्बन्ध एक दूसरे से केवल मात्राओ के रूप मे नही जोडा जा सकता। न ही नैतिक क्षेत्र मे सख्याएँ लागू होती है, एक सुकरात विशाल जनसमुदाय के विरुद्ध उचित था, परिमाणात्मक सम्बन्ध— कि एक व्यक्ति की अपेक्षा बहुमत का अधिक महत्त्व होना चाहिये—उचित और अनुचित के मामले मे महत्त्व नही रखता था, हालाँकि व्यावहारिक प्रभाव मे यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। फिर भी, आन्तरिक अनुभूति मे एक और अनेक हमारे लिए यथार्थ हो जाते है, क्योकि हम अनेक मे एक व्यक्ति हैं, कई मनुष्यो मे मनुष्य है। इस प्रकार की जो अनुभूतियाँ उत्पन्न होती है उनकी छानबीन "मैं—तू" सम्बन्ध पर विचार-विमर्श करते समय की जा चुकी है। परन्तु इस सम्बन्ध से भी समस्या का समाधान नही हो जाता, जो इन दो सम्प्रत्ययो से उत्पन्न होती है, हम यह नही जानते कि अनेक एक-व्यक्ति क्यो है, सामान्य आधार पर भिन्न मनुष्य कैसे मिलते हैं, "मैं", "तू" और इसके अतिरिक्त "यह" क्यो है और इनमे से क्यो कभी किसी को छोडा नही जा सकता। फिर भी हमारे अस्तित्व को अर्थ प्रदान करने के लिए ये दो सम्प्रत्यय विश्वसनीय मार्गदर्शक हैं। एक और अनेक भी तटस्थ नही है, अगर हम इस दिशा का अनुसरण करते है तो वे बतलाते है कि हमारी अनुभूति मे अधिकतम सम्भव सन्तुष्टि प्राप्त होगी और मानवीय "तू" के साथ मिलने से हम अन्तिम "तू" की अनुभूति प्राप्त करने मे समर्थ होगे। हम ईश्वर के सामने रहेगे।

दर्शन के क्षेत्र से लिये गये इन उदाहरणो ने भी सम्भवत यह दिखलाया है कि वही धर्म अबुद्धितत्त्व को एक सार्थक अनुभूति मे कैसे रूपान्तरित करता है। अधिकाश धर्म कई ऐसे व्याघातो का प्रयोग करते है जो बाहर से देखने पर निरर्थक रूप मे अतर्कनापरक प्रतीत होते हैं, लेकिन जब इनकी अनुभूति की जाती है तब अभिगम्य बनाने मे सहायक होते है जो अन्यथा भाषा मे व्यक्त नही हो सकती। हमारे विचारो को, विपरीत दिशाओ मे, चरम सीमाओ तक ले जाया जाता है जहाँ तक वे पहुँच सकते है, लेकिन निरपेक्ष विरोधाभास, एक बार इसकी अनुभूति हो जाने पर अर्थ दता है।

उदाहरण के लिए, ईसाई धर्म मे, निर्णय और अनुकम्पा है। ये पूर्णरूप से व्याघाती है, किन्तु केवल तार्किक विचार को दोनो की ओर ले जाया जाता है। अगर प्रत्येक व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है, जैसाकि ईसाई मत दावा करता है, उसके कार्य यथार्थ रूप से महत्त्वपूर्ण होने चाहिए, जिससे कि उसके सम्बन्ध मे अन्तिम स्थिति तक निर्णय किया जाय। एक ओर तो ईश्वर की अनुकम्पा को सीमित नही किया जा सकता, किसी प्रकार का सीमाकरण या प्रतिबन्ध ईश्वर सम्बन्धी ईसाई अवधारणाओ मे स्थान नही पा सकता। हमे एक ही साथ निर्णय और अनुकम्पा दोनो के सम्बन्ध मे विचार करना है, क्योकि अगर हम निर्णय पर ही बल देगे तो ईश्वर प्रेम का ईश्वर नही रह जायगा, और अगर हम अनुकम्पा पर ही बल देंगे तो इस बात का महत्त्व कैसे हो सकता है कि इस प्रेम के योग्य होने के लिए हम क्या करते है और क्या हमे प्रयास करना चाहिये ? हम आलसी बना रहना पसन्द करेगे। परन्तु अगर हम व्याघात को स्वीकार करते है तो हमारे भाव धीरे-धीरे हमारे लिए एक नया सामजस्य प्रकट करेंगे। अगर हम अपने पाप के सम्बन्ध मे भग्नाशा में है और अपने पापो से गिर गये है तो इस ज्ञान की अनुभूति मुक्तिदायक अनुकम्पा के रूप मे हो सकती है कि निर्णय देना हमारा काम नही है, ईश्वर का काम है। अगर हम कठोर है और अपने पापो से अवगत नही है तो अनुकम्पा का वास्तव मे अर्थ क्या है, उसकी सहसा अर्न्तदृष्टि से हमे अपने पूर्ण अर्थ के साथ पापो का पता चल जाता है, जिससे अनुकम्पा की अनुभूति कठोर दण्ड के रूप मे होती है। फिर भी, इस "भय और कम्पन" से आस्था आती है और इस प्रकार हम केवल अमूर्त धारणाओ मे अपनी अनुभूतियो या ईश्वर के सम्प्रत्यय को घटाने के खतरे मे अब नही रखते।

पूर्वनियति और सकल्प स्वान्तत्र्य की समस्या समान है। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म के आधार पर तार्किक विचार को दोनो निष्कर्षो पर आना होगा—

अर्थात् हमारे जीवन पहले से ही निश्चित है और साथ ही हम जो भी कर रहे है, उनके लिए उत्तरदायी है और स्वतन्त्र है। अगर ईश्वर सर्वज्ञ है तो वह आरम्भ से ही हमारी नियति को जानता है और हम उसमे परिवर्त्तन नही कर सकते। लेकिन अगर हमारे जीवन को किसी महत्त्व का होना है, तो उसे पूर्णरूप से पूर्व-निर्धारित नही किया जा सकता, किसी ऐसो अनिवार्यता से भी नही जो ईश्वर की इच्छा पर निर्धारित हो। धर्म का अर्थ तो हमे स्वतन्त्र करना है। कोई व्याख्या जिसका झुकाव एक या दूसरे पक्ष पर है ईसाई मत के मिथ्याकरण की ओर अग्रसर करेगी ही, केवल पूर्वनियति पर बल देने से हमारे कार्यो का महत्त्व समाप्त हो जायगा और हम ईश्वर के हाथो की कठपुतली-मात्र बन जाते है, केवल स्वतन्त्रता पर बल देने से हम उस उदारवाद की ओर अग्रसर होगे जो ईसाई धर्म को सभी विशेष लक्षणो से वंचित कर देता है। किन्तु अगर हम व्याघात को स्वीकार करते हैं और इसके साथ रहने का प्रयत्न करते हैं तो निरपेक्ष विरोधाभास हमे इस बात की अनुभूति करायेगा जिसका हमने उस समय वर्णन करने का प्रयास किया है जब काण्ट के "ऊपर तारो से खचित आकाश" और "आभ्यन्तर नैतिक नियम" की चर्चा कर रहे थे।

मुझे आशा है कि अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि अबुद्धितत्त्व एक अवि-तर्कनापरक अर्थ ग्रहण कर सकता है। अत इस पर और विचार करने के वदले, मैं निष्कर्ष मे, एक भिन्न प्रश्न उठाना पसन्द करूँगा— अबुद्धितत्त्व को निरर्थक और विनाशकारी रूप से हमारे जीवन पर हावी होने से रोकने के लिए दार्शनिक क्या कर सकता है वह इस बात का सुनिश्चय कैसे कर सकता है कि इसका प्रस्ताव इस रीति से किया जाता है कि यह हमारे जीवन को इस रूप मे समृद्ध करने मे योग दे कि उन्हे अर्थ प्रदान किया जा सके ? हमारी चर्चा से इस बात का पता चल गया है कि यह किया जा सकता है, लेकिन इसमे कोई सन्देह नही कि हमारी वर्त्तमान स्थिति मे, कुछ ही लोग इससे अवगत हैं, अर्थात् ऐसा करने का प्रयत्न लगभग असफल ही रहता है। इस प्रयत्न का समर्थन करने और हमारे जीवन पर इसका प्रभाव डालने के लिए दार्शनिक क्या कर सकता है ?

अभी हमारा सामना एक विरोधाभास से होता है जो उन विरोधाभासो से भिन्न है, जिनकी अव तक हमने चर्चा की है। एक ओर तो विश्व की कोई शक्ति विज्ञान की प्रगति को रोकने मे समर्थ नही दीखती, और न यह वाछनीय प्रतीत होता है, दूसरी ओर हम अब एक ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं कि जिसमे

विज्ञान की प्रगति पर नियन्त्रण रखना होगा, एक ऐसी स्थिति जिसमे मनुष्य को इतना शक्तिशाली होना चाहिये कि वह उन खतरनाक नयी खोजो का प्रयोग करना छोड दे जिनसे मानवीय अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो गया है। ऐसी स्थिति सामने आ जाने से दार्शनिक की शक्ति निश्चय ही अत्यधिक छोटी हो गयी है, लेकिन हमारे कई उदाहरणो से इस बात का पता चल गया है कि उसकी स्थिति एकदम निराशाजनक नही है, पुस्तको के अननुमेय परिणाम निकल सकते हैं, ये शक्ति का प्रयोग कर सकती हैं। उसके प्रयासो का महत्त्व सिद्ध करने के लिए, दार्शनिक को इस महत्त्वपूर्ण विरोधाभास पर विचार करना चाहिये।

किसी सम्भावित परिवर्त्तन की पूर्वापेक्षा यह है कि हम समस्या को स्पष्ट रूप से देखें, और यह कार्य दर्शन के क्षेत्र मे आता है। यह कहना साधारण हो गया है कि हमारी कठिनाइयो मे से एक कठिनाई इस बात मे निहित है कि हमारा नैतिक विकास वैज्ञानिक विकास से काफी पीछे पड गया है, और यह बात साधारण हो या नही, निस्सन्देह यह सही है। लेकिन इस प्रकार कहना और इसे यही तक छोड देना शायद ही यथेष्ट हो। इसका क्या अर्थ है इसे स्पष्ट करने के लिए, हमे एक दूसरी सामान्योक्ति को अस्वीकार करना है। समान रूप से अक्सर यह कहा जाता है कि विज्ञान तटस्थ है, अर्थात् यह वैज्ञानिक का काम नही है कि वह इस बात का निर्णय करे कि वह अपनी खोजो का किस प्रकार प्रयोग करे, यह काम तो राजनीतिज्ञ, समाज और हम सभी का है। परन्तु यह दावा अनुभूति के साथ न्याय नही करता। मानव-मन की शक्ति सीमित ही है, सीमाओ की उपेक्षा करना भी यहाँ एक दोष है, अगर मनुष्य की कुछ मानसिक शक्तियो का काफी विकास किया जाये, जैसाकि तर्कनापरक व्यक्ति काफी समय से, सम्भवत शताब्दियो से करते आये हैं, अन्य मानसिक शक्तियाँ कमजोर पड जायेंगी और मानवीय मन अशक्त हो जायेगा। दूसरे शब्दो मे विज्ञान भी तटस्थ नही है, इस पर अत्यधिक केन्द्रित करने से उन शक्तियो का विकास नष्ट हो जाता है जिनकी विज्ञान के उचित उपयोग का सुनिश्चित करने के लिए आवश्यकता पडेगी।

इस पुस्तक मे इस समस्या का जो उत्तर हमने देने का प्रयास किया है उसमे इस बात का समर्थन किया गया है कि वस्तु निष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनो विधियो का प्रयोग किया जाय जिसका अर्थ, वर्तमान परिस्थितियो मे, वस्तुनिष्ठ विधि की सीमाओ को देखना और आत्मनिष्ठ विधि का और अधिक विकास करना है। कुल मिलाकर यूरोपीय विचारधारा चरम सिरे तक गयी है, मध्ययुग ने आध्यात्मिक

समस्याओ पर एकान्तिक रूप से इतना केन्द्रित किया कि प्रतिक्रिया के रूप मे, बाह्य, भौतिक सत्ता पर अत्यधिक केन्द्रित करना अनिवार्य हो गया। मध्ययुग से कुछ छोटे व्यतिक्रम तो हुए हैं, लेकिन एक सिरे से दूसरे सिरे तक इस आन्दोलन पर शायद ही उनका प्रभाव पडा है। अभी भी हमारे ऊपर दूसरे सिरे का आधिपत्य है, लेकिन ऐसे लक्षण हैं कि प्रतिक्रिया हो सकती है और फिर दूसरे सिरे की ओर हम अग्रसर होगे। किसी को यह नही भूलना चाहिये कि महाविपत्ति, या मोहभग भी या उदासीनतता प्रतीयमानत असम्भाव्य विकासो को सम्भव बना सकती है। निरपेक्ष अस्तित्ववादी अवस्तुतता, भग्नाशा, निरर्थकता को ग्रहण करते हैं, वे निरर्थक अबुद्धितत्त्व को स्वयसाध्य के रूप मे स्वीकार करते हैं, और आधुनिक जीवन के कई क्षेत्रो मे निरर्थकता आकर्षक सिद्ध हुई है। परन्तु विज्ञान के विरुद्ध कोई भी ऐसी उग्र प्रतिक्रिया स्पष्ट गलत होगी, जैसाकि अस्तित्ववाद की कुछ अभिव्यक्तियो से पता चलता है, हमारा कार्य एक प्रकार का सन्तुलन, उन दोनो सिरो के बीच सम्बन्ध लाना है जोकि दोनो पूर्ण जीवन के लिए आवश्यक है। वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ विधियाँ दोनो के साथ न्याय करती हैं, अत उनके सही प्रयोग से सन्तुलन की सृष्टि हो सकती है।

आत्मनिष्ठ विधि को उचित महत्त्व देने के लिए (जिसकी आज बहुत थोडे लोग प्रशसा करते हैं) दार्शनिक को एक ऐसे उत्तेजक कदम का समर्थन करना चाहिये, जो कुछ अस्तित्ववादियो ने उठाया है, हालाँकि इसने सम्भवत अभी अधिक ध्यान आकर्षित नही किया है। उन्हे इस बात का आग्रह करना चाहिये कि "सत्य" शब्द का प्रयोग वैज्ञानिक कथनो के लिए नही किया जाना चाहिये, प्रत्युत केवल उसी सत्य के लिए, जिस पर हम जीते हैं और जिसे आत्मनिष्ठ विधि प्रकट करती है।

हमने पहले कहा है कि हमे दो भिन्न प्रकार के सत्यो को स्वीकार करना चाहिये और उदाहरण के रूप मे विश्वकोष के प्रयोग को, हालाँकि इसमे कई सही कथन होते हैं, शायद ही उस सत्य के भण्डार के रूप मे समझा जायगा, जिसपर हम जीते हैं।* हमने उस सत्य का भी उल्लेख किया है, हालाँकि हम उसके कुछ ही पक्षो को समझ सकते हैं, जो मूलभूत रूप से एक है और अगर अवैक्तिक वैज्ञानिक कथनो को सत्य के रूप मे स्वीकार किया जाता है तो सम्पूर्ण सत्य विकृत

---

* पृष्ठ ६६ देखिये।

कर दिया जायगा।† इस कारण से यह सम्भवत अच्छा होगा कि दोनो प्रकार के सत्यो के बारे मे बात ही न करे, प्रत्युत वैयक्तिक अनुभूति के क्षेत्र तक ही इस शब्द का प्रयोग सीमित रखे।

अभी हाल तक सत्य को केवल निरपेक्ष मूल्यो मे से एक समझा जाता था। यह दावा हमारे लिए अपना अर्थ खो चुका है, जब हम सत्य के बारे मे विचार करते हैं तो सम्भवत पहले सही वैज्ञानिक कथनो के बारे मे विचार करते हैं और शायद ही हम समझ पाते है कि सत्य को निरपेक्ष मूल्य क्यो कहना चाहिये। फिर भी महत्वपूर्ण वैयक्तिक अनुभूतियो मे हम निश्चय ही कभी भी एक ऐसा सत्य खोजते हैं या ऐसे सत्य से मिलते हैं जिसका वर्णन निरपेक्ष मूल्य के रूप मे हो सकता है। इस दावे का कि सत्य एक प्रकार का मूल्य है, यह अर्थ होता है कि हमे इसे अपने लिए बहुमूल्य रूप मे देखना है, इसमे हमारे निर्णय की आवश्यकता होती है, और इस निर्णय को पूर्ण विश्वसनीय बनाने के लिए सत्य को हमारे जीवन पर प्रभाव डालना है, इसमे वैयक्तिक सहभागिता की अपेक्षा होती है, इस पर चलना चाहिये। यह सिद्ध नही किया जा सकता, इसे "अपने प्रकाश मे चमकना चाहिये,"[1] इसे सत्य के सम्बन्ध मे हमारी भावना को इतना अच्छा लगना चाहिये कि इसे अस्वीकार करने का अर्थ हमारी समस्त अनुभूतियो का पूर्ण खण्डन हो, और वास्तव मे, सत्य के रूप मे जिसकी अनुभूति प्राप्त करते हैं उसके प्रकाश मे यह निरर्थक प्रतीत हो। अगर हम ईमानदार हैं तो हम इसे स्वीकार करेंगे ही, अगर हम इसके विरुद्ध कार्य करेंगे तो हम अपने को काफी चोट पहुँचायेंगे, यह पत्थर से सिर फोडनेवाली बात होगी। अपनी छानबीन से हमे कई ऐसे सत्यो, या सत्य के पक्षो का विशेष रूप से चौथे, पाँचवें और आठवें अध्यायो मे, पता चल गया है। इस प्रकार के धर्मादेश कि हमे अपने पडोसी से प्रेम करना चाहिये, या हमे हत्या नही करनी चाहिये, और इस प्रकार की अनुभूतियाँ जैसे "मैं–तू" सम्बन्ध, स्पष्टत इस बात की अपेक्षा रखती हैं कि उन्हें सत्य के रूप मे स्वीकार किया जाय। स्वाभाविक रूप से चूंकि सत्य को सिद्ध नही किया जा सकता, अत अनुभव द्वारा इसका निरन्तर परीक्षण किया जाना चाहिये, और इसे दार्शनिको तथा हममे मे प्रत्येक के मुख्य कामो मे से एक होना चाहिये, आज की उस सामान्य अभिवृत्ति के विपरीत जो विज्ञान मे परीक्षण पर बल देते है, लेकिन सत्य के महत्त्वपूर्ण पक्षो को अर्द्धचेतनरूप से मान

---

† पृष्ठ १६३ देखिये।

लेते हैं। परन्तु चूंकि हम चेतन या अचेतन रूप से, किसी प्रकार का सत्य स्वीकार किये बिना नही रह सकते, हमे यह जानने का प्रयास करना चाहिये कि किस सत्य पर हम जीते हैं।

मैंने सत्य की समस्या पर और कही विचार किया है, और मैं उसे दोहराना नही चाहता।[१] लेकिन मैं आशा करता हूं कि मैंने यह दिखलाने के लिए काफी कुछ कहा है कि "सत्य" शब्द के इस प्रयोग में इस परिवर्त्तन से आत्मनिष्ठ विधि के महत्व को समझने मे सहायता मिलेगी और इससे विज्ञान और नैतिकता के बीच वह सन्तुलन लाने मे, काफी सहायता मिलेगी, जिसका हमे अभाव है, हालाँकि कुछ लोगो के लिए, व्यावहारिक जीवन के अर्थ मे, अभी भी छोटी देन लग सकती है। किसी अर्थ मे यह बहुत बडी उपलब्धि होगी। वैज्ञानिक शायद ही इसपर आपत्ति उठाएँ, विज्ञान की विभिन्न शाखाओ को जो समर्थन मिलता है अभी उसमे असगति है, सामान्य रूप मे महानतर सन्तुलन से विज्ञान के क्षेत्र मे महानतर सन्तुलन आ सकता है। अगर कोई वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनो विधियो की आवश्यकता महसूस करता है, आत्मनिष्ठ विधि पर बल देना अभी भी विज्ञानविरोधी नही है, हालाँकि आज इसकी काफी आवश्यकता है। दूसरी ओर इस बात पर बल देने से भी कि आत्मनिष्ठ विधि से सत्य की प्राप्ति हो सकती है, इस विधि का लाभ उठाने मे सहायता मिल सकती है। साक्ष्य के रूप मे अनुभव को स्वीकार करना है, लेकिन क्या इसका परीक्षण हमेशा सावधानी से किया जाता है? अगर वैयक्तिक अनुभूति को सत्य का एकमात्र साधन माना जाता है तो इस क्षेत्र मे परीक्षण उसी प्रकार सुनिश्चित हो जायगा—अपने भिन्न रूप मे—जिस प्रकार कि विज्ञान मे और इस प्रकार आत्मनिष्ठ विधि का महत्त्व और इसकी विश्वसनीयता अधिक आसानी से पहचान मे आयेगी। तब यह अस्तित्ववाद के परे एक अधिक सन्तुलित दर्शन की ओर ले जा सकेगी।

सच तो यह है कि हम अस्तित्ववाद के परे पहले ही चले आये हैं। न केवल निरपेक्ष अस्तित्ववाद के गलत दावो को पीछे छोड दिया गया है, अगर अबुद्धितत्त्व के सम्बन्ध मे विवेचन सही है तो हमे कीर्केगार्ड के तप के परे "भय और कम्पन" पर उसके अत्यधिक बल के परे, उस आस्था-कर्म की ओर ले जाया जाता है चाहे यह अनिवार्यत बुद्धि के परे ही क्यो न हो जिसका समर्थन बुद्धि द्वारा किया जा सकता है। यह सत्य है कि कीर्केगार्ड धर्म की सार्थकता तक पहुँचने के लिए, निरर्थकता द्वारा निविष्ट विभीषा का प्रयोग करता है, लेकिन

निरर्थकता पर उसके बल देने से ईसाई धर्म की अपेक्षा अधिकांश आधुनिक अस्तित्व-वादियो पर अधिक प्रभाव पडा है और इस प्रकार अबुद्धितत्त्व की निरर्थकता के विरुद्ध निराशोन्मत संघर्ष उनके दर्शन का एक-एक लक्षण बन गया है। कई कम उग्रवादी अस्तित्ववादी, जो "निरपेक्ष" नही कहला सकते, विनाशकारी अनुभूतियो* पर ही ध्यान देते हैं। ब्यूबर जैसे दार्शनिक असाधारण अपवाद हैं। परन्तु इस अध्याय मे हमने यह दिखलाया है कि अबुद्धितत्त्व को, दर्शन और धर्म दोनो मे निरर्थक रूप मे देखने की नही आवश्यकता है, प्रत्युत् यह अर्थ दे सकता है और अनुभवातीत सत्ता को प्रत्यक्ष रूप मे अर्थ प्रदान करता है। इस आधार पर, अस्तित्ववाद के उन सभी तत्त्वो को दर्शन मे शामिल किया जा सकता है, जिन्हे हमने आवश्यकता और बहुमूल्य समझा, जो फिर एक बार अपने इस दावे को न्यायोचित ठहरा सकते है कि मानवीय मन के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयासो में से यह एक है।

---

* पृष्ठ १३५-६ देखिये।
इस प्रकार के अस्तित्ववाद की चर्चा हमने नही की है, लेकिन जैसपर्स का थोडा उल्लेख उदाहरण के रूप में काम कर सकता है।

* * *

सन्दर्भ

पृष्ठ 2

1 फिलोसोफिक प्रॉब्लम्स ऑफ न्यूक्लियर साइन्स, लण्दन 1952, पृ० 93

पृष्ठ 9

1 पेन्सीज़, स० 267 (एवरीमैन लायब्रेरी)

पृष्ठ 16

1. द रिबेल, (न्यूयार्क 1954), पृ० 5

2 वही 209

पृष्ठ 21

1 एसेज़ ऑफ ए बायोलोजिस्ट, पृ० 176

पृष्ठ 24

1 डाइ फ्रालिक विस्सेनशैफ्ट, 349 डार्विन पर माल्थस के जबरदस्त प्रभाव को देखते हुए यह टिप्पणी सम्भवत सम्पूर्णरूप से अनुचित नही है।

2 द कम्प्लीट वर्क्स, डॉ० ओस्कर लिवी द्वारा सम्पादित, खण्ड 7 ह्यूमन आल टू ह्यूमन, पृ० 43 (जहाँ मैंने प्रचलित अग्रेजी अनुवादो का प्रयोग किया है, वहाँ मैंने उनके अग्रेजी शीर्षको से उनकी ओर निर्देश किया है और जहाँ मैने स्वय अनुवाद किया है, वहाँ जर्मन शीर्षक दिये गये है)

पृष्ठ 25

1 मेन्शलिचस ऑलजुमेन्शलिचस, 1, 501

2 वही 44

3 वही 50

4 वही 74

5 द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 7, ह्यूमन ऑल टू ह्यूमन, पृ० 211

6 वही, पृ० 71

7 वही, पृ० 127

पृष्ठ 27

1 द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 10, द ज्यायफुल विजडम, पृ० 294
2 द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 5, बियोण्ड गुड एण्ड इविल, पृ० 117
3 मेन्शलिचस आलजुमेन्शलिचस, 1, 114
4 द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 7, ह्यूमन आल टू ह्यूमन

पृष्ठ 28

1 मेन्शलिचस आलजुमेन्शलिचस, 1, 110
2 द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 5, बियोण्ड गुड एण्ड इविल, पृ० 189
3 मेन्शलिचस आलजुमेन्शलिचस, 1, 241
4 बियोण्ड गुड एण्ड इविल, पृ० 224
5 डाइ फ्रालिक विस्सेनशेफ्ट, 92
6 मेन्शलिचस आलजुमेन्शलिचस, 1, 447
7 गोटजेण्डेमरग, मोरल आल्स वाइडरनेटर, 3
8 जुर जनेलाजी दर मोरल 1, 9, 11
9 द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 15, दि विल टू पावर, पृ० 20

पृष्ठ . 29

1 द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 10, दि ज्आयफुल विजडम, पृ० 164
2 दर विल्ली जुर मेश्ट 634, क्रोनर प्रकाशन

पृष्ठ 30

1 द कम्प्लीट वर्क्स, वाल 15, दि विल टू पावर, पृ० 32

पृष्ठ 31

1 द पोजेस्ड, एवरीमेन्स लायब्रेरी, II पृ० 254-55
2 आलसो स्प्राक जरथूस्ट्रा, II, अध्याय 2

पृष्ठ 33

1 जेनसीट्स वान गुट आड बोस 199 और डाई फ्रोलिक विस्सेनशेफ्ट 362

पृष्ठ 34

1 जेन्सीट्स वान गुट आड वोस 264
2 द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 16 दि ट्वीलाइट ऑफ दि आइडल्स पृ० 47 और मेन्शलिचस आलजूमेन्शलिचस 11, 278

पृष्ठ 35

1 द लिस्नर, खण्ड XLVI पृ० 878-9
(इटेलिक्स मेरा)

पृष्ठ 36

1 वही

पृष्ठ 37

1 दर फाल वैगनर 11

पृष्ठ 38

1 लेटर्स टू हिज सिस्टर 20 मई, 1885 और 26 दिसम्बर, 1887

पृष्ठ 39

1 डाई फ्रालिक विस्सेनशैफ्ट 125

पृष्ठ 40

1 वही 125

पृष्ठ 42

1 दर विल्ली जुर मैश्ट 693
2 वही 30
3 वही 23, 24
4 वही 36

पृष्ठ 43

1 वही 38
2 वही 39

पृष्ठ 44

1 वही 75
2 द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 15, दि विल टू पावर, पृ० 104

पृष्ठ 45

1 दर विल्ली जुर मैश्ट 32
2 वही 29
3 वही 34

पृष्ठ 47

1 पेन्सीज, स० 205-6

पृष्ठ 49

1 डाई फ्रोलिक विस्सेनशैफ्ट, वारीडी जुर 2 औस्गावे, 3

पृष्ठ 50

1 द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 15 दि व्रिल टू पावर, पृ० 432

पृष्ठ 51

1 दर विल्ली जुर मैश्ट पृष्ठ 226

2 वही पृष्ठ 229

पृष्ठ 52

1 गोट्जेण्डेमरग, 'डाई वर्ननफ्ट इन दर फिलॉसफी, 2

पृष्ठ 56

1 रिपिटीशन, ऑक्सफोर्ड *1942*, पृ० 112

2 वही, पृ० 114

पृष्ठ 57

1 रिपिटीशन, पृ० 125

2 फियर एण्ड ट्रेम्बलिंग, प्रिस्टन *1941*, पृ० 44

पृष्ठ 58

1 वही, पृ० 24

पृष्ठ 60

1 वही, पृ० 187

पृष्ठ . 61

1 वही, पृ० 79

पृष्ठ 62

1 फियर एण्ड ट्रेम्बलिंग के सभी तीन उद्धरण, पृ० 151-2

पृष्ठ । 66

1 वर्क्स ऑफ लव, प्रिसटन 1946, पृ० 289

पृष्ठ 67

1 वर्क्स ऑफ लव, प्रिंसटन 1946, पृ० 262

2 वही, पृ० 48

3 पेन्सीज, सख्या 280 एव 277

पृष्ठ 68

1 इस समस्या के सविस्तार प्रतिपादन के लिए पी० रूबिचेक का थिंकिग इन अपोजिट्स, अ० VI और थिंकिग टुवर्ड्स रेलिजन, अ० V देखिये ।

2 दि ब्रदर्स कर्माजोव, एवरीमैन, 331

पृष्ठ 69

1 वर्क्स ऑफ लव, पृ० 66, 50

2 वही, पृ० 58

पृष्ठ 74

1 मेटाफिजिक दर सिटिन, 2 एक्सविनट

पृष्ठ 83

1 एन इन्ट्रोडक्शन टू एथिक्स, लण्दन 1955, पृ० 122-3

2 हिस्ट्री ऑफ वैस्टर्न फिलॉसफी, लण्दन, 1946, पृ० 800

पृष्ठ 91

1 उदाहरण के लिए, द वर्ल्ड एण्ड गॉड, लण्दन 1935, पृष्ठ 70-2 (आई एम पार्टली फॉलोइंग फार्मर्स थाट इन दिस कनक्लूडिंग पार्ट ऑफ दी चैप्टर) इस अध्याय के इस अन्तिम भाग मे मैं आशिक रूप से फार्मर की विचार-धारा का अनुसरण कर रहा हूँ ।

पृ० 94

1 मर्डर इन दि कैथेड्रल, लण्दन 1935, पृ० 44

पृष्ठ 96

1 ग्रेस एण्ड पर्सनैलिटी, कैम्ब्रिज 1931, पृ० 62

पृष्ठ 98

1 पेन्सीज, सख्या 277, 275, 30, 282

पृष्ठ 100

1 कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्टक्रिप्ट, प्रिन्सटन 1944, पृ० 281

पृष्ठ 101

1. कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्टक्रिप्ट, प्रिन्सटन 1944 पृ० 116

पृष्ठ 102

1 दि जर्नल्स, ऑक्सफोर्ड 1938, पृ० 153

पृष्ठ 105

1 वही, पृ० 176

2 फियर एण्ड ट्रैम्बलिंग, पृ० 50

पृष्ठ 106

1 दि जर्नल्स, पृष्ठ 544

2 कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्टक्रिप्ट, पृ० 327

3 दि पाइण्ट ऑफ विड, ऑक्सफोर्ड 1939, पृ० 35

पृष्ठ 117

ल' एक्सपीरिएन्स इण्टेरिर, पेरिस 1943, पृष्ठ 109 मे कैथलीन रेने, द्वारा अनूदित पी० फाउलिक के एक्जिस्टेंसियलिज्म के निम्नलिखित कुछ उद्धरणो के लिए ऋणी हूँ। फ्रेंच एक्जिस्टेंसियलिज्म के सम्बन्ध मे कुछ टिप्पणियो के लिए मैं इस पुस्तक का आभार प्रकट करना चाहूँगा।

पृष्ठ 118

1 ल'एटर एट ले नीण्ट, पेरिस 1943, पृ० 393,633

पृष्ठ 119

1 इन एक्शन, 12 और 27 दिसम्बर, 1944

पृष्ठ 121

1 स्वतन्त्रता की समस्याओ के अगले विचार-विमर्श के लिए देखिये पी रूबिचेक — थिंकिंग टुवर्ड्स रिलीजन, पृष्ठ 173 फ और थिंकिंग इन अपोजिट्स, पृष्ठ 195

पृष्ठ 122

1 सार्त्रे, ल'एटरएट ले नीण्ट,-पृ० 520-1

पृष्ठ 123

1 ल नौसी, पेरिस 1942, पृ० 170, और ल'एजैंडे रेसन, पेरिस 1945, पृ० 664

2 वाज इस्ट मेटाफिजिक ? फ्रेंकफर्ट एम मैन, 1949, पृ० 32

3 पाइरहस एट सिनीज, पेरिस 1943, पृ० 67

4 बीइंग एण्ड टाइम, लण्दन 1962, पृ० 251

पृष्ठ 124

1 जे लाक एन एसे कन्सरनिंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग, बुक अ०

2 ल'एटरे एडले नीण्ट, पृष्ठ 225, हिडेगर ट्राइज़ टू एवाइड दिस कनक्लूजन, वट हिज फाइनल डेफिनिशन आफ बीइंग इज एम्प्टी, देखिए पृष्ठ 132. हिडेगर इस निष्कर्ष से बचना चाहता है किन्तु सत्ता की अन्तिम परिभाषा रिक्त है, पृष्ठ 132 देखिए ।

3, वही, पृ० 527

पृष्ठ 125

1 इन एक्शन, 27 दिसम्बर, 1944

पृष्ठ 130

1 इनफूरग इन डाइ मेटाफिजिक, टुविंगन 1953, पृ०, 154

पृष्ठ 132

1 इन हिज वर्क बीइंग एण्ड टाइम ।

पृष्ठ . 139

1 आई एण्ड दाउ, एडिनवर्ग 1937, पृ० 11

पृष्ठ 148

1 दास प्राबलम डेस मनस्कन, हैडलवर्ग 1948, पृ० 159-60

पृष्ठ 151

1 इक्लिप्स ऑफ गॉड, लण्दन 1953, पृ० 68-9

पृष्ठ 154

1 कम्पेयर कीर्केगार्डस् रिपिटीशन, पृ० 120

पृष्ठ 156

1 इक्लिप्स ऑफ गॉड, पृ० 103

पृष्ठ 157

1 वही, पृ० 166

पृष्ठ 161

1 दि डिग्निटी एण्ड एडवासमेण्ट ऑफ लर्निंग, बुक III चे० 4,

2 दि कन्साइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी की दोनो परिभाषाएँ ।

पृष्ठ 101

1. कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्टक्रिप्ट, प्रिन्सटन 1944, पृ० 116

पृष्ठ 102

1 दि जर्नल्स, ऑक्सफोर्ड 1938, पृ० 153

पृष्ठ 105

1. वही, पृ० 176

2 फियर एण्ड ट्रैम्बलिंग, पृ० 50

पृष्ठ 106

1 दि जर्नल्स, पृष्ठ 544

2 कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्टक्रिप्ट, पृ० 327

3. दि पाइण्ट ऑफ विउ, ऑक्सफोर्ड 1939, पृ० 35

पृष्ठ 117

ल' एक्सपीरिएन्स इण्टेरिर, पेरिस 1943, पृष्ठ 109 मे कैथलीन रेने, द्वारा अनूदित पी० फाउलिक के एक्जिस्टेंसियलिज्म के निम्नलिखित कुछ उद्धरणो के लिए ऋणी हूँ। फ्रेंच एक्जिस्टेंसियलिज्म के सम्बन्ध मे कुछ टिप्पणियो के लिए मैं इस पुस्तक का आभार प्रकट करना चाहूँगा।

पृष्ठ 118

1 ल'एटर एट ले नीण्ट, पेरिस 1943, पृ० 393,633

पृष्ठ 119

1 इन एक्शन, 12 और 27 दिसम्बर, 1944

पृष्ठ 121

1 स्वतन्त्रता की समस्याओ के अगले विचार-विमर्श के लिए देखिये पी रूबिचेक — थिंकिग टुवर्ड्स रिलीजन, पृष्ठ 173 फ और थिंकिंग इन अपोजिट्स, पृष्ठ 195

पृष्ठ 122

1 सार्त्र, ल'एटरएट ले नीण्ट,-पृ० 520-1

पृष्ठ 123

1 ल नौसी, पेरिस 1942, पृ० 170, और ल'एजेंडे रेसन, पेरिस 1945, पृ० 664

2 वाज इस्ट मेटाफिजिक ? फ्रेंकफर्ट एम मेन, 1949, पृ० 32

3 पाइरहस एट सिनीज, पेरिस 1943, पृ० 67

4 बीइग एण्ड टाइम, लण्दन 1962, पृ० 251

पृष्ठ 124

1 जे लाक एन एसे कन्सरनिंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग, बुक अ०

2 ल'एटरे एडले नीण्ट, पृष्ठ 225, हिडेगर ट्राइज टू एवाइड दिस कनक्लूजन, वट हिज फाइनल डेफिनिशन आफ बीइग इज एम्प्टी, देखिए पृष्ठ 132 हिडेगर इस निष्कर्ष से बचना चाहता है किन्तु सत्ता की अन्तिम परिभाषा रिक्त है, पृष्ठ 132 देखिए।

3. वही, पृ० 527

पृष्ठ 125

1 इन एक्शन, 27 दिसम्बर, 1944

पृष्ठ 130

1 इनफूरग इन डाइ मेटाफिजिक, टुबिगन 1953, पृ०, 154

पृष्ठ 132

1 इन हिज वर्क बीइग एण्ड टाइम।

पृष्ठ . 139

1 आई एण्ड दाउ, एडिनवर्ग 1937, पृ० 11

पृष्ठ 148

1 दास प्राबलम डेस मनस्कन, हैडलवर्ग 1948, पृ० 159-60

पृष्ठ 151

1 इक्लिप्स ऑफ गॉड, लण्दन 1953, पृ० 68-9

पृष्ठ 154

1 कम्पेयर कीर्केगार्डस् रिपिटीशन, पृ० 120

पृष्ठ 156

1 इक्लिप्स ऑफ गॉड, पृ० 103

पृष्ठ 157

1 वही, पृ० 166

पृष्ठ 161

1 दि डिग्निटी एण्ड एडवासमेण्ट ऑफ लर्निंग, बुक III चे० 4,

2 दि कन्साइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी की दोनो परिभाषाएँ।

पृष्ठ · 163

1 द नेचर ऑफ द यूनिवर्स, ऑक्सफोर्ड 1950, पृ० 105

2 फिलॉसफी डर नेटर, बर्लिन1950, पृष्ठ 246 फ०

पृष्ठ 168

1 क्रिटिक्यू ऑफ प्रेक्टिकल रीजन एण्ड अदर वर्क्स आन दि थ्योरी ऑफ एथिक्स, लण्दन 1889, पृ० 260

पृष्ठ 180

1 एच एच फार्मर, गॉड एण्ड मेन, लण्दन 1948, पृ० 18

पृष्ठ 181

1 सी थिंकिग टूवर्डस् रिलीजन, अ० VII, और थिंकिग इन अपोजिट्स

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

जिन कृतियो का प्रकाशन कई सस्करणो मे हुआ है, उन्हें केवल शीर्षक द्वारा उद्घृत किया गया है। अन्य कृतियो के लिए स्थान और प्रकाशन तिथि दी गयी है।

१ प्रामाणिक कृतियाँ

ब्यूबर, मार्टिन — आई एण्ड दाऊ, एडिनवर्ग १९३७, इक्लिप्स ऑफ गॉड लण्दन १९५३, बिटविन मैन एण्ड मैन, लण्दन १९४७

हीडेगर, मार्टिन — बीइग एण्ड टाइम, लण्दन १९६२, एग्जिस्टेन्स एण्ड बीइग, लण्दन १९४९, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू मेटाफिजिक्स, न्यू हैवेन १९५९

जैसपर्स, कार्ल — दि पेरेनियल स्कोप ऑफ फिलौसफी, लण्दन १९५०
मैन इन द मॉडर्न एज, लण्दन १९५१, रीजन एण्ड एग्जि-स्टेन्स, लण्दन १९५६

कीर्केगार्ड, सोरने — फियर एण्ड ट्रेम्बलिग
रिपीटीशन
वर्क्स ऑफ लव
कनक्लूडिग अनसाइन्टिफिक पोस्टक्रिप्ट
दि कन्सेप्ट ऑफ ट्रेड
दि जर्नल्स

नीट्शे, फ्रेड्रिक — द ज्वायफुल विजडम
ह्यूमन ऑल टू ह्यूमन
इस स्पेक जरायुस्ट्रा
बियोण्ड गुड एण्ड इविल
जेनेओलाजी ऑफ मोरल्स
दि विल टू पावर

सार्त्र, जाँ पाल — बीइग एण्ड नथिगनेस, लण्दन १९५७
नासिया—लण्दन १९६२
इक्जिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमैनिज्म लण्दन, १९४८

सहायक ग्रन्थ सूची

बैरेट, डब्ल्यू० — इरास्नल मैन, लण्दन १९६१

बर्डिएव, एन० — दि डेस्टिनी ऑफ मैन, लण्दन १९३७
स्लेवरी एण्ड फ्रीडम, लण्दन १९४३
दि रेयल्म ऑफ द स्पिरिट एण्ड
दि रेयल्म ऑफ सीजर, लण्दन १९५२

बर्टाल, आर० — ए कीर्केगार्ड ऐन्थोलाजी, प्रिस्टन १९४६

ब्राक, डब्ल्यू० — ऐन इण्ट्रोडक्शन टू कण्टेम्परेरी जर्मन फिलौसफी, कैम्ब्रिज, १९३३

कामू, ए० — दि रिबेल, लण्दन १९५३

कोहेन, ए० ए० — व्यूबर, लण्दन १९५७

दोस्तोविस्की एफ० — नोट्स फ्राम अण्डरग्राउण्ड
दि पजेस्ड
दि ब्रदर्स करमजोव

फार्मर, एच० एच० — गॉड एण्ड मैन, लण्दन १९४८
दि वर्ल्ड एण्ड गॉड, लण्दन १९३३

फाउक्वि, पी० — एग्जिस्टेशियलिज्म, लण्दन १९४८

ग्रीन, जी० ओ० — मेकर्स ऑफ मॉडर्न थॉट, लण्दन १९४८

गार्डिनी — फ्रीडम, गेस एण्ड डेस्टिनि, लण्दन १९६१
द एण्ड ऑफ दि मॉर्डन वर्ल्ड, लण्दन १९५७

लीली, डब्ल्यू० — ऐन इन्ट्रोडक्शन टू एथिक्स, लण्दन १९५५

लोरी, डब्ल्यू० — ए शार्ट लाइफ ऑफ कीर्केगार्ड, लण्दन १९४३

लुवक, एच०डे० — दि ड्रामा ऑफ एथीस्ट ह्यूमैनिज्म, लण्दन १९४३

मैक्मुरे, जे० — रिजन एण्ड इमोशन, लण्दन १९३५
द सेल्फ ऐज एजेण्ट, लण्दन १९५७
पर्सन्स इन रिलेशन, लण्दन १९६१

मार्सल जी० — बीइग एण्ड हैविंग
वेस्टमिनिस्टर, १९४९
द फिलौसफी ऑफ इग्जिस्टेंस, लण्दन १९४८

मुरडोक, आई० — सार्त्रे, केम्ब्रिज १९५३

ओमैन, जे० — ग्रेस एण्ड पर्सनेलिटी, केम्ब्रिज १९३१
द नेचर एण्ड द सुपर नेचुरल, केम्ब्रिज १९३१

पास्कल, बी० — पेन्सीज

रिण्टेलन, जे०बी० — वियोण्ड इक्जिस्टेंशियलिज्म, लण्दन १९६१

रूबिचेक, पी० — द मिसइण्टरप्रिटेशन ऑफ मैन, न्यूयार्क १९४७
थिंकिग इन ओपोजिट्स, लण्दन १९५२
थिंकिग ट्रवड्स रेलिजन, लण्दन १९५७

* * *

पारिभाषिक शब्दावली (हिन्दी–अंग्रेजी)

हिन्दी	अंग्रेजी
अन्त करण	Conscience
अन्ध विश्वास	Superstition
अन्तिम	Absolute
अवस्तुता	Nothingness
अस्तित्व	Existence
अस्तित्ववाद	Existentialism
अबुद्धितत्व	Irrational
अनुभवातीत	Transcendental
अनुभूति	Experience
अधितर्कनापरक	*Metalogical*
अवचेतन	Subconscious
अचेतन	Unconscious
अशुभ	Evil
असत्	Unreal
अभिप्रेरक	Motive
अतिमानव	Superhuman
अतिवाद	Extremism
अपवाद	Exception
अनुमान	Inference
अवस्तु	*Non-entity*
अभ्युपगम	Postulate
अर्थक्रियावाद	Pragmatism

हिन्दी	अंग्रेजी
अनुक्रिया	Response
अपवर्तन	Regression
अनुकम्पा	Grace
अमूर्त्त सम्प्रत्यय	Abstract concept
अमूर्त्त	Abstract
अनासक्ति	Detachment
अहम्	Ego
अन्त प्रेरण	Inspiration
अर्न्तदृष्टि	Insight
अन्तर्वस्तु	Content
आत्मनिष्ठता	Subjectivity
आत्मनिष्ठ विधि	Subjective method
आनुवंशिकता	Heredity
आदर्शवाद	Idealism
आचार संहिता	Moral code
आत्मा	Self
आध्यात्मिक	Spiritual
आदर्श	Ideal
आस्था	Faith
इन्द्रिय	Sense
ईश्वर	God
उपागम	Approach
उत्तरदायित्व	Responsibility
उचित	Right
उपाधि	Condition
ऊर्जा	Energy
कसौटी	Criterion
कठोरतावाद	Rigorism
कम्पन	Trembling
कारक	Factor

हिन्दी	अंग्रेजी
काल	Time
गुण	Merit
गेस्टाल्ट	Gestalt
घटना	Event
ज्ञान	Knowledge
चेतन	Conscious
जाति	Species
जुगुप्सा	Repugnance
तर्कवाक्य	Proposition
तर्कनापरक	Logical
तर्कीय प्रत्यक्षवाद	Logical Positivism
तथ्य	Fact
तथ्य निर्णय	Judgment of facts
तत्वमीमासा	Metaphysics
तर्कदोष	Fallacy
द्व द्वात्मक	Dilectic
दृढ विश्वास	Conviction
दृश्य जगत्	Phenomenal world
दिक्	Space
धर्म	Religion
धर्मशास्त्र	Theology
धर्मादेश	Commandment
नास्तिक	Atheist
नास्तिवाद	Nihilism
नैतिकता	Morality
नियति	Fate
निरपेक्ष	Absolute
निरुपाधिक	Unconditional
निलम्बन	Suspension
निरीश्वरवाद	Atheism

हिन्दी	अंग्रेजी
नियम	Rule
निग्रहवाद	Rigorism
निर्णय	Judgment
निष्कर्ष	Conclusion
नि श्रेयस	Highest good
नियतत्ववाद	Determinism
परिणाम	Consequence
परीक्षण	Test
परिभाषा	Definition
पाप	Sin
पूर्वग्रह	Prejudice
प्रयोग	Experiment
प्रेक्षण	Observation
प्रकृति	Nature
प्रक्षेपण	Projection
प्रकृतिवाद	Naturalism
प्रकृति की एकरूपता	Uniformity of Nature
प्रगति	Progress
प्रयोजन	Purpose
प्रेरण	Motive
प्रत्यक्ष	Perception
पूर्व-नियति	Predetermination
पूर्ववर्तिता	Precedence
प्रारब्ध	Destiny
भय	Fear
भग्नाशा	Despair
भाव	Feeling
भौतिकवाद	Materialism
भ्रम	Illusion
मनोविज्ञान	Psychology

हिन्दी	अंग्रेजी
मानवतावाद	Humanism
मूर्त्त	Concrete
मूर्त्त सम्प्रत्यय	Concrete concept
मूल प्रवृत्ति	Instinct
मूल्य	Value
मूल्य-निर्णय	Judgment of value
मोक्ष	Liberation
रहस्यवाद	Mysticism
रीति-रिवाज	Custom
व्यष्टिवाद	Individualism
व्याघात	Contradiction
व्यक्तित्व	Personality
वरण	Choice
वस्तुनिष्ठता	Objectivity
वस्तुनिष्ठ-विधि	Objective method
वदतोव्याघात	Self contradiction
वास्तविकता	Reality
विचारण	Thinking
विश्वास	Belief
वैयक्तिक	Personal
विभीषिका	Horror, Terror
विषय	Subject
विरोधाभासी	Paradoxical
शुभ	Good
सम्बन्धात्मक	Relational
सकल्प स्वातन्त्र्य	Freedom of will
सवेग	Emotion
सरक्षण	Conservation
सप्रत्यय	Concept
सप्रत्ययन	Conception

हिन्दी	अंग्रेजी
सम्भाव्यता	Possibility
स्पीशीज	Species
सशय	Doubt
सशयवाद	Scepticism
सत्	Real
सद्गुण	Virtue
सत्य	Truth
सापेक्ष	Relative
सापेक्षवाद	Relativism
सापेक्षता	Relativity
सामान्यीकरण	Generalization
सिद्धान्त	Doctrine